JEEVAN SAHITY 1957 G.K.V.

अगस्त, १९५७   अहिंसक नवरचना का मासिक

जीवन साहित्य

अंदर पढ़िए

सम्पादक

हरिभाऊ उपाध्याय

यशपाल जैन

मूल्य
वार्षिक ४)   एक प्रति ।=)

सस्ता साहित्य प्रकाशन

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली तथा बिहार राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों, कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

जीवन साहित्य

वर्ष १८] अगस्त, १९५७ [अंक ८

पुण्य का बंधन !

विनोबा

बहुत-से रचनात्मक कार्यकर्ता अपने रचनात्मक कार्यों की बात हमारे सामने रखते हैं और उसका महत्व समझाते हैं। पर वे सोचते नहीं कि यह शख्स तीस साल तक आखिर करता क्या था? कितने ही गांवों में जाकर हमने काम किया और सैकड़ों कार्यकर्ता तैयार किये! बरसों तक यह कार्य चला। लेकिन जहां भी यह काम हुआ वहां वह 'पार्शियल' (आंशिक) ही हुआ, पूरा नहीं हुआ। जिन पर प्रभाव पड़ा, वे खादी पहनने लगे, परंतु गांव का हर मनुष्य जैसे गांव का अनाज खाता है, वैसे हर कोई खादी पहने, यह नहीं बना। यह तो तब होगा जब या तो सरकार कानून बनाकर दूसरे कपड़ों पर रोक लगाये या गांव के लोग स्वयं ग्राम-संकल्प करके स्वयमेव उसको रोकें। हिंदुओं ने गोमांस छोड़ दिया है। सस्ता होने पर भी वे उसे नहीं खरीदेंगे। खादी के पीछे भी ऐसी ही ताकत पैदा होनी चाहिए! सरकार पैसा देने के लिए राजी है, परंतु मिल-कपड़ों पर पाबंदी लगाने के लिए राजी नहीं है। सरकार की तरफ से खादी को यह 'प्रोटेक्शन' (संरक्षण) नहीं, 'सबसीडी' (मदद) मिलती है। वह भी सज्जनों का आग्रह है और गांधीजी का कार्य है, इस वास्ते। वे कहते हैं कि खादी अपने पांव पर खड़ी हो। हमने उत्तर दिया था कि खादी जानवर नहीं है, जो अपने पांव पर खड़ी होगी। उसके पांव नहीं हैं। वह तो तुम्हारे पांव पर खड़ी होगी, तुम्हारे सिर पर, छाती पर बैठेगी, तुम्हारे शरीर पर वेष्टित होगी। तुम उसके पुत्र हो, वह तुम्हारी माता है। उसका तुम पर उपकार है। उसका फैलाव करना बच्चे के नाते तुम्हारा कर्तव्य ही है। पर यह तो हुई उनकी बात। हमको क्या करना चाहिए? हमको गांव-गांव में ग्राम-शक्ति निर्माण करनी चाहिए 'कांशसनेस' निर्माण करनी चाहिए, तब गांव यह तय करेगा कि हमारे गांव में खादी ही चलेगी। यह संकल्प ग्रामदान के द्वारा ही बन सकता है। आज एक भी पार्टी ऐसी नहीं, जो खादी को न चाहती हो। लेकिन यह खद्दर का वास्तविक प्रेम नहीं है। लोगों को मदद मिलती है, इसलिए वे यह काम करते हैं। पर जरूरत हो, तो डोल (सहायता) भी देने के लिए तैयार हो जायंगे। हम भी उनसे मदद लेकर पाश में फंसे हुए हैं। जब मैं यह देखता हूं तब तो मैं तोबा-तोबा कर लेता हूं। इसके लिए शंकराचार्य का मैं बार-बार स्मरण करता हूं। उन्होंने कहा है कि पाप में मनुष्य उतना नहीं फंसता, जितना पुण्य में फंसता है, क्योंकि पाप के खिलाफ नीति-शास्त्र है और पुण्य के खिलाफ कुछ नहीं है। अतः वे पुण्य की शृंखला से बंध गये होते हैं।

(परली, ८ जून १९५७)

भारत-सावित्री

वासुदेवशरण अग्रवाल

[प्रस्तुत रचना लेखक की 'भारत-सावित्री'[1] नामक पुस्तक की भूमिका है। इस पुस्तक में लेखक ने महाभारत का एक नया अध्ययन प्रस्तुत किया है। ग्रंथ तीन भागों में प्रकाशित हो रहा है। प्रथम भाग में, जो हाल ही में प्रकाशित हुआ है, 'विराट पर्व' तक की कथा आगई है। दूसरे में 'उद्योग पर्व' से 'स्त्री पर्व' अर्थात् युद्ध के अंत तक की कथा रहेगी। तीसरे में 'शांति पर्व' से लेकर महाभारत के अंत तक का अंश रहेगा। ग्रंथ बड़ा ही रोचक और विचार-सामग्री से परिपूर्ण है। अपने विषय की अभूतपूर्व कृति है।
—सम्पादक]

'भारत-सावित्री' नाम महाभारत के अंत में आया है। जैसे वेदों का सार गायत्री मंत्र या सावित्री है, वैसे ही संपूर्ण महाभारत का सार धर्म शब्द में है। भारत-युद्ध की कथा तो निमित्त मात्र है, इसके आधार पर महाभारत के मनीषी लेखक ने युद्ध-कथा को धर्म-संहिता के रूप में परिवर्तित कर दिया था। धर्म की नित्य महिमा को बताने के लिए ग्रंथ के अंत में यह श्लोक है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितास्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये नित्यो जीवो धातुरस्य त्वनित्यः॥
(स्वर्गा. ५।६३, उद्योग. ४०।११-१२)

अर्थात्—काम से, भय से, लोभ से, अथवा प्राणों के लिए भी धर्म को छोड़ना उचित नहीं। धर्म नित्य है, सुख और दुख क्षणिक हैं। जीव नित्य है और शरीर (धातु) अनित्य है। इस श्लोक की संज्ञा भारत-सावित्री है (स्वर्गा० ५।६४)। यही महाभारत का निचोड़ या उसका गायत्री मंत्र है। विश्व की प्रेरक शक्ति का नाम सविता है। महाभारत-ग्रंथ का जो धर्म-प्रधान उद्देश्य है, वही उसका सविता देवता है। उसकी प्रेरणात्मक भावना को इस अध्ययन में यथासंभव सुरक्षित रखा गया है। यही इस नाम का हेतु है।

वेदों में सृष्टि के अखंड विश्व-व्यापी नियमों को ऋत् कहा गया था। ऋत के अनुसार जीवन का व्यवहार मानव के लिए श्रेष्ठ मार्ग था। ऋत के विपरीत जो कर्म और विचार थे, उन्हें वरुण के पाश या बंधन समझा जाता था। वैदिक परिभाषाओं का आने वाले युग में विकास हुआ। उस समय जो शब्द सबके ऊपर तैर आया, वह धर्म था। धर्म शब्द भारतीय संस्कृति का सार्थक और समर्थ शब्द बन गया। महाभारतकार ने धर्म की एक नई व्याख्या रक्खी है, अर्थात् प्रजा और समाज को धारण करनेवाले नियमों का नाम धर्म है। जिस तत्व में धारण करने की शक्ति है, उसे ही धर्म कहते हैं—

धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः॥

जितना जीवन का विस्तार है, उतना ही व्यापक धर्म का क्षेत्र है। धर्म की इस नई व्याख्या के अनुसार धर्म जीवन का सक्रिय तत्व है, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की निजी स्थिति और लोक की स्थिति संभव बन रही है। धर्म, अर्थ, काम की संज्ञा त्रिवर्ग है। इस त्रिवर्ग में भी धर्म ही मुख्य है एवं राज्य का मूल भी धर्म ही है—

त्रिवर्गोऽयम् धर्ममूलं नरेन्द्र राज्य चेदं धर्ममूलं वदन्ति।
(वन. ४।४)

धर्म अथवा मोक्ष के विषय में भी जो कुछ मूल्यवान अंश महाभारत में है, उसपर प्रस्तुत अध्ययन में विशेष ध्यान दिया गया है।

ब्रह्मवाद और प्रज्ञावाद के सम्मिलन से जीवन के जिस कर्मपरायण एवं उत्थानशील मार्ग की उद्भावना प्राचीन भारत में की गई थी, उसका बहुत ही रोचक और सर्वोपयोगी वर्णन महाभारत में पाया जाता है। गृहस्थ जीवन का निराकरण करनेवाले श्रवणवाद, और कर्म का तिरस्कार करनेवाले नियतिवाद या भाग्यवाद का सक्षम उत्तर इस नए धर्म-प्रधान दर्शन का उद्देश्य था। भुक्ति-मुक्ति

---
[1] प्रकाशक : सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, मूल्य ३॥।)

अर्थात् त्रिवर्ग और मोक्ष इन दोनों के समन्वय का आग्रह उस धर्म की विशेषता है, जिसका प्रतिपादन महाभारत में हुआ है। महाभारत के तरंगित कथा-प्रवाह में जहां-जहां ये स्थल आये हैं—और उनकी संख्या पर्याप्त है—उनकी रोचनात्मक व्याख्या इस अध्ययन में इष्ट रही है।

साथ ही महाभारत में जो सांस्कृतिक सामग्री है, उसकी व्याख्या का पुट भी यहां मिलेगा, यद्यपि इस विषय में सब सामग्री को विस्तार के साथ लेना स्थानाभाव से संभव नहीं था।

पूना से महाभारत का जो संशोधित संस्करण प्रकाशित हुआ है, उस पाठ को आधार मानकर यह विवेचन किया गया है। जहां संभव था, वहां यह सूचित करने का भी प्रयत्न किया गया है कि महाभारत के पाठ-विकास की परंपरा में कौन-सा अंश मौलिक और कौन-सा मूल के उपबृंहण का परिणाम था। इसमें दो विशेषताओं की ओर ध्यान दिलाया जा सकता है। एक तो, जहां किसी प्रकरण या आख्यान के अंत में फलश्रुति का उल्लेख हुआ है, वह अंश उपबृंहण का फल माना गया है। दूसरे जहां किसी कथांश को एक बार संक्षेप में कहकर पुनः उसीको विस्तार से सुनाने या कहने की प्रार्थना की गई है, वह अंश भी प्रायः उपबृंहण या पाठ-विस्तार का ही परिणाम था। प्रायः जनमेजय पूछते हैं: "भगवन्, मैं इसे अब विस्तार से सुनना चाहता हूं।" (विस्तरेणैतदिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज, सभा, ४६।३)। और उत्तर में वैशम्पायन कहते हैं—"हे भारत, अब इसी कथा को मैं विस्तार से सुनाता हूं।" (शृणु मे विस्तरेणेमां कथां भरतसत्तम। भूय एव महाराज यदि ते श्रवणे मतिः ।।, सभा. ४६।५)। विस्तार से फिर सुनाने की बात जहां है, वहां स्पष्ट ही वह पुनरुक्ति है, जैसाकि इसीके आगे सभापर्व के ४६, ४७ और ४८ अध्यायों की भौगोलिक और सांस्कृतिक सामग्री को देखने से प्रकट होता है। इसी प्रकार सभापर्व के २३वें अध्याय में चारों दिशाओं की विजय संक्षेप में सुनने के बाद जनमेजय ने पूछा—"हे ब्रह्मन्! अब दिशाओं की विजय विस्तार से कहिये, क्योंकि पूर्वजों का महान् चरित्र सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती।" (दिशामभिजयं ब्रह्मन्विस्तरेणानु कीर्तय। न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ।। सभा. २३।११)। फलस्वरूप इसके बाद के सात अध्यायों में दिग्विजय का विस्तृत वर्णन है।

महाभारत की पाठ-परंपरा में इसके कई संस्करण संभावित ज्ञात होते हैं। उनमें से एक शुंगकाल में और दूसरा गुप्तकाल में संपन्न हुआ जान पड़ता है। इनमें भी पिछले संस्करण में पंचरात्र भागवतों ने बहुत-सी नई सामग्री अपने अभिनव दृष्टिकोण के अनुसार यथास्थान सन्निविष्ट कर दी थी। उसकी ओर भी प्रस्तुत अध्ययन में ध्यान दिलाया गया है। जीवन और धर्म के विषय में भागवतों का जो समन्वयात्मक शालीन दृष्टिकोण था, उससे महाभारत के कथा-प्रसंगों में नई शक्ति और सरसता भर गई है। भागवतों का विशेष आग्रह धर्म के उस स्वरूप पर था, जिससे समाज की प्रतिष्ठा और गृहस्थाश्रम की महिमा प्रख्यात होती है। प्रायः भागवत दर्शन प्राचीन प्रज्ञावाद और ब्रह्मवाद का ही नूतन संस्करण था।

महाभारत के कथा-प्रवाह का सबसे रोचक अंश उसके देवतुल्य पात्रों का चरित्र-चित्रण है। वे पात्र महान् और अभिभावी होते हुए भी मानवीय हैं। वे मानव के धरातल पर कहते, सुनते, करते और सोचते हैं, यद्यपि सत्य की शक्ति और जीवन की अप्रतिहत अभिव्यक्ति की दृष्टि से उनके कर्म और विचार अतिमानवी-से लगते हैं। इसमें संदेह नहीं कि उनके चरित्र की जो उदात्त भावनाएं हैं, या जो दुर्बलताएं हैं, उनको बिल्कुल खरे रूप में महाभारत के लेखक ने कहा है। इनमें धृतराष्ट्र का चरित्र या द्रौपदी का चरित्र कितना मानवीय है, यह पाठकों को मूल के शब्दों से ही ज्ञात होगा। ऐसे अंशों को यथासंभव अविकल रूप में उतार लेने का प्रयत्न किया गया है। भाषांतर में भी उनके गूंजते हुए स्वरों को सुना जा सकता है। धृतराष्ट्र को महाभारत में दिष्टवादी या भाग्यवादी दर्शन का माननेवाला कहा है। पुरुषार्थ और कर्म में उनकी आस्था न थी। जो है, वह निर्विघ्न वैसा ही बना रहे, यहींतक उनके विचार की दौड़ थी। फिर दुर्योधन का मोह उनके मन में ऐसा भरा था कि नए संकल्प पर पानी फेर देता था। पांडवों को वाराणावत भेजने का कुचक्र, जब दुर्योधन ने सामने रखा तो धृतराष्ट्र ने पहले तो कुछ पैंतरा बदला पर फिर स्पष्ट स्वीकार किया—"बात तो कुछ ऐसी ही

मेरे मन में है, पर खुलकर कह नहीं सकता।" (पृ. ९३)। ऐसे ही अर्जुन और सुभद्रा के विवाह का समाचार सुनकर पहले उन्होंने प्रसन्नता प्रकट की, पर दुर्योधन और कर्ण के चांपने पर कहा—"जैसा तुम कहते हो, सोचता तो मैं भी वही हूं, पर विदुर के सामने खुलकर अपनी बात कह नहीं सकता।" (पृ. १०६)। पांडवों के साथ द्यूत खेलने का प्रस्ताव चलने पर धृतराष्ट्र के सही विचारों ने एक बार उंछाला लिया, पर भाग्यवाद की गोली ने उन्हें सुला दिया और उन्होंने यही कहा—"ब्रह्मा ने जो रच दिया है, सारा जगत् वैसी ही चेष्टा में लगा हुआ है" (पृ. १५८)। जब युधिष्ठिर द्यूत में हारने लगे, तो धृतराष्ट्र प्रसन्न होकर बार-बार पूछते हैं—"क्या सचमुच जीत लिया ?" और वह अपनी मुद्रा छिपा न सके। (पृ. १६५)। यों तो महाभारत के लेखक ने युधिष्ठिर, दुर्योधन आदि के चरित्रों को भी बहुत ही तराशे हुए खरे शब्दों में ढाला है, पर धृतराष्ट्र के मनोभावों को व्यक्त करने के लिए जैसे चुटीले शब्द चुने गए हैं, वैसे औरों के लिए नहीं। पांडवों को दूसरी बार द्यूत क्रिया में लगाने का प्रस्ताव जब दुर्योधन ने किया, तब भी उसको वरजने के स्थान पर धृतराष्ट्र से यही कहते बना—"हां, हां, अभी पांडव रास्ते में होंगे, उन्हें जल्दी लौटा लाओ" (पृ. १७६)। विदुर का हितवचन भी धृतराष्ट्र के मन में उलटे विष उत्पन्न करता था, यहांतक कि एक बार तो विदुर को उन्होंने अपने यहां से निकाल ही दिया था—"मैं पांडवों के लिए अपने पुत्रों को कैसे छोड़ दूं ? मैं तो तुम्हारा आदर करता हूं, पर तुम मुझसे सदा टेढ़ी बातें ही करते हो। हे विदुर ! तुम्हारा जहां मन हो चले जाओ।" (पृ. १८०)। पर बूढ़े धृतराष्ट्र में भी सचाई की कोर थी, जिससे वह भी हमारी सहानुभूति के पात्र हैं। विदुर को भली-बुरी सुनाने के बाद वह स्वयं बेहोश होकर गिर जाते हैं और कहते हैं—"हाय ! मेरा भाई विदुर कहां गया ? उसे जल्दी लाओ।" चरित्र-चित्रण में लेखक ने बहुत ही सचाई से रंग भरा है। अवसर पड़ने पर शकुनि-जैसे कपटी के मुंह से भी कहलाया गया है—"पांडव सत्यवादी हैं। वे शर्तों का पालन करेंगे और धृतराष्ट्र के बुलाने पर भी तेरह वर्ष का बनवास पूरा किये बिना वे न लौटेंगे।"

कथा-प्रवाह में द्रौपदी का चरित्र बरबस अपनी ओर ध्यान खींचता है। उसकी वेदना शब्दों के बंधन में नहीं आती। जैसे सहसा किसीको काठ मार गया हो, वैसे उसके वचन कृष्ण के सामने प्रकट होते हैं—"पांडवों की पत्नी, कृष्ण की सखी, धृष्टद्युम्न की बहन सभा में लाई गई—कहो कृष्ण, यह क्या हुआ ? एक वस्त्र पहने हुई, स्त्री-धर्म से युक्त, मुझ दुखिया को राजसभा में लाये हुए देखकर धृतराष्ट्र के पापी पुत्र निष्ठुरता से हँसे—कहो कृष्ण, यह क्या हुआ ? क्या यह सत्य है कि मैं भीष्म और धृतराष्ट्र की पुत्रवधू हूं ?" (पृ. १८९)। वह वेदनाभरे शब्दों में कहती है—"मैं धर्म को भलाबुरा नहीं कहती, ईश्वर और ब्रह्मी का निरादर तो कैसे कर सकती हूं ? इतना ही समझो कि मैं दुखिया हूं। कुछ प्रलाप करती हूं।" (पृ. १९७)।

महाभारत की एक अन्य विशेषता की ओर भी ध्यान दिलाना आवश्यक है। उसमें कितनी ही प्राचीन भारतीय दिट्ठियों या दर्शनों का उल्लेख और उनके सिद्धांतों का भी विवेचन आगया है। भारतीय दर्शनों के इतिहास में पांच बड़े मोड़ पहचाने जा सकते हैं। पहला ऋग्वेद कालीन दर्शन था, जिसमें सदसद्वाद, रजोवाद, अम्भोवाद, अहोरात्रवाद, अमृतमृत्युवाद, व्योमवाद आदि दार्शनिक दृष्टिकोण थे, जिनका उल्लेख 'नासदीय सूक्त' में आया है। दूसरा युग उन दिट्ठियों का था, जो उपनिषद्-युग के अंत में और बुद्ध से कुछ पूर्व अस्तित्व में आगई थीं। इनका उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् में आया है, जैसे कालवाद, नियतिवाद, स्वाभाववाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, योनिवाद आदि। इन मतों का विवेचन 'दीर्घ निकाय' के 'ब्रह्मजाल-सुत्त' में आया है एवं जैनों के अर्द्ध-मागधी आगम के 'सूत्रकृतांग' एवं 'उत्तराध्ययन' में भी है। दार्शनिक विकास का तीसरा मोड़ मीमांसा, सांख्य, वेदांत, आदि षड्दर्शनों के रूप में देखा जाता है। विकास की चौथी सीढ़ी पंचरात्र, भागवत, पाशुपत, शैव आदि दर्शनों के रूप में अभिव्यक्त हुई। इसके बाद पांचवां मोड़ वह था, जिसमें अभिनव शांकर वेदांत, भक्ति आदि दर्शनों के पारस्परिक प्रभाव, सम्मिलिन और ऊहापोह आदि का विस्तार हुआ।

इनमें से दार्शनिक विकास की जो दूसरी कोटि है, वही मूल महाभारत की पृष्ठभूमि थी, यद्यपि षड्दर्शन नामक तीसरी कोटि और पाशुपत, पंचरात्र आदि चौथी कोटि का भी कालांतर में महाभारत में संनिवेश कर लिया गया। मंखलि गोसाल के नियतिवाद या भाग्यवाद और चार्वाक बृहस्पति के लोकायतवाद आदि दार्शनिक मतों का जैसा वर्णन महाभारत में आया है, वैसा बौद्ध और जैन-साहित्य में भी नहीं मिलता। यह सामग्री विशेष रूप से शांतिपर्व की व्याख्या में हमारे सामने आयगी, पर अन्य पर्वों में भी उसकी झांकी आती है, जैसे आरण्यकपर्व में द्रौपदी ने बृहस्पति के कहे हुए जिस नीति-शास्त्र को दुहराया है, वह लोकायत दर्शन ही था जो मूल में कर्मवादी था। प्रत्यक्ष जीवन को सुधारने के विषय में उनका आग्रह बहुत बढ़ा-चढ़ा था। जहां भाग्यवादी निर्वेद को मानते थे और कर्म के प्रति उदासीन थे, वहां महाभारत के इस प्रकरण से (आरण्यकपर्व, अ. ३३) ज्ञात होता है कि बृहस्पति के लोकायत दर्शन में अनिर्वेद, उत्थान, पुरुषार्थ और कर्म का बहुत महत्व था। लोकायतिक मत के अनुयायी यदृच्छावाद, दैववाद और स्वाभाववाद के दार्शनिक मतों में विश्वास न रखते थे (पृ. १९८-१९९)। इसी प्रकार आगे चलकर उद्योगपर्व में जो विदुर-नीति है, वह प्राज्ञवाद नामक प्राचीन दर्शन का ही मूल्यवान् संग्रह है जो किसी प्रकार तैरता हुआ आकर महाभारत में बचा रह गया है। अगले भाग में यथास्थान इसकी व्याख्या मिलेगी। महाभारत की दार्शनिक सामग्री में जो पूर्वापर की जमी हुई तहें हैं, उनके आर-पार देखने की आंख जब एक बार बन जाती है, तो यह सामग्री मानों स्वयं अपनी कथा कहने लगती है और उसके पंर्त खुलने लगते हैं। उपलब्ध स्थान की सीमा में अध्ययन का यह दृष्टिकोण भी यहां अपनाया गया है।

महाभारत ऐसा आकर-ग्रंथ है कि आद्यंत उसके विषय का विवेचन करने के लिए बहुत अधिक स्थान, समय और शक्ति की आवश्यकता है। वैदिक साहित्य और चरण साहित्य के भी कई प्रकरण महाभारत में सुरक्षित बच गये हैं, जैसे आरण्यकपर्व का अग्निवंश अध्याय है, जिसकी व्याख्या स्कंदजन्म की कथा के साथ कुछ विस्तार से यहां की गई है। वस्तुतः महाभारत को पांचवां वेद ही कहा गया है। जैसे समुद्र और हिमालय रत्नों की खान हैं वैसे ही महाभारत भी है। जितना स्थावर और जंगम जगत भारतीय दृष्टिकोण में आ सका था, वह महाभारत में इकट्ठा होगया है। इसके निर्माता भगवान द्वैपायन कृष्ण सत्यवादी और सर्वज्ञ थे, वे वैदिक यज्ञ-विधि और कर्मयोग के पारगामी थे, धर्म और ज्ञान के प्राचीन दर्शनों में सम्यक् निष्णात थे। सांख्य और योग में उनकी पूरी गति थी, अनेक तंत्र या शास्त्रों में उनका मन जागरूक था। ऐसे महाभाग व्यास की यह कृति सचमुच महान् और सुविहित है। इसका जितना भी दोहन किया जाय, प्रज्ञानुसार, उतने ही फल की उपलब्धि हो सकती है।

गीत

गंगाराम 'पथिक'

अभी तो बहुत काम करना पड़ेगा,
अभावों का हर घाव भरना पड़ेगा।
अभी तो सफ़र की शुरूआत समझो,
कदम लड़खड़ाये तो बस मात समझो।
अंधेरी निशा है अनजानी दिशा है,
हृदय की लगन ही अधर की तृषा है।
असंतोष अंतिम घड़ी तक लड़ेगा,
न चुप वह रहेगा न जीकर सड़ेगा !
गया वक्त जब स्वप्न लेते रहे हम,
भुलावों का गुण गान करते रहे हम।

जवानी प्रणय ही नहीं है प्रलय भी,
नई जिन्दगी के सृजन का समय भी।
थकेगा रुकेगा वही जो बढ़ेगा,
वही लक्ष्य की चोटियों तक चढ़ेगा।
उजड़ते चमन की बिलखती बहारो,
हवाओं के रुख से सुलगते नजारो !
मुसीबत के मारो, न हिम्मत को हारो,
उठो, अश्रु पोंछो, वतन के सहारो !
मुसीबत के ग़म को निगलना पड़ेगा,
पुनः आंधियों को मचलना पड़ेगा।

१८५७ में भारत की वीर नारी

श्रीमती सुभद्रा देवी

शौर्य, वीर्य, साहस और उत्सर्ग भारतीय नारी के कुछ अद्भुत स्वभाव-सिद्ध गुण हैं। उनका शानदार परिचय उसने १८५७ की राज्यक्रांति में भी दिया। भारतीय इतिहास का कोई भी काल ऐसा नहीं है जिसमें वह पुरुष की बराबरी में कंधे-से-कंधा मिलाकर खड़ी न हुई हो और उसने यथावत् अपने कर्तव्य का पालन न किया हो।

समझा यह जाता है कि मेरठ की भारतीय सेनाओं के सैनिकों ने क्रांति के लिए निश्चित किये गये, ३० मई १८५७ की मध्य रात्रि के समय का ध्यान न रखकर १० मई को ही दिल्ली की ओर कूच करके उसका शंख फूंक दिया। उनकी इस जल्दबाजी को उसके विफल होने का एक बड़ा कारण माना जाता है, लेकिन वे क्या करते? मेरठ की स्वाभिमानी महिलाओं ने उनपर ताने कसते और व्यंग्य करते हुए उनको जिस प्रकार लज्जित किया, उससे उनके धैर्य का बांध टूट गया और वे अपने आपको संयम में न रख सके। ६ मई १८५७ को मेरठ में नव्वे भारतीय घुड़सवारों को चर्बी वाले कारतूस दिये गए। उनमें से पच्चासी ने उनको मुंह से काटने से इंकार कर दिया। उनका कोर्ट-मार्शल किया गया और सबको आठ से दस वर्ष तक की सख्त कैद की सजा दे दी गई। ९ मई के सवेरे एक बड़ी परेड हुई। उसमें अंग्रेज-सेना को तोप-खाने पर कोई दुर्घटना न होने देने के लिए तैनात किया गया था और भारतीय सैनिकों को एक सबक सिखाने के लिए बुलाया गया। उन पच्चासी सैनिकों की वर्दियां उतरवा ली गई, हथकड़ियां पहना दी गईं और जेल में भेज दिया गया। भारतीय सैनिक खून का घूंट पीकर रह गए। उसी दिन शाम को जब वे शहर में गए तब स्थान-स्थान पर महिलाओं ने यह कहकर उनको लज्जित किया—"छि: ! धिक्कार है तुम्हारे जीने को कि तुम्हारे भाई तो जेलखाने में पड़े हैं और तुम यहां मक्खिया मारते फिर रहे हो।" महिलाओं द्वारा इस प्रकार लज्जित किए जाने पर जो आत्मग्लानि सैनिकों में पैदा हुई, उसका परिणाम यह हुआ कि रात को बैरकों में गुप्त सभाएं की गईं। दूसरे दिन सवेरे दिल्ली की ओर कूच करने का निश्चय कर लिया गया और १८५७ की राज्य-क्रांति का शंखनाद होगया।

मेरठ के क्रांतिकारी सैनिकों के लाल किले में प्रवेश करने पर सम्राट बहादुरशाह अवाक् रह गये; क्योंकि उनको बीस दिन पहले क्रांति के शुरू होने की कोई कल्पना तक न थी। वैसे भी उनका खजाना खाली करके और नजरबंद करके उनको सर्वथा असहाय बना दिया गया था। वह अंग्रेजों के कैदियों का-सा जीवन बिता रहे थे। उन्होंने फिर भी उनका साथ दिया और विश्वासघात के कारण उनको हुमायूं के मकबरे पर गिरफ्तार कर लिया गया। लाल किले में कैद रखकर उनपर मुकदमा चलाया गया और माण्डले में कैद कर दिया गया। इस सारी मुसीबत में उनकी बहादुर बेगम जीनतमहल छाया की तरह उनके साथ रही और उनको हिम्मत बंधाती रही।

दिल्ली के बाद १८५७ की राज्य-क्रांति का केंद्र अवध के नाते कानपुर और लखनऊ बने रहे। लखनऊ ने नौ मास तक क्रांति की पताका झुकने नहीं दी। कानपुर ने भी अंतिम दम तक युद्ध जारी रखा। बिठूर के कारण दिल्ली के बाद क्रांति का मुख्य केंद्र कानपुर था। वहां बिठूर में ही बाजीराव पेशवा के पुत्र नानासाहब और उनके अन्यतम साथी तांत्या टोपे ने उसके लिए पूर्ण तैयारी की थी।

जून के पहले सप्ताह में कानपुर के किले पर नाना साहब की क्रांतिकारी सेनाओं और अंग्रेजों की सेनाओं में जमकर लड़ाई हुई। ६ जून की लड़ाई के संबंध में लिखा गया है कि कानपुर की हिंदू और मुसलमान स्त्रियां उस दिन अपने घरों से लड़ाई के मैदान में जाकर गोला-बारूद इधर-उधर ले जाने, सैनिकों को भोजन पहुंचाने और ठीक अंग्रेजी किले की दीवार के नीचे तोपचियों को मदद देने का काम कर रही थीं। इन सब स्त्रियों में उस समय कानपुर की एक वेश्या अजीजन का नाम अत्यंत प्रसिद्ध है। एक इतिहास-लेखक लिखता है कि वह अजीजन

हथियार बांधे हुए घोड़े पर सवार बिजली की तरह शहर की गलियों और छावनी में दौड़ती-फिरती थी। कभी वह गलियों के अंदर थके हुए और घायल सिपाहियों को दूध, मिठाई बांटती और कभी अंग्रेजी किले की ठीक दीवार के नीचे लड़नेवालों के हौसले बढ़ाती थीं।

बीबीगढ़ में रखी गई १२५ अंग्रेज महिलाओं और अंग्रेज बालकों की निर्मम हत्या का जो किस्सा कहा जाता है उसके लिए भारतीय सैनिकों को उकसाने की जिम्मेदारी इसी अजीजन पर डाली जाती है। नानासाहब उनको अभयदान दे चुके थे और वे उनको अपने सैनिकों के पहरे में सुरक्षित रखना चाहते थे परंतु अंग्रेज सैनिकों के निर्मम अत्याचारों और निर्दय हत्याकांड से लोग इतने अधिक उत्तेजित हो चुके थे कि उस कांड के लिए केवल एक चिन-गारी काफी थी और वह अजीजन ने छोड़ दी।

बिठूर के पेशवाओं के महल को जब अग्नि की भेंट करने का अंग्रेजों ने निश्चय किया, तब उसमें केवल नानासाहब की अठारह वर्षीय कन्या नैनी उपस्थित थी। नानासाहब गंगा पार कर कहीं लुप्त हो चुके थे। उससे उनका पता पूछा गया। कुछ पता न मिलने पर उसको उस महल के साथ जिन्दा जला दिया गया। उसके धैर्य, और सौंदर्य की अनेक अंग्रेज लेखकों ने भी मुक्तकंठ से सराहना की है। पेशवा वंश की वह अंतिम ज्योति महाज्योति में विलीन होगई। नानासाहब पेशवा के संबंध में कोई निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं है। कुछ गाथाएं अवश्य प्रचलित हैं। अपनेको उनके पौत्र बतानेवाले श्री बाजीराव धाधुपंत नाना माधव खुरचूरी ने उनके अन्यतम साथी अजीमुल्ला खां की हस्तलिखित डायरी के अपने पास सुरक्षित होने का दावा किया है और उसके आधार पर यह बताया है कि उन्होंने वेश व नाम बदलकर अपना शेष जीवन जंगलों में इधर-उधर बिता दिया और १०२ वर्ष की आयु में १ फरवरी १९२६ को गोमती के तट पर नेमसार मिसरिख में उनका देहांत हुआ।

अवध के नवाब वाजिदअली शाह के चिनहट की लड़ाई के बाद नजरबंद कर दिये जाने से अवध की जनता ने उनके पुत्र बिरजिस कदर को गद्दी पर बिठा दिया और उसके नाबालिग होने से उसकी माता हज़रत महल को शासन का कार्य सौंप दिया। इतिहासकार रसल ने बेगम के संबंध में लिखा है कि उसमें बड़ी पराक्रमशीलता और योग्यता दिखाई देती है। बेगम ने हमारे विरुद्ध अनवरत युद्ध की घोषणा करदी है। इन रानियों और बेगमों की पराक्रमशीलता को देखकर मालूम होता है कि जनानखानों के भीतर रहकर भी ये बहुत अधिक क्रियात्मक मानसिक शक्ति अपने में पैदा कर लेती हैं। बेगम ने पहले सम्राट बहादुरशाह को स्वाधीनता का शुभ संदेश कुछ कीमती नज़रानों के साथ भेजा और बालकृष्ण-सिंह को अपना प्रधानमंत्री नियुक्त किया। सारे अवध में सुशासन कायम कर शांति और व्यवस्था सुरक्षित की गई। अवध की चप्पा-चप्पा भूमि पर स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी गई। अंत में तीन ओर से अत्यंत शक्ति-सम्पन्न विशाल अंग्रेज़ सेना और पूर्व से जंगबहादुर के सेनापतित्व में ९ हजार गुरखा सेना ने अवध पर आक्रमण कर लखनऊ की ओर कूच किया। यह फरवरी १८५८ का महीना था। रास्ते के सारे गांव बारूद से उजाड़ दिये गये और लोगों पर अत्यंत क्रूरतापूर्ण नृशंस अत्याचार किये गये। लखनऊ में भी बार-बार खून की नदियां बहाई गईं, कत्ले आम किया गया। बेग़म हज़रत महल ने इसपर भी दया और सहृदयता से काम लिया। इतिहास-लेखक चार्ल्स बाल ने लिखा है कि बेग़म ने अंग्रेज़ बालकों और स्त्रियों की रक्षा करके जो काम किया, वह स्त्री-जाति के मान को बढ़ानेवाला है। परंतु अंग्रेज़ सेना ने शाही जनानखानों को भी नहीं छोड़ा। उनको लूटा गया, अनेक स्त्रियां कत्ल की गईं और अनेक गिरफ्तार कर ली गईं।

अवध के भी गले में गुलामी का तौक डाल दिया गया परंतु उसकी आत्मा को कुचला नहीं जा सका, यह उस वक्तव्य से प्रगट है जो बेग़म हज़रत महल ने महारानी विक्टोरिया की घोषणा के उत्तर में अवध की प्रजा के नाम प्रकाशित किया था। उससे यह भी प्रगट है कि बेगम कूटनीतिक चालों को खूब समझती थी। उसमें कहा गया था—

"पहली नवंबर सन् १८५८ का एलान, जो हमारे

सामने आया है, बिल्कुल स्पष्ट है। अपनी रिआया को उससे होशियार करने के लिए यह ऐलान शाया किया जा रहा है। हमारी धर्मनिष्ठ प्रजा को इसपर विश्वास नहीं करना चाहिए कि कम्पनी का राज खत्म होकर रानी विक्टोरिया का राज शुरू हो रहा है; क्योंकि कम्पनी के कानून कम्पनी के अंग्रेज मुलाज़िम, कम्पनी का गवर्नर जनरल और कम्पनी की अदालतें आदि सब ज्यों-की-त्यों बनी रहेंगी। इस चाल को भी लोग समझ लें कि कम्पनी के वादे और अहदनामों को मंजूर किया जायगा। कम्पनी ने पहले भरतपुर के राजा को अपना बेटा बतलाया, फिर उसका इलाका ले लिया। लाहौर के राजा को वे लंदन ले गए और फिर उसे भारत लौटने न दिया। नवाब शम्सुदीन खां को सलाम करके भी फांसी पर लटका दिया। पेशवा को पूना से निकालकर बिठूर में कैद कर दिया। बनारस के राजा को आगरा में कैद कर दिया। बंगाल, बिहार और उड़ीसा के राजाओं का उन्होंने नाम निशान तक नहीं रहने दिया। हमसे हमारे कदीम इलाके फौजों को तनख्वाह देने के बहाने से ले लिये गए और यह कसम खाई कि अब कुछ और नहीं लेंगे। जबकि पहले के सब इंतजाम कबूल किए जायंगे तो इस नई हकूमत से भी क्या होगा? केवल यह कहकर कि हमारा व्यवहार ठीक नहीं और हमारी प्रजा हमसे असंतुष्ट है, सारे अहदनामे तोड़ दिये और हमसे करोड़ों रुपये और हमारा राज जबरन छीन लिया। कभी भी किसी राजा के लिए उसकी प्रजा ने अपने जान और माल को इस तरह कुरबान नहीं किया, जैसेकि हमारी प्रजा ने हमारे लिए किया है। यह भी कहा गया है कि मलका को अपना इलाका बढ़ाने की इच्छा नहीं है; परंतु वह देशी राज्यों को अपने राज्य में मिला लेने से बाज नहीं आई। उसमें यह भी लिखा है कि ईसाई धर्म सच्चा है। किसी भी मज़हबवालों के साथ ज्यादती नहीं की जायगी और सबके साथ समान न्याय किया जायगा; परंतु न्याय शासन का किसी धर्म के झूठे या सच्चे होने का क्या संबंध? सूअर खाना और शराब पीना, चरबी के कारतूस दांत से काटना और आटे और मिठाई में सूअर की चरबी मिलाना, सड़कें बनाने के बहाने मंदिरों और मसज़िदों को गिराना, गिरजा बनवाना, गलियों और कूचों में ईसाई मत का प्रचार करने के लिए पादरियों को भेजना; इन सब बातों के होते हुए लोग कैसे विश्वास कर सकते हैं कि उनके मज़हब में दखल न दिया जायगा? उस एलान में क्षमादान की जो बात लिखी गई है, उसकी असलियत को एक मूर्ख भी समझ सकता है और यह जान सकता है कि किसीको भी न छोड़ा जायगा। जिस शहर या गांव में भारतीय सेना ठहरी है उसके बाशिंदे बच नहीं सकते। आज तक किसीने नहीं देखा कि अंग्रेज़ ने कभी किसीका खून माफ किया हो। किसीको भी इस एलान के धोखे में नहीं आना चाहिए।"

झांसी की वीर रानी लक्ष्मीबाई का नाम तो १८५७ की क्रांति के साथ पर्यायवाची बन गया है। इतिहास-लेखक विण्सेण्ट स्मिथ ने स्वीकार किया है कि स्वाधीनता-संग्राम के नेताओं में वह सबसे अधिक योग्य थीं। एक दूसरा लेखक लिखता है कि उनका समस्त जीवन जितना पवित्र था उतना ही वीरोचित उनकी मृत्यु थी। संसार के इतिहास में ऐसा विरला उदाहरण कदाचित ही मिलेगा कि इतनी छोटी आयु में ऐसा निष्कलंक जीवन व्यतीत करते हुए किसी महिला ने इस अलौकिक वीरता तथा असाधारण युद्ध-कौशल के साथ स्वदेश की स्वाधीनता के लिए युद्ध के मैदान में प्राणों की बलि दी हो।

रानी लक्ष्मीबाई के शासन-कौशल, निष्कलंक चरित्र और धर्म-निष्ठा के संबंध में कुछ अधिक लिखने का यह प्रसंग नहीं है। सर ह्यूरोज एक बड़ी सेना के साथ महू से ६ जनवरी १८५८ को मध्य भारत की क्रांति को कुचलने के लिए निकला था। २३ मार्च को जब उसने झांसी पर चढ़ाई करदी तब रानी लक्ष्मीबाई ने सेनापतित्व अपने हाथों में सम्भाल लिया। प्रत्येक मोर्चा स्वयं तैयार करवाया और फसील पर तोपें लगवा दीं। सर ह्यूरोज ने लिखा है कि सैकड़ों स्त्रियां तोपखानों और मैगजीनों में आती-जाती और काम करती दिखाई दे रही थीं। २४ मार्च से आठ दिन तक घमासान युद्ध हुआ। दोनों ओर से तोपें आग बरसाती रहीं। रानी ने अटूट धैर्य, साहस और पराक्रम से काम लिया। वह हर चीज को स्वयं देखती थीं, आवश्यक निर्देश देती थीं और दीवार

तथा मोर्चे में जहां कमी देखतीं उसको मजबूत करतीं। रानी की इस उपस्थिति से सिपाहियों की हिम्मत बेहद बढ़ गई। वे बराबर लड़ते रहे। हरेक सैनिक और तोपची के पास पहुंचकर उसकी वीरता के लिए उसको पुरस्कार देती रहीं। तात्या टोपे को कालपी पत्र भेजकर सहायता के लिए बुलाया गया। वह भारी सेना लेकर आ पहुंचा और १ अप्रैल को उसने सर ह्यूरोज की सेना पर आक्रमण कर दिया। परंतु उसकी सेना टिक न सकी। दूसरी ओर किसी विश्वासघाती ने किले का भेद दे दिया। ३ अप्रैल को भयंकर मुकाबला हुआ। रानी अपने घोड़े पर सवार सिपाहियों और अफसरों के हौसले बढ़ाती हुई, उनमें जेवर और खिल्लत बांटती हुई, बिजली की तरह इधर-से-उधर आ-जा रही थी। भेद पाकर जब उत्तर, दक्षिण से अंग्रेज सेना किले में घुस गई, तब रानी का दिल टूट गया। उसने बारूदखाने में आग लगाकर घर-फूंक नीति को अपनाना चाहा। परंतु वैसा न किया और रात को हथियार बांधे मरदाना वेश में अपने दत्तक पुत्र को कमर से कसे हुए वह किले की दीवार पर से एक हाथी पर कूद पड़ी और अपने प्यारे सफेद घोड़े पर सवार हो कालपी की ओर १०-१५ सैनिकों के साथ निकल गई। १०० मील का रास्ता तय कर दूसरी रात कालपी पहुंच गई। रास्ते में पीछा करनेवाले अंग्रेज सिपाही वोकर के साथ मुठभेड़ होगई और उसको तलवार के एक ही वार में घायल कर घोड़े से नीचे गिरा दिया। २४ मई को कालपी में भी सर ह्यूरोज और रानी में जमकर भयानक लड़ाई हुई। जून में क्रांतिकारियों ने ग्वालियर पर कब्जा कर लिया।

ग्वालियर की घटनाओं के विस्तार में न जाकर इतना लिखना पर्याप्त है कि १६ जून को सर ह्यूरोज़ ग्वालियर पर भी आ टूटा। १७ और १८ जून को घमासान लड़ाई हुई। किले के पूर्वीय फाटक पर रानी अपनी सहेलियों मंदरा और काशी के साथ घोड़ों पर तैनात थी। लक्ष्मीबाई सुबह से शाम तक घोड़े पर सवार बिजली की तरह इधर-से-उधर जाती हुई दीखती रही। जनरल स्मिथ को कई बार मुंह की खानी पड़ी। रानी ने कई बार किले के बाहर आकर उसको पीछे खदेड़ा। १८ जून को स्मिथ और ह्यूरोज़ ने मिलकर रानी पर आक्रमण किया। उसने अपूर्व वीरता के साथ उनका सामना किया। अंत में वह चारों ओर से अंग्रेज़ सेना से घिर गई। फिर भी वह अपनी दोनों सहेलियों और १५-२० सैनिकों के साथ शत्रु का सामना करती रही और शत्रु-सेना को चीरती हुई बाहर निकल गई। एक नाले पर जाकर उसका घोड़ा अटक गया। यहां पीछा करनेवाले अंग्रेज घुड़सवारों ने उसको घेर लिया। वह अकेली ही अपनी तलवार से उन सबका सामना करती रही। एक अंग्रेज सैनिक ने पीछे की ओर से उसके सिर पर तलवार का वार किया। सिर का दाहिना भाग अलग होगया और दाहिनी आंख भी बाहर निकल आई। दूसरा वार छाती पर किया गया। सिर और छाती से खून का फव्वारा निकलते हुए भी वीर रानी ने छाती पर वार करनेवाले को अपनी तलवार के घाट उतार दिया। उनका वफादार नौकर रामचंदराव देशमुख उस समय उनके पास था और उसने उनकी इच्छा अनुसार अंतिम संस्कार कर दिया। इस प्रकार वह वीर रानी वीरगति को प्राप्त हुई।

यहां ग्वालियर पर क्रांतिकारियों के अधिकार के संबंध में दो शब्द लिखने आवश्यक हैं। ग्वालियर महाराज ने उनका साथ न देकर उनके विरुद्ध चढ़ाई कर दी थी। तब महारानी लक्ष्मीबाई के प्रत्याक्रमण के कारण सिंधिया महाराज को आगरा की ओर अंग्रेज़ों की शरण में भाग जाना पड़ा था। महारानी लक्ष्मीबाई का यह आग्रह था कि और सब काम छोड़कर सेना को तुरंत सन्नद्ध कर मैदान में आगे बढ़ाया जाय। उनकी सलाह की अवहेलना की गई। अमूल्य समय दावतों और उत्सवों में नष्ट कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि ग्वालियर हाथ से निकल गया। इतिहास-लेखक मालेसन का मत यह था कि "यदि मध्य भारत में विप्लवकारियों को ख़ासी सफलता मिल गई तो संभव है कि दक्षिण के लोग फिर से पेशवा की उस सत्ता के लिए खड़े हो जायं, जिसके लिए उनके पूर्वज युद्ध कर चुके थे और अपना रक्त बहा चुके थे।" आश्चर्य नहीं कि यदि रानी की बात मान ली जाती तो ऐसा ही हुआ होता।

(शेष पृष्ठ २९७ पर)

दक्षिण के वैष्णव संत

अवधनंदन

अति प्राचीन काल से भारतवर्ष में शैव और वैष्णव धर्मों की प्रधानता रही है। कहा जाता है कि जिस तरह दक्षिण में शैव धर्म का उदय हुआ उसी तरह उत्तर भारत में वैष्णव धर्म का आविर्भाव हुआ और आर्य ब्राह्मणों के साथ वैष्णव धर्म भी दक्षिण में आया। यों तो ईसा की दूसरी शताब्दी में भी तमिल कवि कपिलर ने अपनी रचनाओं में तिरुमाल के नाम से विष्णु का उल्लेख किया है, पर सन् ५०० के बाद ही यहां विष्णु-भक्ति की धारा स्पष्ट रूप से बहती हुई दिखाई पड़ती है। इसी धारा ने आगे चलकर वैष्णव-संप्रदाय का रूप धारण किया।

ईसा की छठी और सातवीं शताब्दी में दक्षिण में बहुत बड़ा धार्मिक उथल-पुथल हुआ। उस समय देश में जैन और बौद्ध धर्मों का प्राबल्य था। समस्त देश में इन धर्मावलंबियों के विहार और मंदिर बने हुए थे। छठी-सातवीं शताब्दियों में अनेक शिव और विष्णु-भक्त उत्पन्न हुए, जिन्होंने मिल कर उक्त दोनों धर्मों का विरोध किया और शिव और विष्णु-भक्ति का जबरदस्त प्रचार आरंभ किया। उस समय देश की विचित्र अवस्था थी। धर्म-परिवर्तन सुलभ होगया था। एक ही घर में पति बौद्ध था तो स्त्री शैव या वैष्णव धर्म का अनुसरण करती थी या पति वैष्णव होता था तो स्त्री शिव की उपासना करती थी। प्रसिद्ध शिव भक्त तिरुनावुक्करसु पहले जैन थे पर उनकी बहन तिलकवती शैव थी। राजा सिंहविष्णु वैष्णव था पर उसका लड़का महेंद्र वर्मा जैन था, जो बाद में कट्टर शैव होगया।

दक्षिण में वैष्णव धर्म का प्रचार वैष्णव समयाचार्यों ने आरंभ किया जिन्हें आलवार कहते हैं। ये आलवार वैष्णव साधु और भक्त होते थे। आलवार शब्द का अर्थ है ज्ञानी। वैष्णवों का विश्वास है कि विष्णु भगवान् के अस्त्र-शस्त्र, आभूषण तथा गहनों ने लोक-कल्याण के लिए इन आलवारों के रूप में अवतार लिया था। ये विभिन्न समय में दक्षिण के तोण्डमान, चोल, चेर और पांडिय राज्यों में उत्पन्न हुए। ये लोग भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में घूम-घूमकर भगवान् विष्णु की प्रशंसा में पद गाया करते थे। उनका उद्देश्य भगवान विष्णु तथा उनके अवतार राम और कृष्ण की भक्ति का प्रचार करना तथा बौद्ध एवं जैन धर्मों का विरोध करना होता था, जिन्हें शैव और वैष्णव दोनों अपना शत्रु मानते थे। इन आलवारों ने भिन्न भिन्न स्थलों पर विष्णु के अनेक मंदिर बनवाये। उन्होंने धर्म को कर्म-कांडियों के चंगुल से निकालकर उसे भक्ति-प्रधान बनाया और सर्वसाधारण के लिए उसका द्वार खोल दिया। उन्होंने सर्वसाधारण के हृदय तक पहुंचने के लिए अपने पद जनता की भाषा (तमिल) में गाये। इन आलवारों की रचनाएं प्राचीन तमिल साहित्य का एक प्रधान अंग हैं।

श्रीरंगम और तिरुपति (बालाजी) के प्रसिद्ध मंदिर आलवारों द्वारा ही स्थापित किये गये थे। पौराणिक युग में वैष्णव और शैव भक्तों के प्रभाव में आकर पल्लव, चोल, और पांडिय राजाओं ने भी विष्णु और शिव के अनेक मंदिर बनवाये।

आलवार बारह हैं। उनके नाम हें : पोयगै आलवार, भूतत्तालवार, पेयालवार, तिरुमलिशै आलवार, नम्मालवार, मधुरकवि आलवार, कुलशेखर आलवार, पेरिय आलवार, तिरुपान आलवार, तिरुमंगै आलवार, तोंडर-डिपोडि आलवार और आण्डाल।

वैष्णव आलवारों में ब्राह्मण, अब्राह्मण, पानर (अछूत) आदि सभी जातियों के लोग थे। उन्होंने भगवत-भक्ति के सामने जाति-पांति का कोई भेद नहीं माना। वे 'हरि को भजै सो हरि का होई' सिद्धांत के मानने वाले थे। उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए संस्कृत का त्याग कर जणवाणी 'तमिल' को अपनाया और अपनी भक्तिपूर्ण पदावली उसी भाषा में प्रस्तुत की।

आलवारों की जीवनी के संबंध में ऐतिहासिक मसाला बहुत कम मिलता है। वैष्णव भक्तों द्वारा रचित आलवारों के चरित्र अनेक तरह के लौकिक घटनाओं और कथाओं से पूर्ण है। जिस तरह हिंदी में "चौरासी वैष्णवों की वार्ता" नामक ग्रंथ है उसी तरह दक्षिण के वैष्णव-संतों

की जीवनियां 'गुरु-परंपरा' नामक ग्रंथ में संग्रहीत है। इस ग्रंथ में भक्तों की जीवनियां बहुत बढ़ा-चढ़ाकर लिखी गई हैं। उनसे उनके आविर्भाव काल का भी पता ठीक से नहीं चलता।

गुरु-परंपरा के अनुसार जब भगवान् विष्णु ने देखा कि लोगों में पाप और अनाचार बहुत बढ़ गये हैं तब पथभ्रष्ट जनता को मार्ग दिखाने के लिए अपने आयुधों को नर रूप धारण कर पृथ्वी पर आने और जन-कल्याण का कार्य करने का आदेश दिया। उनकी आज्ञा पाकर उनके भिन्न-भिन्न आयुधों और वाहनों ने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों, भिन्न-भिन्न समयों एवं भिन्न-भिन्न जातियों में अवतार लिया।

पोयगै आलवार भगवान् विष्णु के शंख के अवतार माने जाते हैं। उनका जन्म गुरु-परंपरा के अनुसार कांचीपुरम में, द्वापर युग में, ई. सन् पूर्व ४२०२ में हुआ था। पोयगै आलवार के जन्म के दूसरे दिन भूतत्तालवार का जन्म हुआ था। ये कडनमलै (वर्तमान महाबलिपुरम्) में उत्पन्न हुए थे और भगवान विष्णु की गदा के अवतार थे। इसी प्रकार पोयगै आलवार के जन्म के तीसरे दिन मैलै (वर्तमान मैलापुरम) में पेआलवार का जन्म हुआ था। ये नंदक (विष्णु के खंग) के अवतार थे। ये तीनों ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे और जन्म से ही योगी थे। इतिहास के अनुसार इनका काल ईसा की आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में माना जाता है। ये तीनों समकालीन थे।

इनके संबंध में एक अत्यंत रोचक कथा है कि एक अंधकारमय रात्रि में, भीषण वर्षा और तूफान से रक्षा पाने के लिए, तिरुकोवलूर के मंदिर में एक छोटे-से कमरे में पोयगै आलवार विश्राम ले रहे थे। इसी समय भूतत्तालवार भी वहां आ पहुंचे। कमरे में दोनों के लेटने के लिए पर्याप्त स्थान नहीं था अतएव दोनों ने बैठकर रात्रि बिताने का निश्चय किया। थोड़ी देर के बाद कमरे के द्वार पर फिर किसीके धक्का देने का शब्द सुनाई दिया। वर्षा से रक्षा पाने के लिए पेय आलवार भी उसी कमरे में आ पहुंचे। पर तीन व्यक्तियों के बैठने के लिए वह कोठरी काफी नहीं थी। अतएव तीनों ने खड़े रहकर रात बिताने की ठानी। थोड़ी देर में उस अंधकारपूर्ण कमरे में एक चौथे व्यक्ति के आने का आभास हुआ। तुरंत सारा कमरा प्रकाशमय होगया और उन्हें भगवान् विष्णु के दिव्य दर्शन हुए। उस दर्शन से तृप्त होकर तीनों आलवारों ने भगवान् विष्णु की प्रशंसा में सौ-सौ पद्य गाये जो तमिल 'दिव्य प्रबंध' का प्रारंभिक भाग है।

इसी प्रकार तिरुमलिशै आलवार भगवान् के चक्र के, नम्मालवार भगवान् के विश्वकसेन के, कुलशेखर भगवान् के कौस्तुभ मणि के, पेरिय आलवार भगवान् के वाहन गरुड़ के, तोंडरडिपोडि भगवान् की वनमाला के एवं तिरुमंगै आलवार भगवान् के सारंग के अवतार माने जाते हैं।

आलवार लोग भगवान् विष्णु के क्षेत्रों की यात्रा करते और उनकी प्रशंसा में सुंदर पद्य रचकर गाते थे। इन पद्यों का संग्रह श्री नादमुनि ने ईसा की दसवीं शताब्दी में किया। इस संग्रह में चार हजार पद हैं जो 'दिव्य प्रबंध' या 'नालाइर प्रबंधम' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वैष्णव लोगों में इस ग्रंथ का बड़ा आदर है। वे इनको वेदों के समान मानते हैं और विष्णु के मंदिरों में भक्ति और स्वर से इनका पाठ करते हैं। वैष्णव मतावलंबियों के बीच इन प्रबंधों को वही ख्याति और मान्यता प्राप्त है जो शिव भक्तों के मध्य 'तेवारम' को है।

आलवारों का समय दसवीं सदी में समाप्त हो जाता है जिसके बाद आचार्यों का काल आरंभ होता है। आलवार और आचार्य का भेद निम्न प्रकार है : आलवार उन्हें कहते थे जो ज्ञानी होते थे और जिन्हें भगवान विष्णु का साक्षातकार प्राप्त था। आचार्य लोग आलवारों की अपेक्षा निम्न श्रेणी के महापुरुष थे, जिन्होंने आलवारों के तत्वों और सिद्धांतों का शास्त्रीय विवेचन तथा सर्वसाधारण में प्रचार किया था। वैष्णव आचार्यों में सर्वप्रथम आचार्य श्री नाथमुनि थे जिन्होंने आलवारों के वचनों का 'दिव्य प्रबंध' के रूप में संपादन किया था। नाथमुनि के बाद उनके पोते यामुनाचार्य आचार्य की गद्दी पर विराजमान हुए। ये आलवंदार के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म चोल मंडल में ई. सन् ९२० हुआ था। ये बचपन से ही बड़े प्रतिभाशाली थे और प्रकांड विद्वान हुए। उनके संबंध में एक छोटी-सी कथा है कि चोल राजा के दरबार में अक्कियांलवान नाम का एक दिग्गज पंडित

रहता था जो अपनी विद्वता के बल पर राज्य के समस्त पंडितों को परास्तकर उनसे कर वसूल किया करता था। उसने यामुन के गुरु से भी कर मांगा, पर गुरु की अनुपस्थिति में यामुन ने कर देने से साफ इनकार कर दिया। इसपर पंडित को बड़ा क्रोध आया और उसने यामुन को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। बालक यामुनाचार्य ने भरी सभा में उसे परास्त कर अक्षय कीर्ति पाई। बालक की विद्वत्ता से चोल रानी बहुत प्रसन्न हुई और उसे गोद में लेकर "आलवन्दार" कहकर संबोधित किया, जिसका अर्थ होता है 'आया है मेरी रक्षा के लिए'। यामुनाचार्य ने अनेक ग्रंथ रचे। इनके अधिकांश ग्रन्थ संस्कृत में रचे गये थे।

यामुनाचार्य के बाद आचार्य परंपरा में श्री रामानुजाचार्य आते हैं। वह इस आचार्य परंपरा के सबसे प्रसिद्ध एवं सर्वमान्य गुरु हैं। उन्होंने वेदों और उपनिषदों में वर्णित वैष्णव धर्म और आलवारों द्वारा प्रचारित भक्ति-मार्ग का समन्वय कर विशिष्टाद्वैत संप्रदाय की प्रतिष्ठा की।

श्री रामानुज का जन्म कांचीपुरम के पास 'श्रीपेरुम्बुदूर' नामक गांव में ई. सन् १०१८ में हुआ था। इनके पिता का नाम केशव पेरुमाल और माता का नाम 'भूमिपिराट्टियार' था (जिसका अर्थ होता है 'पृथ्वी माता')। श्री रामानुज शिक्षा पाने के हेतु कांचीपुरम पहुंचे और वहां श्री यादवप्रकाश नामक एक पंडित के पास वेदांत का अध्ययन करते रहे। रामानुज बचपन से ही बड़े प्रतिभाशाली थे। पढ़ाते समय अक्सर ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या के संबंध में गुरु-शिष्य में मतभेद हो जाता था। आगे चलकर यह मतभेद यहांतक बढ़ा गया कि यादवप्रकाश रामानुज से घृणा करने लगे और काशी-यात्रा करने के बहाने रामानुज को काशी लेजाकर वहां गंगा में डुबो देने का निश्चय किया। परंतु यात्रा के समय यादवप्रकाश के दूसरे शिष्य के द्वारा यह समाचार पाकर रामानुज चुपके से कान्चीपुरम लौट आये।

रामानुज की प्रतिभा का यह यश दक्षिण में श्रीरंगम् तक पहुंचा जहां आचार्य नाथमुनि रहते थे। उन्होंने अपने एक शिष्य को रामानुज को श्रीरंगम् ले आने के लिए भेजा। उधर रामानुज भी आचार्य नाथमुनि की प्रशंसा सुन चुके थे और उनके दर्शन करने के इच्छुक थे। आचार्य नाथमुनि के शिष्य के साथ वे श्रीरंगम् आ पहुंचे। पर उनके श्रीरंगम् पहुंचने के कुछ ही क्षण पूर्व नाथमुनि का देहावसान हो चुका था।

यह कथा प्रसिद्ध है कि नाथमुनि का देहावसान होने के बाद भी उनके दायें हाथ की तीन उंगलियां मुड़ी हुई थीं। यह अवस्था देखकर उनके शिष्य बहुत परेशान हुए। किंतु रामानुज ने इसका भेद ताड़ लिया। आचार्य नाथमुनि की तीन इच्छाएं अपूर्ण रह गई थीं। वह गीता, ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों पर भाष्य लिखना चाहते थे जिन्हें वह पूरा नहीं कर पाये। रामानुज ने उसी समय आचार्य की अपूर्ण इच्छाओं को पूरा करने की प्रतिज्ञा की और तत्काल नाथमुनि की उंगलियां सीधी होगईं।

रामानुज ने अपनी प्रतिज्ञा को पूरा किया और गीता भाष्य, ब्रह्मसूत्र-भाष्य और उपनिषदों के भाष्य लिखे।

रामानुज के सन्यास ग्रहण करने के संबंध में एक रोचक कथा है। कुछ काल तक रामानुज नाथमुनि के शिष्य पेरिनंबि के साथ रहकर उन्हींके पास अध्ययन करते रहे। किंतु दुर्भाग्यवश इन दोनों की पत्नियों में झगड़ा होगया जिससे असंतुष्ट होकर पेरियनंबि कांचीपुरम् छोड़कर श्रीरंगम चले गये। अपनी स्त्री के उग्र स्वभाव और तुच्छ बुद्धि से दुखित होकर रामानुज ने उसे मायके भेज दिया और यह देखकर कि पारिवारिक जीवन में रहकर अध्ययन करना और अपने जीवन का उद्देश्य प्राप्त करना संभव नहीं था, उन्होंने गृहस्थ जीवन का त्यागकर संन्यास ले लिया। "गुरु परंपरा" में इस घटना का बड़ा सुन्दर और रोचक वर्णन किया गया है।

पीछे चलकर रामानुज का प्रभाव इतना बढ़ा कि उनके पूर्व आचार्य श्री यादवप्रकाश ने वैष्णव-धर्म ग्रहण कर लिया और उनके शिष्य बन गये।

कुछ काल के पश्चात रामानुज कांचीपुरम् छोड़कर श्रीरंगम् चले आये। उन्होंने श्रीरंगनाथ के मंदिर का प्रबंध अपने हाथ में ले लिया और मंदिर की व्यवस्था, पूजा आदि में अनेक सुधार किये। यहांपर उन्होंने अनेक शैव विद्वानों को शास्त्रार्थ में परास्त किया और उन्हें वैष्णव-धर्म में सम्मिलित किया। इनमें से उस काल के प्रसिद्ध अद्वैतवादी पंडित ज्ञानमूर्ति भी थे जिन्होंने वैष्णव-धर्म

ग्रहण किया था।

उसके बाद रामानुज ने भारत के १०८ क्षेत्रों की यात्रा प्रारंभ की और यात्रा करते हुए वह काश्मीर पहुंचे जहां उनका बहुत आदर-सत्कार हुआ। वहींपर उन्हें ब्रह्म सूत्र पर महर्षि वोधायन वृत्ति की प्रतिलिपि प्राप्त हुई, जिसके आधार पर उन्होंने अपना प्रसिद्ध श्रीभाष्य लिखा।

रामानुज के समय में शिव और विष्णु के भक्तों में भी विरोध उत्पन्न होगया था। कथा है कि गंगैकोण्ड चोलपुरम् का चोल राजा कट्टर शिवभक्त और वैष्णव द्रोही था। वह अपनी प्रजा को जबरदस्ती शैव बनाता और जो उसकी आज्ञा नहीं मानता उसपर अनेक प्रकार से अत्याचार करता था। उसने रामानुज को भी अपने दरबार में बुलाया किंतु अपने भक्तों का आग्रह मानकर वह चोल राजा के दरबार में न जाकर श्रीरंगम् छोड़ कर कुछ काल के लिए तोण्डनूर (मेलकोट) चले गये और कई वर्ष तक वहीं रहे। वहां उन्होंने होयसला राजा वित्ति देव को वैष्णव संप्रदाय में शामिल किया जो पहले जैन-मतावलंवी था। राजा की सहायता से उन्होंने मेलकोट में श्रीनारायण का मंदिर भी बनाया और आस-पास के कई जैन-मंदिरों में श्री नारायण की मूर्त्ति स्थापित कराईं। तिरुपति (बालाजी) में भी उन्होंने विष्णु-मंदिर की स्थापना की।

"तिरुक्कुगो पिरान पिल्लाई" रामानुजाचार्य के ममेरे भाई थे और उनके प्रधान शिष्यों में से थे। आचार्य ने इन्हें तमिल दिव्य प्रबंध तथा श्री भाष्य पढ़ाने का कार्य सौंपा था। पहले पहल इन्होंने ही दिव्य प्रबंध और नम्मालवार विरचित "तिरुवायमोलि" की व्याख्याएँ लिखी थीं। इनकी शिष्य परंपरा में तीसरे व्यक्ति थे "वेदान्त देशिकर" जिन्होंने विशिष्टाद्वैत मत के प्रचार के लिए बड़ा काम किया। उन्होंने तमिल और संस्कृत में शताधिक ग्रंथों का निर्माण किया। ये विशिष्टाद्वैत मत के "बडकलै" संप्रदाय के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। ये ई. १४वीं सदी के उत्तरार्द्ध में रहते थे। इसी समय (ई. १३७१) दूसरे एक आचार्य "मनवाल मामुनि" का भी जन्म हुआ। मनवाल मामुनि ने वैष्णव धर्म को एक नई दिशा में प्रवर्त्तित किया और "तेनगलै" संप्रदाय को जन्म दिया। इसी समय दक्षिण के वैष्णवों में से "वडकलै" तथा "तेनकलै" इन दो संप्रदायों का प्रचार चला आता है।

इन दोनों संप्रदायों के लोग रामानुज को प्रधान आचार्य मानते हैं और उनके प्रतिपादित मौलिक सिद्धांतों को स्वीकार करते हैं। दोनों भक्ति और प्रपत्ति को मोक्षोपाय मानते हैं। दोनों संप्रदायों में वैष्णव धर्म की दीक्षा देते समय "पंच संस्कार" का कार्य किया जाता है; गुरु शिष्य को दीक्षा देने के पहले उसकी दोनों भुजाओं पर तप्त मुद्राओं—आग में तपाये हुए शंख और चक्र के चिन्हों को, —अंकित करता है। बादमें अष्टाक्षर मंत्र और द्वय मंत्र का उपदेश देता है। शिष्य को भगवान का दास माना जाता है तथा तभीसे शिष्य को ऊर्ध्व-पुंड धारण करने एवं देवार्चन करने का अधिकार मिलता है। इन सभी आचार-विचारों में समानता रखते हुए भी कुछ विषयों में दोनों संप्रदायों के मध्य विभिन्नता होगई। जैसाकि इनके नाम से ही प्रकट होता है, "वडगलै" उत्तर भाग में तथा "तेनगलै" दक्षिण भाग में निकला था। "वडगलै" संप्रदायवाले "तमिल दिव्यप्रबंध" को वेदतुल्य मानते हुए भी संस्कृत की ओर अधिक झुकाव रखते हैं। "तेनगलै" संप्रदाय "तमिल दिव्यप्रबंध" को ही अपना सर्वस्व मानता है। इसमें "वडगलै" संप्रदाय के जैसे वर्णाश्रम और कर्म-काण्ड पर उतनी श्रद्धा नहीं रखी जाती; भक्ति तो वास्तव में कर्मकाण्ड बंधनों से परे है। "तेनगलै" वाले अपने ललाट पर जो पुंडर या तिलक लगाते हैं, उसका "पादपीठ" भी होता है, "वडगलै" के अनुयायी पादहीन पुंडर लगाते। ऐसे ही कुछ अन्य छोटे-मोटे वाह्याचारों में विभेद दिखाई पड़ता है।

सबसे मुख्य भेद तो "प्रपत्ति" के संबंध में है। "प्रपत्ति" का अर्थ है "श्रीमन्नारायण की शरण में पहुंचना"। जो व्यक्ति भक्ति-योग की साधना करने में असमर्थ है वह भी इस प्रपत्ति मार्ग से मोक्ष प्राप्त कर सकता है—यह वैष्णवों का मन्तव्य है। गीता का श्लोक :

"सर्वधर्मान् परित्यजय् मामेकं शरणं व्रज।
अहंत्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि भारत।"

इसी मार्ग को प्रतिपादित करता है। "वडगलै" वाले मानते हैं कि पूर्वोक्त पंच-संस्कार पाकर वैष्णव-धर्म में

दीक्षित होने पर भी "प्रपत्ति" का एक अलग संस्कार पाना आवश्यक है। उसके लिए आवश्यक मानसिक परिपक्वता तथा संसार से निर्वेद पाया हुआ व्यक्ति गुरु के आश्रम में जाता है और 'प्रपत्ति' की शिक्षा देने की प्रार्थना करता है। गुरु उसे प्रपत्ति का मार्ग बताकर भगवान की शरण में पहुंचा देता है। "तेनगलै" संप्रदाय वाले पंच-संस्कार के अतिरिक्त अन्य संस्कार को अनापेक्षित समझते हैं। इन दोनों संप्रदायों के बीच में आगे चलकर बड़ा विरोध होगया जो अबतक वर्तमान है।

जनता को बौद्ध और जैन-धर्मों से शैव-धर्म की ओर आकृष्ट करने में शैव संतों ने लोकभाषा तमिल को अपनाया था और अपने प्रचार में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की थी। वैष्णव संतों ने भी उनका अनुकरण करके अपनी भक्तिपूर्ण रचनाओं का जनता में प्रचार करने के लिए तमिल का ही आश्रय लिया और वे उसमें सफल हुए।

वैष्णव-संप्रदाय में आचार्य परंपरा आरंभ होने से दक्षिण में संस्कृत भाषा और साहित्य को अधिक प्रोत्साहन मिला और इन आचार्यों ने अपनी रचनाओं में संस्कृत को ही स्थान दिया। इस काल में दक्षिण में संस्कृत-मिश्रित तमिल की एक शैली का प्रचार भी हुआ जिसमें कुछ ग्रंथ रचे गये। आज भी वैष्णव ब्राह्मणों की भाषा में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य देखने में आता है।

(अगले अंक में समाप्त)

●

'स्वराज्य'-सूर्य

हरिशंकर शर्मा

तोप-तरवारन की मारन कौ काम कहा,
सत्य औ' अहिंसा कौ प्रभाव दरसायो है।
रूखी राजनीति में मिलायो आतमा कौ रस,
समता, सुनीति, नेह-मेह बरसायो है ॥
परदेसी सासन को आसन उखारि फेंको,
सुखदा स्वतंत्रता कौ सूरज उगायो है।
देस कों जगायो, दासता को गढ़ ढायो,
जस गांधीजी कौ छायो, सो 'सुराजजुग' आयो है ॥

संत बिनोवा

गांधीजी की गैल अपनाई भाई रात-दिन,
सत्य औ' अहिंसा को सुमारग सुझायो है।
भारतीय भावना रमी है रोम-रोम माँहि,
सुचिता सरलता को दृस्य दरसायो है ॥
समता-सनेह की बहाई है धवल धारा,
मानवता मृदुता को स्रोत सरसायो है।
श्रद्धा, स्नेह भगति ते बानी बरदानी सुनो,
भूमि कौ भिखारी जे विनोबा संत आयो है ॥

●

असफलता के कारण [1]

श्रीनिवास बालाजी हार्डीकर

१८५७ का प्रथम स्वातंत्र्य-समर असफल रहा। इस लेख में हम इस संग्राम की असफलता के कारणों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे और यह भी देखने का प्रयत्न करेंगे कि उस समय देश में ऐसी कौन-सी शक्तियां थीं और इस संग्राम के स्वातंत्र्य-वीरों के संगठन में ऐसी कौन-सी निर्बलताएं थीं, जिनके परिणामस्वरूप देश को स्वतंत्र करने के इस महान प्रयत्न को असफलता प्राप्त हुई।

जहांतक क्रांति की योजन अथवा संगठन का संबंध है, वह संसार की किसी भी सफल क्रांति की योजना और संगठन से कम न थी। योजना, संगठन और प्रचार के तरीके से इसके नेताओं की बुद्धिमत्ता तथा कुशलता प्रकट होती है। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक, तथा बंगाल से लेकर गुजरात तक, कमल और चपातियों ने घूम-घूमकर प्रत्येक सैनिक, राजा-महाराजा, जमींदार, उच्च अधिकारी, पुलिस और जेल के अफसर, गांव के चौकीदार आदि सभी लोगों के पास क्रांति का संदेश पहुंचाया। सहस्त्रों साधु तथा फकीर-वेशधारी प्रचारक देश में फैलकर क्रांति के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करने में लगे हुए थे। इतनी देशव्यापी तैयारी जिस सावधानी से की गई, वह अत्यंत आश्चर्यजनक थी। इन तैयारियों का अंग्रेजों को पता न चला। पर केवल सुंदर और कुशल योजना ही संगठन की सफलता के लिए पर्याप्त नहीं होती। व्यवहार में भी इसके अक्षुण्ण बने रहने की आवश्यकता रहती हैं। यह योजना और संगठन अंत तक दृढ़ नहीं रह सका।

इस संग्राम के आधार देशी सैनिक ही थे। ये सैनिक भावी क्रांति के विचारों को योजनानुसार गुप्त न रख सके। उनके नेताओं ने उनको स्पष्ट रूप से आदेश दिया था कि ३१ मई तक वे बिल्कुल शांत बने रहें। अपने अधिकारियों को जरा भी संदेह न होने दें; पर सैनिक इन आदेशों का पालन न कर सके। इस संग्राम की योजना बनानेवालों ने देशभर में क्रांति के श्रीगणेश करने की तिथि ३१ मई निश्चित की थी। इस दिन सारे देश में एक साथ अंग्रेजों पर आक्रमण होनेवाला था। पर सिपाहियों ने इस योजना को सफल न होने दिया। निश्चित तिथि के २१ दिन पूर्व ही मेरठ के सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। परिणामस्वरूप देश भर में एक साथ क्रांति का आरंभ नहीं हुआ। इससे अंग्रेज भी सावधान हो गये।

अंग्रेजी सेना की एक बड़ी विशेषता थी, उसका जबर्दस्त अनुशासन। पर अंग्रेजी सेना के भारतीय सैनिक जब क्रांति में सम्मिलित हुए तब उन्होंने इस अनुशासन को पूरी तरह से तिलांजलि दे दी। विद्रोह करना, अधिकारियों की हत्या करना, सरकारी खजाने लूटना, जेल तोड़कर अपराधियों को मुक्त करना, शस्त्रास्त्र लेकर दिल्ली की ओर रवाना होना, यही सब उनके लिए क्रांति थी। प्रत्येक सिपाही अपनेको क्रांति का सरदार मानता था। अधिकारियों अथवा अपने नेताओं की आज्ञा मानना वे व्यर्थ समझते थे। परिणामस्वरूप क्रांति के नेताओं की अधिकांश शक्ति इन अनुशासनहीन सैनिकों को संभालने में ही जाती थी।

इस अनुशासनहीनता का प्रभाव उनकी कार्यक्षमता पर पड़े बिना कैसे रहता? क्रांति की सफलता के लिए साहस और पराक्रम उनमें नहीं रह गया था। कानपुर के मिट्टी के कच्चे घेरे तथा बालू के बोरों के पीछे छिपे मुट्ठी भर अंग्रेजों पर सहस्त्रों की संख्या में सिपाही, तोपें आदि होते हुए भी विजय प्राप्त करने में असफल रहे। इसी प्रकार लखनऊ की रेजीडेंसी में शरण लेने वाले थोड़े से अंग्रेज दस हजार विद्रोही सैनिकों के आक्रमण को दस मास तक चुनौती देते रहे। दिल्ली में भी एक लाख विद्रोही सैनिक, सभी युद्ध-सामग्री से सुसज्जित होने पर भी अंग्रेजों के आक्रमण से उसकी रक्षा न कर सके। ये सैनिक अभी तक अपने अंग्रेज अफसरों की आज्ञा का पालन करने के आदी थे पर जब उन्होंने स्वतंत्रतापूर्वक संग्राम आरंभ किया, तो उनमें साहस और आत्म-विश्वास की

---

१. सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा शीघ्र प्रकाशित होने वाली पुस्तक अठारह सौ सत्तावन से। इस पुस्तक में सन् १८५७ का ऐतिहासिक क्रांति का बड़ा ही विशद वर्णन दिया है।

कमी स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगी।

स्वातंत्र्य-संग्राम की सफलता के लिए जिस राष्ट्रीय ऐक्य की आवश्यकता रहती है, उसका १८५७ में अभाव ही था। जहां कुछ लोग सर पर कफन बांधे अपने देश को स्वतंत्र करने के लिए निकल पड़े थे, वहां कुछ लोग ऐसे भी थे जो इन धर्मवीरों के उद्देश्य को विफल करने में अंग्रेजों का साथ दे रहे थे। क्रांति के दमन का अधिकांश श्रेय, अंग्रेजों की बजाय हिंदुस्तानियों को ही है। सिखों और गुरखों ने इस युद्ध में अंग्रेजों की पूरी सहायता की। अंग्रेजों की फूट डालने की नीति इस समय खूब काम में आई। दिल्ली में बहादुरशाह के सम्राट घोषित होते ही अंग्रेजों ने सिखों से कहा—"तुम्हारे गुरुओं के साथ अन्याय करनेवालों से बदला लेने का समय आगया है।" अंग्रेजों ने उन्हें इस भविष्यवाणी का स्मरण दिलाया कि एक दिन सिख सरदार दिल्ली को लूटेंगे और कहा कि वह समय आ गया है।

इसी प्रकार अवध में जब अंग्रेजी सत्ता समाप्त की गई तो अंग्रेजों ने नैपाल के गुरखों को याद दिलाई कि अवध के नवाब ने नैपाल-युद्ध में अंग्रेजों की सहायता की थी, अतः अब वे अवध पर विजय प्राप्त करने में अंग्रेजों की सहायता कर पूरा-पूरा बदला चुका सकते हैं। गुरखे उनकी बातों में आगये और गुरखा-सेना अंग्रेजों की सहायता के लिए आ पहुंची।

इस युद्ध के प्रारंभिक काल में नेताओं की बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता और व्यवहार-कुशलता के कारण हिंदुओं और मुसलमानों में एकता दिखाई देती थी। परंतु कुछ ही महीनों बाद दबा हुआ यह मतभेद पुनः उभरने लगा। दिल्ली में हिंदुओं और मुसलमानों के मतभेद ने उग्र रूप धारण कर लिया। कई कट्टरपंथी मुसलमान हिंदुओं के साथ कार्य करने को तैयार न थे। गोहत्या के प्रश्न को सामने लाकर कई जेहादी मुसलमानों ने दिल्ली की हिंदू-मुस्लिम एकता को नष्ट कर डाला। बहादुरशाह ने इस एकता को बनाये रखने का पूरा प्रयत्न किया, पर उसे आंशिक सफलता ही प्राप्त हुई। अवध में भी इसी प्रश्न ने स्वातंत्र्य-सेना को निर्बल बनाया। कानपुर की प्रथम विजयके बाद ही कुछ मुसलमानों ने नानासाहब के विरुद्ध आंदोलन प्रारंभ किया। यहां तक कि उन्होंने नत्थी खां नामक व्यक्ति को कानपुर का नवाब घोषित करने की योजना बनाई थी।

दक्षिण की मुस्लिम-सेना ने, दिल्ली और अवध के मुस्लिम-राज्यों के विरुद्ध लड़ने से इन्कार कर दिया था। पर इस सेना ने प्रयाग, कानपुर, कालपी, ब्रह्मावर्त्त आदि भागों में जाकर स्वतंत्र्य-सेना को कुचलने में अंग्रेजों की पूरी सहायता की। अंग्रेजों ने इस भावना को उभाड़ते हुए दिल्ली तथा अवध के विरुद्ध सिखों और गुरखों का उपयोग किया। इस तरह अंग्रेजों ने अपनी भेद-नीति का पूरा-पूरा उपयोग किया।

इसी प्रकार इस देश के राजाओं ने अपने देशवासियों की सहायता करने के बजाय अंग्रेजों की सहायता कर, अपने देशवासियों को कुचलनेमें सहायक होना ही अपना धर्म माना। शिंदे, होल्कर जैसे मराठा राजाओं और इसी प्रकार राजपूत राजाओं ने भी अपने पूर्वजों की वीरता और देशप्रेम को भुलाकर मातृभूमि को दासता की श्रृंखला में जकड़े रहने में सहायक होना ही ठीक समझा। ये राजा-महाराजा साधन-संपन्न थे। पर ये साधन हिंदुस्तानियों को नहीं, अंग्रेजों को प्राप्त हुए।

संग्राम के नेताओं ने यह योजना बनाई थी कि सारे हिंदुस्तान में एक साथ क्रांति आरंभ हो। दक्षिण में संगठन का काम सतारा के रंगो बापूजी को सौंपा गया था। पर जहां उत्तरी भारत में क्रांति का शंखनाद हुआ, वहां विंध्याचल का दक्षिणी भाग प्रायः शांत ही बना रहा। वहां कोई विशेष महत्वपूर्ण घटना नहीं हुई। परिणामस्वरूप दक्षिण की अंग्रेजी सेना के उत्तर में आकर अशांति को दबाने में छूट मिल गई। योजनानुसार अगर उत्तर और दक्षिण भारत में एक साथ अशांति होती, तो अंग्रेजी सेना तितर-बितर रहती और वह कोई भी प्रभावपूर्ण कार्य न कर सकती। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। यही नहीं, बंबई और मद्रास की सेनाओं ने ही कानपुर, झांसी, ग्वालियर आदि स्थानों की अशांति को दबाया। अगर ये सेनायें दक्षिण ही में रहतीं, तो निस्संदेह अंग्रेजों के लिए नाना साहब, तांत्या टोपे और झांसी की रानी पर विजय प्राप्त करना कठिन होता।

असफलता का सबसे महत्वपूर्ण कारण यह था कि

इस महान क्रांति का ऐसा कोई सर्वमान्य नेता न था जो देश में एकसूत्रता स्थापित करता। यद्यपि मुगल सम्राट बहादुरशाह इस क्रांति का नेता घोषित किया गया था, तथापि वह अत्यंत वृद्ध, निर्बल तथा प्रभावहीन था। उसकी कोई नहीं सुनता था। इस प्रकार की विराट क्रांति के नेता में जो आवश्यक गुण होने चाहिए, उनका उसमें सर्वथा अभाव था। बहादुरशाह दिल्ली के ही मोर्चे में एकसूत्रता और कार्यों में सामंजस्य स्थापित करने में असफल रहा। दिल्ली की स्वातंत्र्य-सेना के नायकों का आपसी वैमनस्य और ईर्ष्या बहुत अधिक बढ़ गई थी और उनकी कार्य-क्षमता बहुत कम रह गई थी।

उस समय की भावना के अनुसार देश का सर्वमान्य नेता वही हो सकता था, जो राजवंश का हो। साधारण कुटुंब के व्यक्ति को सब लोग नेता नहीं मान सकते थे। साधारण कुटुंब का कोई व्यक्ति अगर अपनी प्रतिभा और पराक्रम से आगे बढ़ता तो लोग उससे ईर्ष्या करने लगते और उसको असफल बनाने की चेष्टा करते। दिल्ली में बख्तखां तथा लखनऊ में मौलवी अहमदशाह की असफलता के यही मुख्य कारण थे। इस संग्राम के प्रारंभिक काल में इसी कारण तांत्या टोपे को नेतृत्व प्राप्त नहीं हुआ। महारानी लक्ष्मीबाई, प्रतिभावान, पराक्रमी और वीर थीं, पर स्त्री होने के कारण वह भी क्रांति का नेतृत्व अपने हाथों में न ले सकीं। नानासाहब का नेतृत्व भी कानपुर तक ही सीमित रहा।

इस प्रकार इस संग्राम को कोई देशमान्य नायक नहीं मिला। १८५७ का स्वातंत्र्य-संग्राम हिंदुस्तान से ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकने में असफल हुआ। दासता की शृंखलाएं तोड़कर स्वतंत्र होने की राष्ट्र की महत्त्वाकांक्षा पूर्ण न हो सकी। स्वातंत्र्य-समर का यज्ञ-कुंड दो वर्ष तक धधकने के बाद कुछ ठंडा-सा पड़ने लगा। पर इसके बाद आने वाली प्रत्येक पीढ़ी ने इस परम पावन हुताशन को अपने बलिदानों से सदा प्रज्वलित रखा। देश को दासता से मुक्त करने के राष्ट्रीय संकल्प की जो मशाल १८५७ में प्रज्वलित की गई, वह कभी अधिक, तो कभी कम प्रखरता से सतत जलती रही। ठीक ९० वर्ष बाद प्रथम स्वातंत्र्य-संग्राम के सेनानियों का स्वप्न पूरा हुआ। हिंदुस्तान स्वतंत्र हो गया।

(पृष्ठ २८९ का शेष)

बिहार के जगदीशपुर राज्य के राजा कुंवरसिंह और उनके भाई अमरसिंह वीरता, स्वातन्त्र्य-प्रेम और देश भक्ति की जीवित प्रतिमा थे। उन्होंने निरंतर आठ मास तक आठ नौ अंग्रेजों सेनापतियों और अंग्रेज़-सेना के द्वारा अपना पीछा किये जाने पर भी अपनी राजधानी को अंग्रेज़ों से वापस ले लिया था। अक्टूबर १८५८ में उसपर सात दिशाओं से सात अंग्रेज़ी सेनाओं ने तीसरी बार फिर आक्रमण किया और उसपर दुबारा कब्ज़ा कर लिया। तब भी वहां की महिलाओं ने पराजय स्वीकार कर आत्म-समर्पण नहीं किया। कोई डेढ़ सौ महिलाओं ने तोपों के सामने खड़े होकर वीर राजपूत ललनाओं की तरह आत्म बलिदान कर दिया।

पटना में इतिहास-सम्मेलन में श्री एच. के. वरपुजारी ने जो लेख पढ़ा था उसमें उत्तर पूर्वी सीमा-क्षेत्र में इस क्रांति अथवा स्वतंत्रता-संग्राम के लिए की गई तैयारियों पर विशेष प्रकाश डाला गया था। उसमें उन्होंने बताया था कि खासी सरदारों ने उसके लिए विशेष तैयारी की थी। नागरवला के स्वर्गीय सरदार छत्रसिंह की वीर पत्नी ने वहां की पहाड़ियों से अंग्रेज़ों को निकालने में विशेष बहादुरी दिखाई थी।

भारतीय महिलाओं को सन् '५७ के स्वतंत्रता संग्राम की इन गौरवपूर्ण घटनाओं के प्रकाश में अपनी वर्तमान स्थिति का कुछ विवेचन अवश्य करना चाहिए। एक ही शताब्दी में वे अपने इस गौरव को भुलाकर घर-गृहस्थी की चहारदीवारी में अबला बनकर कैद क्यों हो गई? अंग्रेजी राज्य का अभिशाप मिट गया। हमारी यह कायरता भी मिटनी चाहिए और १८५७ के दिनों की वीरता का रुधिर हमारी नसों में एक बार फिर प्रवाहित होना चाहिए।

आदमी, गधा, कुत्ता और घुग्घू

पूर्णचंद्र जैन

बहुत पुराने युग की बात है। ईश्वर का दरबार लगा हुआ था। सब प्राणियों की उम्र कायम की जा रही थी। संयोग से आदमी, गधा, कुत्ता, और घुग्घू एक साथ पहुंचे। ईश्वर समान दृष्टि से देखनेवाले और समान बँटवारा करनेवाले जो ठहरे। कुछ इधर देखा न उधर। चारों प्राणियों की उम्र यानी जिंदगी ४०-४० वर्ष की कायम कर दी। आदमी को अचंभा हुआ। सबसे श्रेष्ठ प्राणी, और आयु गधे, कुत्ते वगैरह के बराबर। ईश्वर का दरबार था। समझदार होने के नाते आदमी ने उस समय बोलना ठीक नहीं समझा, चला आया और दिन गुजरने लगे।

लेकिन आदमी को चैन नहीं था। कुछ वर्ष गुजरे और आखिर में फरियाद करने ईश्वर के पास पहुंच ही गया। शिकायत यही कि आदमी-जैसे प्राणी की उम्र इतनी कम रखी गई। ईश्वर ने बात सुनी। गधे, कुत्ते और घुग्घू को भी बुला भेजा। उनसे भी पूछा कि उन्हें भी कुछ कहना है? आदमी की फरियाद भी सबको बताई। वैसे तीनों को अपनी उम्र के बारे में कोई शिकायत नहीं थी, लेकिन उन्होंने कहा कि उनकी उम्र कम करके आदमी की उम्र बढ़ाई जाय, तो उसमें भी उन्हें कोई एतराज नहीं होगा।

तब ईश्वर ने तीनों की उम्र में से २०-२० वर्ष लेकर आदमी की उम्र पूरी सौ वर्ष कर दी। आदमी, गधा, कुत्ता और घुग्घू सब वापस लौटे। आदमी खुश था, उम्र बड़ी पाकर। और गधा, कुत्ता, व घुग्घू को भी अफसोस नहीं था। शायद आदमी-जैसे प्राणी की मांग की पूर्ति पर उन्हें भी कुछ गर्व ही था।

तब से आदमी की हालत देखिए। चालीस वर्ष की जिंदगी तो जवानी, जोश और आनंद मौज में गुजार देता है। फिर बेटों-बेटियों, बहुओं, पोते-पोतियों और घरभर की चिंताओं का भार लिये जिंदगी गुजारनी पड़ती है। मानों गधे की जितनी उम्र मिली, उतने वर्ष की जिन्दगी भी वैसी ही बन गई।

और, साठ वर्ष पूरे होने के बाद की हालत देखिए। अधिक चलने-फिरने में अब वह लाचार है। घर बेटे-बहुओं, पोते-पोतियों से भर गया है। इसलिए खटिया चौपाल में दरवाजे के पास लगी है। वहीं से कभी उसपर हुक्म, कभी इसपर खीझ, तथा आने-जानेवालों से पूछ-ताछ चलती है। कुत्ते की उम्र जो मिली सो इस तरह चौकीदारी की जिंदगी बन गई है।

यह अस्सी पूरे हुए हैं। और आदमी बेचारा हर तरह से लाचार है। हाथ, पैर, नाक, कान सब अशक्त हैं। आंखें मुंदी-मुंदी, और खटिया पर गठरी बना वह बैठा है। यह घुग्घू की उम्र है जो आदमी ने पाई है।

आदमी ने अपनी समझदारी के जोश में ईश्वर के सामने फरियाद करके उम्र तो ले ली, लेकिन यह भूल गया कि किनकी उम्र उसे मिल रही है। फिर भुगतने पर शायद उसे गुस्सा होआया। इसीलिए गधे से उसपर खूब बोझा लाद-लादकर, वह बदला ले रहा है। कुत्तों में इने-गिनों को छोड़कर बाकी सबसे वह सख्त नाराज है। और घुग्घू की तो शक्ल देखना तक पसंद नहीं करता।

इस सबमें आदमी की समझदारी है या उसकी एहसान-फरामोशी की, और उसके लोभी मन व दिमाग को सजा देने की ईश्वर की तरकीब?

परिश्रम करना न लज्जा का काम है, न निन्दा का; हमें परिश्रम करना ही चाहिए। जो शिक्षा शारीरिक परिश्रम की उपेक्षा करती है, उसे मैं शिक्षा ही नहीं कहता।

किसी विशेष भाषा के साहित्य में पारंगत होकर यदि कोई मनुष्य किसी समाज में प्रवेश करे, तो वहां उसकी क्या कदर होगी? हाँ, किसी दस्तकारी का ज्ञान रखने वाले की कदर जरूर होगी। जिस मनुष्य की सहायता से समाज का कोई अभाव पूरा होता है, समाज उसी का आदर करता है। —बुकर टी० वाशिंगटन

राष्ट्रभाषा की उन्नति कैसे हो ?

अगरचन्द नाहटा

[सम्पादक का लेखक के सभी मंतव्यों से सहमत होना आवश्यक नहीं है। —संपादक]

भाषा मनुष्य के विचारों को व्यक्त करने का सबल माध्यम है। वैसे तो पशु पक्षी भी अपने भावों का व्यक्तिकरण संकेत, ध्वनि आदि के द्वारा ही करते हैं, पर उनके वे साधन बहुत ही सीमित हैं। मनुष्य ने भाषा को ही एक व्यवस्थित रूप दिया और साथ ही लिपि का भी आविष्कार किया। इसके कारण उसके भाव बहुत अधिक रूप में और व्यवस्थित रूप में प्रकाशित हो सके और लिपि के द्वारा उन भावों का स्थायित्व भी बहुत अच्छे रूप में हो सका। मनुष्य सब प्राणियों से अधिक विचारशील है, क्योंकि मन, बुद्धि और हृदय की शक्ति विकसित करने के उसे सबसे अधिक साधन प्राप्त हैं। उसके उर्वर मस्तिष्क से नये-नये विचारों का स्रोत बहा और उसने नये-नये आविष्कार भी करने प्रारंभ किये। ज्यों-ज्यों आवश्यकता बढ़ती गई, नित्य-नये आविष्कार होने लगे। इधर भाषा और लिपि के द्वारा विचार-विनिमय का माध्यम उसे अच्छा प्राप्त होगया, इसलिए विचारों में भी क्रांति, उथल-पुथल, गहराई बढ़ने लगी। शक्तियों के विकास की सीमा बढ़ती ही चली गई और उसीका सुफल आज ज्ञान, विज्ञान और आविष्कारों के विस्तार के रूप में देखते हैं। उनका एक अच्छी स्थिति में पहुंच जाने का अनुभव करते हैं, यद्यपि अभी भी आगे बढ़ने की और बहुत बड़ी गुंजाइश है।

भाषा और लिपि की एकता के द्वारा हमारे विचार विनिमय में और एक दूसरे के निकट आने में बहुत बड़ी सहायता मिलती है। यह दायरा जितना भी संकुचित होगा, उन्नति में उतना ही बाधक समझिए। जिस भाषा व लिपि को बोलने, लिखने व समझने वाले जितने ही कम होंगे, उन व्यक्तियों का विकास उस सीमित दायरे में ही हो सकेगा और ज्यों-ज्यों अधिकाधिक व्यक्ति उस भाषा को अपना लेंगे त्यों-त्यों बहुत नये-नये विचार और आविष्कारों का ज्ञान बढ़ता जायगा।

यद्यपि विशाल जन-समुदाय को देखते हुए सबकी भाषा व लिपि का एक होना संभव नहीं, फिर भी जो भाषा व लिपि जितने अधिक व्यक्तियों के विचारों और भावों तथा प्रवृत्तियों की जानकारी देने में समर्थ होगी, उसकी शक्ति उतनी ही कार्यकारी हो सकेगी। मनुष्य अलग-अलग प्रकार के क्षेत्रों में बसा हुआ है और वहां की प्राकृतिक विषमता का अंतर रहेगा ही, अतः उसकी आकृति, रंग-रूप, रहन-सहन, बुद्धि के विकास, शारीरिक शक्ति आदि का अंतर रहता ही है। इसी तरह धर्म, संप्रदाय, जाति आदि में भी मानव समुदाय छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त हैं। उन सबमें जो विचारों और रीति-रिवाजों आदि की सांस्कृतिक विषमता है, उसका असर भी वहां के व्यक्तियों पर पड़ता है। भाषा का क्षेत्र भी इसी तरह बंटा हुआ है। जब एक ही स्थान में रहनेवाले व्यक्तियों की बोली व लिखावट में कुछ न कुछ अंतर पाया जाता है तो उसका क्षेत्र ज्यों-ज्यों बढ़ता जायेगा, त्यों-त्यों वह अंतर और अधिक या स्थूल होता जायगा। उसीका व्यक्त रूप भिन्न-भिन्न प्रकार की बोलियां व लिपियां हैं।

भारत में बहुत सी बोलियां बोली जाती हैं, पर जिन सबमें सदृशता अधिक होती है, उनका एक ग्रुप (समूह) मान लिया जाता है। जिस प्रकार, हिंदी, राजस्थानी आदि भाषाओं में अनेक बोलियों का समावेश हो जाता है पर जो-जो बोली जिस-जिस भाषा के अधिक समीप होती है, वह उसी एक मुख्य भाषा की शाखा मान ली जाती है। फिर बोलचाल की भाषा की अपेक्षा लिखने की साहित्यिक भाषा में रूढ़ता, व्याकरण आदि के बंधन लग जाने से एकरूपता अधिक मिलेगी। भारत सदियों से राजनैतिक, प्राकृतिक कारणों से कई टुकड़ों में विभक्त रहा, जिन्हें हम प्रदेश या प्रांत कहते हैं और प्रत्येक प्रांत की अपनी-अपनी एक मुख्य भाषा है। उस भाषा के अनेक भेद बोलियों के रूप में किये जाते हैं। शासन आदि की सुविधा के लिए ये प्रांत अलग-अलग रूप में बँटे हुए हैं और उनका एकीकरण ही राष्ट्र है। जिस प्रकार समस्त प्रांतों को एक सूत्र

में संचालित करने के लिए राष्ट्रीय सरकार की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्रांतीय भाषाओं के द्वारा प्रांत का व्यवहार चल सकता था पर एक दूसरे या समस्त प्रांतों के साथ जब बोलने या लिखने के व्यवहार की आवश्यकता होती है, तो जिस भाषा या लिपि को समझनेवाले सबसे अधिक व्यक्ति होते हैं, उसीको मुख्य या राष्ट्रीय भाषा-मान लिया जाता है। विगत कई शताब्दियों से हिंदी का प्रचार अधिक व्यापक प्रदेश में हुआ और उस प्रभाव व शक्ति के कारण भारत की वह राष्ट्रभाषा घोषित की गई और इस महत्त्वपूर्ण पद के लिए यह योग्य भी है।

जब किसी भी देश की एक भाषा, राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत कर ली जाती है, तो सब प्रांतीय व्यक्तियों का यह कर्तव्य हो जाता है कि समस्त प्रकार के राष्ट्रीय व्यवहार के लिए उसीको अपनाया जाय। प्रांत का काम वहां की प्रांतीय भाषा में हो पर राष्ट्रीय स्तर के सभी काम राष्ट्रीय भाषा में ही किये जाने चाहिए। अंग्रेजी शासन के समय जो स्थान अंग्रेजी को प्राप्त था,वही राष्ट्रभाषा हिंदी को अब मिल जाना चाहिए। हां, यह अवश्य है कि दूसरे प्रांतों के लोग जहांतक हिंदी को सीख न लें, वहांतक कुछ छूट भी दी जा सकती है, इसीलिए हमारी राष्ट्रीय सरकार ने हिंदी के व्यापक प्रचार के लिए १५ वर्ष की अवधि रखी थी ताकि इसी बीच हिंदी के शब्द-सामर्थ्य और साहित्य में जो कमी है, उसकी पूर्ति करली जाय जिससे सभी क्षेत्रों और कामों में हिंदी को व्यवहृत करने में कोई असुविधा न हो। राष्ट्रीय कार्यों में प्रत्येक प्रांत के लोग सम्मिलित होते हैं, विविध प्रकार के व्यक्तियों का उपयोग वहां आवश्यक होता है, इसलिए वे भी हिंदी को पढ़-लिखकर व अभ्यास द्वारा अपने को उसका उपयोग करने के योग्य बनावें। इस अवधि के आधे वर्ष पूरे होने आये, पर अभी तक कई कारणों से जितनी प्रगति होनी चाहिए थी, न हो पाई। उस कमी को अब शीघ्र ही पूरा करना है और जितनी भी असुविधाएं हों, उनका भी हल निकालना है। अभी तक जो शिथिलता रही है, उसे दूर करना है।

राष्ट्रीय व्यवहार के लिए हिंदी में जो शब्दों की कमी थी, उसे दूर करने के लिए डा. रघुवीर आदि के द्वारा संस्कृतनिष्ठ नये शब्द स्थिर किये गये हैं। यद्यपि उनमें बहुत-से शब्द क्लिष्ट अधिक होने से जन-साधारण में उनका अपनाया जाना बहुत समय सापेक्ष है, फिर भी कोई न कोई उपाय या रास्ता तो करना ही पड़ेगा। उसमें जो असुविधाएं होंगी, उनका सुधार होता रहेगा।

किसी भी भाषा की प्रगति या उन्नति उसके शिक्षा के माध्यम बन जाने पर ही अधिक सरलता से हो सकती है। क्योंकि नई पीढ़ी का जो निर्माण हो रहा है, उसे जिस भाषा की शिक्षा मिलेगी, उसीमें लिखना, पढ़ना, बोलना, सुगमता से हो सकेगा। अतः शिक्षा-विभाग में जो स्थान अंग्रेजी का था, वही हिंदी को दिया जाना अति शीघ्र आवश्यक है। पाठ्यक्रम व उच्च शिक्षण के लिए उन विषयों के हिंदी ग्रंथों के अभाव को भी शीघ्र ही मिटाना चाहिए। इधर कुछ वर्षों से उच्च स्तर की, उच्च शिक्षा एवं पाठ्य-क्रम के योग्य पुस्तकें तैयार हुई हैं। पर अभी तक सब विश्व-विद्यालयों और कालेजों में उच्च शिक्षा हिंदी में दी जानी आरंभ नहीं हुई, अतः पाठ्य पुस्तकों की जो कमी हो, वह तुरंत पूरी हो जानी चाहिए ताकि पाठ्यक्रम की पुस्तकों के अभाव की शिकायत न रहे।

हिंदी भाषी प्रांतों के अतिरिक्त जिन प्रांतों में प्रांतीय बोलियां उन्नत हैं, वहां के लोगों में हिंदी की शिक्षा देने का काम जोरों से होना चाहिए। दक्षिण भारत में यद्यपि महात्मा गांधी के सतत प्रयत्न से हिंदी-प्रचार का कार्य आरंभ हुआ और लाखों व्यक्तियों ने हिंदी की परीक्षाएं दीं, फिर भी अभी तक बहुत कम लोग वहां हिन्दी सीख पाये हैं। गत दो वर्षों में मुझे दो बार दक्षिण भारत जाना पड़ा, तो मैंने अनुभव किया कि वहां के अधिकांश लोग अभी भी हिन्दी नहीं जानते।

मैं वहां के कई गांवों, नगरों में भी घूमा, पर थोड़े से नये शिक्षा प्राप्त लोगों के अतिरिक्त हिन्दी जानने वाले नहीं मिले। जहां कई करोड़ व्यक्ति बसते हों वहां कुछ लाख व्यक्तियों के ही हिंदी सीख लेने से समस्या का हल नहीं हो जाता। हर प्रांत में विद्यार्थियों के लिए राष्ट्रभाषा हिंदी सीखना अनिवार्य होना चाहिए। अपनी मातृभाषा की शिक्षा के साथ उनके लिए राष्ट्र-

भाषा की शिक्षा भी अनिवार्य हो। प्रौढ़ों एवं स्त्रियों में भी राष्ट्रभाषा की शिक्षा का कार्य जोरों से किया जाय। यद्यपि दक्षिण भारत की हिंदी प्रचार सभा कुछ काम कर रही है पर जितना अधिक उस काम का प्रचार हो रहा है, वास्तव में काम उतना नहीं हो रहा है। मैं इस सभा के कार्यालय में भी गया पर उस सभा के कार्यकर्त्ताओं में वैसी लगन नहीं दिखाई दी, जैसीकि कार्य के प्रारंभिक दिनों में थी। दक्षिण भारत की भाषाएं उत्तर भारत की भाषाओं से बहुत ही भिन्न हैं, इसलिए वहां के लोगों को हिंदी सीखने में काफी कठिनाई होती है पर जबतक उनमें हिंदी का प्रचार नहीं होगा, राष्ट्रीय एकता की भावना अधिक नहीं पनप सकेगी। यही बात अन्य अहिंदी प्रांतों के लिए समझें।

अंग्रेजी शासन में हिंदी प्रचार के लिए हमारे कार्यकर्त्ताओं में जो जोश दिखाई देता था, और हिंदी के विद्वानों ने अनेक कठिनाइयां होते हुए भी जिस सेवा और त्याग से हिंदी को प्रचारित किया, और बलवान बनाया, वैसी सेवा, त्याग, उत्साह और लगन अब हिन्दी वालों में नहीं दिखाई देती।

आज हिंदी प्रकाशनों का मूल्य इतना अधिक बढ़ गया है कि दूसरे प्रांतोंवालों को ही नहीं, हिंदीभाषी प्रदेशों में भी उन पुस्तकों को खरीदने का उत्साह दिखाई नहीं देता। ठीक है कि इधर शिक्षण संस्थाएं व पुस्तकालय आदि बहुत बढ़ गये हैं व बढ़ रहे हैं, इसलिए पुस्तकें कुछ खप जाती हैं, पर साधारण जनता व हिंदी के विद्वान भी कितनी पुस्तकों को खरीद करके पढ़ते हैं। इसके आंकड़े संग्रह करने पर हिंदी प्रकाशनों की खपत का सही ज्ञान होगा। पहले की अपेक्षा कागज, छपाई आदि का खर्च बढ़ गया है, पर मूल्य का अनुपात उससे भी अधिक बढ़ा है और अन्य प्रांतीय भाषाओं व प्रकाशनों की अपेक्षा भी हिंदी प्रकाशनों का मूल्य कम नहीं, अधिक ही है। वास्तव में प्रांतीय भाषाओं की पुस्तकों की खपत उस प्रांत तक ही सीमित होती है, तब हिंदी का प्रदेश तो यूं हीं अन्य प्रांतीय भाषाओं से बहुत विस्तृत है, फिर राष्ट्रभाषा होने के नाते अहिंदी भाषी प्रांतों में भी हिंदी-प्रकाशनों की खपत कुछ-न-कुछ होनी ही चाहिए अतः हिंदी पुस्तकों की एक साथ अधिक प्रतियों का मुद्रण हो तो खर्च कम पड़ेगा और मूल्य भी कम रखा जाना आवश्यक है। पर आज यह बात नहीं दिखाई देती। इसलिए जन साधारण हिंदी-प्रकाशन अधिक नहीं खरीद सकता। पुस्तकालयों के सीमित बजट में भी हिंदी पुस्तकों का दाम अधिक होने से थोड़ी-सी ही पुस्तकें खरीदी जा सकती हैं। यह भी राष्ट्रभाषा-प्रचार में एक बाधा है। उधर भारत-सरकार ने पोस्टेज बहुत अधिक बढ़ा दिया, इससे पुस्तकें और भी महंगी पड़ने लगी हैं। यदि राष्ट्रभाषा को सर्वत्र प्रचारित करना है तो प्रकाशनों का मूल्य कम रखा जाय।

अभी सरकारी दफ्तरों में जो अहिंदीभाषी प्रदेशों के उच्च पदस्थ व्यक्ति हैं, वे हिंदी नहीं जानते, इसलिए अंग्रेजी की तरफदारी यदा-कदा करते रहते हैं। उनके लिए भी हिंदी भाषा अमुक समय के भीतर ही सीख लेना अनिवार्य होना चाहिए। जहांतक वे हिंदी को नहीं अपनायंगे, और आफिस का कार्य अंग्रेजी में ही चलता रहेगा, वहांतक अंग्रेजी को हटाने की अवधि बढ़ती ही रहेगी।

राष्ट्रभाषा से प्रांतीय भाषाओं की प्रतिद्वंद्विता नहीं रहनी चाहिए। उनका अपना-अपना कार्य-क्षेत्र निश्चित कर दिया जाय। प्रांतीय भाषाओं के प्रति पूर्ण सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार हो। उन भाषाओं के उत्कृष्ट साहित्य का हिंदी में अनुवाद हो व हिंदी के अच्छे ग्रंथों का उन भाषाओं में। सभी भाषाओं के शब्द अपनाये जाएं। प्राकृत, संस्कृत एवं फारसी के अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों का अनुवाद अभी तक हिंदी में नहीं मिलता। इसी तरह जिनसे अंग्रेजी साहित्य का महत्त्व है, वैसे ग्रंथ हिंदी में भी हों। विदेशों में भी हिंदी भाषा व साहित्य प्रचारित हो।

राष्ट्रभाषा की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि जिन-जिन विषयों के संबंध में अभी अच्छी पुस्तकें निर्मित नहीं हो पाई, शीघ्र उनका निर्माण करने के लिए योग्य व्यक्तियों से अनुरोध किया जाय, जिससे कि वह कमी पूरी हो जाय। वैसे तो भारत-सरकार के शिक्षा-मंत्रालय द्वारा और उत्तर प्रदेश आदि में हिंदी पुस्तकों आदि पर बहुत

से पुरस्कार दिये जाते हैं, और लाखों करोड़ों रुपये अनाप-शनाप खर्च किये जाते हैं, फिर भी उच्च स्तर के तथा जिन विषयों के अच्छे हिंदी ग्रंथ नहीं हैं, वैसे साहित्य को तैयार कराने में अधिक प्रयत्न नहीं किया जाता। अच्छे स्तर की हिंदी पत्र-पत्रिकाएं भी घाटे में निकलती हैं और कुछ तो थोड़े समय निकलकर अर्थाभाव से बंद हो जाती हैं। ऐसे पत्रों के प्रकाशन में भी सरकार को कुछ मदद देनी चाहिए। सरकार की ओर से प्रकाशित निजी पत्रिकाओं के पीछे लाखों रुपये खर्च होते हैं, तो अन्य अच्छे पत्रों को योग्य मदद देकर दीर्घायु बनाना भी आवश्यक है। इधर अवंतिका जो पटना से मासिक रूप में निकलती थी, और उसका हिंदी-पत्रों में अच्छा स्थान बन गया था, घाटे में रहने से बंद हो गई। ऐसी पत्रिकाओं का, सत-साहित्य के निर्माण में, नये लेखकों को आगे बढ़ाने में बहुत बड़ा हाथ रहता है। सरकार की ओर से उनकी कुछ प्रतियां खरीदी जाकर जिन पुस्तकालयों को सरकार मदद देती है, उनमें भेज दिया जाय तो उनका घाटा पूर्ण हो जायगा। और सरकार जो मदद देती है उसमें अतिरिक्त खर्च नहीं करना पड़ेगा। कुछ उच्च स्तर के ग्रंथों के प्रकाशन की भी समस्या है, क्योंकि उनकी बिक्री कम होने से प्रकाशक लोग ऐसे ग्रंथों को प्रकाशित करने को तैयार नहीं होते। इससे भविष्य में ऐसे ग्रंथों का सृजन रुक जाता है, इस ओर भी ध्यान दिया जाय।

राष्ट्रभाषा की उन्नति के कई प्रधान साधन हो सकते हैं। एक तो हिंदी भाषा का शिक्षण अहिंदी प्रांतों में जोरों से हो और नीचे से उच्च स्तर की सभी प्रकार की शिक्षाओं के पाठ्यक्रमों में हिन्दी को उचित स्थान मिले। शिक्षा विभाग में जो सम्मान अंग्रेजी को प्राप्त था, वैसा ही हिंदी को प्राप्त हो जाय। इधर न्यायालयों में व अन्य सरकारी और सार्वजनिक संस्थाओं का पत्र-व्यवहार, रेकार्ड, फैसले आदि सभी काम हिंदी में ही हों। दूसरी ओर हिंदी साहित्य को पूर्ण समृद्ध और सर्वांगीण बनाया जाय और सस्ते मूल्य में प्रचारित किया जाय। हिंदी की परीक्षाओं को अंग्रेजी की परीक्षाओं के समान ही सरकारी नौकरियों आदि में स्थान मिले। प्रांतीय भाषाओं से हिंदी का महत्त्व अधिक रहे। राष्ट्र-ध्वज की भांति राष्ट्रभाषा को भी गौरव की दृष्टि से देख करके ही सम्मान दिया जाय।

गीत

विद्यावती मिश्र

अंधकारमय पथ पर चमको ओ मेरे ध्रुव तारा!
नीरवता है शून्य, हृदय में मौन, व्यथा जीवन में,
हाथों में संकेत, चरण में कंपन, अश्रु नयन में,
किंतु पथिक को एक ज्योति की रेखा बनी सहारा!
अंधकारमय पथ पर चमको ओ मेरे ध्रुव तारा!!
तुम्हीं लक्ष्य हो, तुम्हीं प्रेरणा, तुम्हीं अंत, तुम्हीं दीक्षा,
तुम विश्वास मधुर भावों के, सीमाहीन प्रतीक्षा,
तुम वह स्रोत कि जिससे बहती करुणा की कलधारा!
अंधकारमय पथ पर चमको ओ मेरे ध्रुव तारा!!
केवल मेरे लिए नहीं, तुम संसृति पथ पर बिखरो,
शाश्वत पुण्य प्रकाश प्रभा ले, प्रति कण-कण में निखरो,
दे मानव को शक्ति चिरंतन प्रिय अवलंब तुम्हारा!
अंधकारमय पथ पर चमको ओ मेरे ध्रुव तारा!!

१८५७ और अंतिम मुगल-सम्राट

बालमुकुंद मिश्र

पहले-पहल जब अंग्रेज यहां आये, उस समय भारत की बड़ी मुगलिया सल्तनत (सन् १७०० के आसपास) छिन्न-भिन्न हो रही थी। देखते-देखते बहुत तेजी से वह पतन की ओर बढ़ चली। देश में राजनीतिक अशांति की घटा उमड़ रही थी।

१७५७ ई० में प्लासी के मैदान में क्लाइव से सिराजुद्दौला हार गया। अंग्रेजों की बन आई। डलहौजी के शासन-काल में, जबर्दस्ती सितारा, नागपुर, झांसी, सम्बलपुर, जेतपुर, तंजौर, कर्नाटक, बरार तथा अवध को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। साथ ही ईस्ट इंडिया कम्पनी की राज्य-लिप्सा, लालच, और क्रूरता से भारतीय जन तिलमिला उठे थे। अंग्रेजों के खिलाफ भारतीयों के हृदय में अग्नि को भड़कते देर न लगी।

शहंशाह शाह आलम जिन दिनों अपनी रक्षा के लिए इधर-उधर मारा-मारा फिर रहा था, और मुगल, मरहठे, सिख, जाट आपसी युद्ध-विग्रह द्वारा अपनी शक्ति खो रहे थे—सन् १७५७ के बाद, देश की अराजकतापूर्ण अवस्था से लाभ उठाकर अंग्रेजों ने यहां अपने राज की जड़ जमा ली। पर देशवासी उनकी चाल-ढाल से नाराज थे। १८०६ में बेलोर में भारतीय सैनिकों ने देश से अंग्रेजी-सत्ता को मिटाने की चेष्टा की, पर बात कुछ बन न सकी।

१८५४ में फ्रांसीसी और अंग्रेज, क्रीमिया (सोवियत भूमि) में युद्ध कर रहे थे। भारत ने इस मौके से लाभ उठाना उचित समझा। १८५५ में महान् राष्ट्र पुजारी श्री नानासाहब, रंगोजी गुप्त तथा अजीमुल्ला ने सारे देश में अंग्रेजों से लड़ाई लड़ने के लिए निमंत्रण भिजवाए।

१८५७ की जनवरी में ही अंग्रेजों के खिलाफ भारत की तलवार म्यान से बाहर निकल आती लेकिन समय से पहले योजना प्रकट हो जाने की वजह से विफल होगई। बारकपुर (कलकत्ता) की १९ नम्बर पलटन के सिपाही पं० मंगल पांडेय ने (जो बलिया के वासी थे) तीन अंग्रेज अफसरों को मौत के घाट उतार दिया, जिसके फलस्वरूप अंग्रेजों ने तुरंत अपने अधीन देशी सैनिकों पर नियंत्रण पा लेने की असफल चेष्टा की।

मेरठ के सिपाहियों ने भी एक प्रकार से पं० मंगल पांडेय की राह अपनाई, जिनसे परेड के मैदान में ही हथियार छीन लिये गए और उन्हें बेड़ियां पहनाई गईं। अंग्रेजों के इस व्यवहार से मेरठ की हवा में रोष की लहर बह पड़ी। अन्ततोगत्वा १० मई १८५७ को मेरठ में आजादी का पहला विद्रोह उठ खड़ा हुआ।

मेरठ का विप्लवी दल ११ मई को दिल्ली पहुंचा। उन्होंने दिल्ली के लाल किले में सम्राट् बहादुर शाह "जफर" को अपना नेता घोषित किया। १६ मई को दिल्ली के लालकिले पर प्रथम भारतीय क्रांति का (मुगलिया सल्तनत का) हरा परचम फहराया गया। दिल्ली से अंग्रेजीशासन के चिन्हों को मिटा दिया गया।

कानपुर में नाना साहब की देखरेख में अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया गया।

झांसी की वीर महारानी लक्ष्मीबाई की तलवार भी अंग्रेजी कुटिलता के विरोध में लहरकर चमचमा उठी।

मध्य भारत के राष्ट्र-सैनिक तांत्या टोपे के संरक्षण में अंग्रेजों से अड़ गए।

रुहेलखंड में खां बहादुर खां अंग्रेजों के खिलाफ हुंकार उठे। उत्तर भारत का संभवतः ऐसा एक भी कोई प्रसिद्ध नगर बाकी न बचा था, जहां कि अंग्रेजी शासन और प्रभुता की समाप्ति के लिए लोगों ने काम न किया हो।

अवध तो लड़ाई का मुख्य केंद्र बना हुआ था।

इस तरह देश के स्वाधीनता प्रेमी अंग्रेजी राज्य को भारत से मिटाने के लिए अंग्रेजों से जमकर जूझे। इस विप्लव में दिल्ली, मेरठ, अलीगढ़, मैनपुरी, इटावा, नसीराबाद, बरेली, शाहजहांपुर, मुरादाबाद, बदायूं, फैजाबाद, जौनपुर, सुलतानपुर, आलमगढ़, गोरखपुर, प्रयाग, और झांसी आदि स्थानों को अंग्रेजों से मुक्त करवा लिया गया था।

सन् सत्तावन का युद्ध ऐसा था, जिसमें अंग्रेजी शासन को भारत से खदेड़ देने के लिए देश की विभिन्न शक्तियां मिलकर संगठित होगई थीं। यह युद्ध इतने विस्तृत क्षेत्र में लड़ा गया था कि जिसकी तुलना केवल सन् १९४२ की भारतीय अगस्त जन-क्रांति से ही की जा सकती है। सत्तावन का युद्ध भारतीय वीरता का अपूर्व संग्राम था।

लेकिन इस अपूर्व संग्राम में भारतीयों को मनचाही मुराद क्यों न मिली ? अंग्रेज क्यों जीत गये ? संक्षेप में कारण इस प्रकार थे।

(१) विप्लवकारियों के नियुक्त नेता बहादुरशाह की अस्पष्ट मानसिक स्थिति और उसका तेजरहित, प्रभावहीन, नाममात्र का नेतृत्व।

(२) सिख, गोरखों और कुछ भारतीय देशी राज-वंशों का भारतीय विप्लवियों से विरोधपूर्ण असहयोग।

(३) भारतीय उच्च-वर्ग के शासन-पदाधिकारियों के आपसी मतभेद, झगड़े और विप्लवकारियों की नेतृत्व-हीन विशृंखलता।

१८५७ की उग्र विप्लवमय क्रांति में से गुजरती हुई भारतीय राजनीति १९४७ में, यानी ९० साल बाद सफल हुई। भारतवर्ष में अंग्रेजी-साम्राज्य के खूनी पंजे टूट गये। हमारा देश पराधीनता से मुक्त हुआ। सत्तावन का साल भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास का एक ऐसा गौरवपूर्ण विशिष्ट अध्याय बन चुका है जिसकी स्मृति हमारे देशवासी कभी भी विस्मृत न करेंगे।

१८५७ के उन महान वीर योद्धाओं के प्रति भारत-राष्ट्र सदा अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता रहेगा।

१८५७ की जब स्मृति आती है, तो भारतीय साम्राज्य के तात्कालिक शाहों पर दृष्टि थम जाती है। मुगल सल्तनत के अंतिम तीन शाह—शाह आलम, अकबर सानी एवं बहादुरशाह 'जफर'—कितने बदनसीब थे, पर साथ ही कितने ऐशपरस्त थे ! दिल्ली के लाल किले में जहां कि हिंदुस्तान के शाह रहा करते थे, वहां कि हालत यह थी :

"इस किले में नवयुवक (शाहजादे) व्यभिचार में व्यस्त रहते थे, और बूढ़े षडयंत्रों में। सैकड़ों नवयुवक और नवयुवतियां निरर्थक जीवन व्यतीत किया करते थे। बूढ़े मर्द व बूढ़ी औरतें जो कब्र में पैर लटकाये पड़ी थीं, वहां विद्यमान थीं।....... पहलवान, मसखरे, नाचनेवाली औरतें जो बुढ़ापे में कामाग्नि को उत्तेजित करने के लिए नंगी नाचा करती थीं; और कव्वाल, जालसाज, बद-माश, शराबें खींचनेवाले, मिठाई व अफीम बनानेवाले—ये लोग किले की आबादी के मुख्य अंग थे।

"अपराधी दंड से बचने के लिए किले में आश्रय प्राप्त कर लेते थे। विलासिता-संबंधी षड़यंत्रों की भांति राज-नैतिक षड़यंत्र भी यहां जोरशोर से जारी थे।

पत्नियां पतियों के विरुद्ध षड़यंत्र रचती थीं और रखेलियां ब्याहताओं के प्रति और माताएं पुत्र के विरुद्ध षड़यंत्र में भाग लेती थीं। स्त्री-पुरुष सुंदर लड़कियों के लिए दूर-दूर की खाक छानते थे, ताकि महल में उन्हें लाकर मन की मुराद पूरी की जा सके।"

[अंग्रेज रेजिडेण्ट मेटकाफ्

इतनी विलासिता के अनंतर भी तैमूर के अंतिम वंशज ने, अपनी इच्छा के विपरीत १८५७ के मनचले विद्रोहियों का नेतृत्व स्वीकार कर, भारत से अंग्रेजी कांटे को दूर करने की चेष्टा की। बहादुरशाह की चेष्टा सफल कैसे हो पाती, जबकि उस के जीवन में पौरुषत्व की अपेक्षा स्त्रैणभाव की व्याप्ति हो चुकी थी, और उस निस्तेज शाह की आकांक्षा केवल अपने सुख तक सीमित थी। बहादुरशाह 'जफर' का यह रेखा-चित्र कितना दर्शनीय है :

"तैमूर के वंशज मुगल बादशाह (बहादुरशाह 'जफर') को १,२०,००० पौंड की वार्षिक पेंशन मिलती है। उसका हुक्म उसके महल की दीवारों के बाहर नहीं चलता। महल के अंदर शाही खान्दान के लोग खरगोशों की भांति अनगिनत बच्चे पैदा करते रहते हैं। यहांतक कि दिल्ली की पुलिस भी अंग्रेज अफसरों के हाथ में है, और शाह उनके बारे में चूं तक नहीं कर सकता। तनिक कल्पना कीजिए, एक नाटा, दुबला-पतला सूखा-पीला पड़ा हुआ बुड्ढा हिंदुस्तानी नर्तकियों-जैसी सुनहरी जरीदार,

नाटकीय पोशाक पहने तख्त पर बैठा हुआ है। कुछ मुख्य अवसरों पर यह कठपुतला नकली ठाठ-बाट करके बाहर निकलता है, ताकि भक्तगण देखकर आनंदित हो। दरबार लगता है, तो भेंट के लिए आनेवालों को फीस में अशर्फियां देनी पड़ती हैं; बदले में वह उन्हें पगड़ी, हीरे आदि देता है। पर समीप से देखने पर लोगों को पता चलता है कि शाही हीरे वास्तव में, मामूली कांच के टुकड़ों-जैसे हैं जिन्हें भद्दे ढंग से रंगकर हीरों-जैसा बनाया गया है, और जिन्हें इतनी बुरी तरह जोड़ा गया है कि वे हाथ में लेते ही बिखर जाते हैं।"

[कार्ल मार्क्स : १२ जुलाई, १८५३-लेखन काल प्रकाशन—'न्यू यौर्क डेली ट्रिब्यून १५ जुलाई १८५३]

बेचारा जफर भी क्या करता ? मुगल ठाठ-बाट के दिन लद चुके थे। उसकी सत्ता पूरी तरह किले में भी न थी। किले के बाहर दिल्ली में अंग्रेजी राज-व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी; और किले में तख्त पर तो बैठता था बहादुरशाह, और आदेश चलता था बेगम जीनत महल का और उसके अभय प्राप्त प्रियवर मियां महबूब ख्वाजासरा का। बेगम जीनतमहल जो चाहती थी वही होता। शाह को जितनी पेंशन मिलती वह किले में आबाद सलातीन, बेशुमार शहजादे-शहजादियों और दूसरे चक्करों में ठिकाने लग जाती, फिर भी लाल-किला के सलातीन आधे नंगे और आधापेट खाकर मुगल-वंश-गौरव की हवा पहले-जैसी ही बनाये रखने में प्रसन्न थे, और अपने कारनामों से शाही जीवन को गति प्रदान किया करते।

मुहम्मद सिराजुद्दीन अबुज़फ़र बहादुरशाह के जीवन का प्रथम पृष्ठ ही करुणा से आरंभ होता है। जफर की मां लालबाई हिन्दू थी—मुगरलवंश में उसका जन्म होना, न होने के बराबर था। अकबर शाह सानी, जो बहादुर शाह के पिता थे, वह भी उसे कोई अच्छी नजर से न दुलराते थे। शाह सानी, मुमताज बेगम के शहजादे मिर्जा जहांगीर को भावी उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे। पर जफर की सच्चरित्रता, साहित्यिक स्वभाव और साधुता एवं अन्य शहजादों से श्रेष्ठता-ज्येष्ठता से अति प्रभावित होकर गवर्नर जनरल लार्ड मिन्टो ने कम्पनी के डायरेक्टरों से 'जफर' को ही उत्तराधिकारी घोषित करवाया। मई २८, १८३७ को ६२ वर्ष की आयु में अंग्रेजों की सहमति से युवराज अबुज़फर मुगलिया साम्राज्य के वैभव-विहीन दिल्ली-लाल-किला के सिंहासन पर आसीन हुए।

जफर ने जब अपने कथित शासन की ओर दृष्टि डाली तो पाया : भारत में जहां पहले मुगलों की सल्तनत थी, अब वह दिल्ली शहर से चारों ओर भी शेष नहीं रही। लघु-सामंतों के विकृत छुट-भैय्यों ने अपनी औकात के अनुसार अड्डे जमा लिये हैं। परगना, सरकार, सूबा—शासन का ढांचा ही टूट चुका है, शासन का कोई क्रम ही नहीं रहा है। मुगलशाही से जनता भी क्षुब्ध हो चली थी, और रियाया मुक्त थी—मनचाहा मालगुजारी दी न दी। कर-प्रदान की छूट-सी थी। जब लोगों का जीवन अरक्षित हो तो वह शासन की बात क्यों माने ?

अनिश्चित स्थिति में जनता भड़क उठी। उस जमाने में अधिकांश भारतीय, अंग्रेजों से भी कोई बहुत ज्यादा प्रसन्न नहीं थे। आग की लपटें फैलते हुए दिल्ली के शाह के दामन तक आ पहुंची। जफर को क्रांतिकारियों का बलात् नेतृत्व स्वीकार करना पड़ा। अंग्रेजों के विरुद्ध भारतीय विद्रोहियों का सिंहनाद बज गया। जो होना था—हुआ। १८५७ के संग्राम में जफर पर कैसी बीती—एक साक्षी प्रस्तुत है :

"कल किले में वेतन को लेकर बड़ा चीं-पीं मचा। सिपाहियों के दो दस्तों ने शाह के रहने का स्थान घेर लिया; शाह तत्काल बाहर निकल आए। सूबेदारों ने वेतन मांगा।

"मैंने तुम लोगों को यहां आने को तो नहीं कहा, मुझे तुम्हारी आवश्यकता नहीं है," शाह ने कहा।

बहुत शोर मचा, अन्त में अवकाश प्राप्त रिसालदार सलीमशाह ने उन्हें समझा-बुझाकर शांत किया।

बादशाह ने कहा, "मेरे पास केवल ४०,००० रुपये हैं, जिन्हें आप प्रसन्नता से ले जा सकते हैं।"

"इससे सिपाहियों का काम न चल सकेगा," सूबेदारों ने कहा।

"मेरे पास १०१ अशर्फियां हैं, जिन्हें बरेली के

नवाब ने हाल ही में नजर किया था, उन्हें भी ले लो।"

सूबेदारों को इससे भी संतोष न हुआ तो बादशाह ने जनानखाने के सारे जेवरात देने का वादा किया तथा जिस कुर्सी पर वह बैठे हुए थे उससे उठकर कारचोपी का काम की हुई अपनी गद्दी उनके सामने फेंक दी, और कहा, "....... भगवान ही शहर और क़िले की रक्षा कर सकते हैं।"

(५ सितम्बर १८५७ का गौरीशंकर से प्राप्त संवाद : दिल्ली पोलिटिक डिपार्टमेंट की ओर से लाहौर के तत्कालीन चीफ कमिश्नर को प्रेषित दैनिक रिपोर्ट)

कुछ भारतीय वीर जब समर में मन से जूझ रहे थे, इस्लाम के अतिशय खादिमों का खून जिहाद के परचम को लहराने के लिए, करबला की पृष्ठ-भूमि रच रहा था तब जफर के अयोग्य शहजादों, जिन्हें लड़ाकुओं की सरदारी सौंपी गई थी, अंग्रेजों से लड़ने की बजाय नागरिकों से धन-रत्न छीनकर एकत्रित करने में उत्साह दिखा रहे थे, रस ले रहे थे। नागरिक और अधकचरे सैनिक-जीवन में घोर अव्यवस्था और नैराश्यपूर्ण असंतोष का घनघोर तिमिर छाया हुआ था। अंततोगत्वा मैदान से क्रांतिकारियों के पैर उखड़ चले, और मुगल वंश के आखिरी ताजदार बादशाह श्री बहादुरशाह 'जफर' को अंग्रेजों ने बंदी बना लाल-किला में उनपर मुकदमा चलाया और '५७ के विद्रोह का ज़फर को हीरो-दोषी अभियुक्त घोषित कर, ४ दिसम्बर को कलकत्ता से रंगून भेज दिया।

बहादुरशाह का रंगून-निवास (बंदीगृह) उस स्थान पर ही था, जहां आज उनकी समाधि है। रंगून में जहां जफर की समाधि है, उस सड़क का नाम पहले सदर बाजार रोड और उस बंगले का नं० ८५ था। सन् १९३८ में स्व. एम० ई० दाऊद जी वकील ने रंगून की नगरपालिका में एक प्रस्ताव रखा था कि जफर की समाधि-स्थित रोड का नाम सदर बाजार रोड से बदलकर जफरशाह रोड रख दिया जाय। प्रस्ताव स्वीकृत होगया, और तब से सड़क का नाम 'जफर शाह रोड' चल रहा है।

पहले जफर की समाधि-स्थित-स्थान पर एक दो-मंजिला कोठी थी। उसी कोठी में जफर और उसके वंश के लोगों को ठहराया गया था। वहां सशस्त्र गोरों का नियमित पहरा रहा करता था। जफर के रहने के कम्पाऊंड से मिली हुई कोठी कैप्टिन नैलसन डेविस की थी जो तात्कालिक समय के चीफ कमिश्नर कर्नल सर आर्थर फेयर के चीफ सेक्रेटरी थे। कर्नल फेयर ने बहादुरशाह की निगरानी का काम भी कैप्टन नैलसन के सुपुर्द किया हुआ था। आखिर तक पेंशन और जफर के दूसरे व्यय-संबंधी कार्य कैप्टन नैलसन ही किया करते थे। जफर बंदी अवस्था में प्रायः बीमार रहे और फालिज (पक्षाघात) के आक्रमण के अनंतर, तो उनकी अवस्था बहुत ही दयनीय होगई थी।

७ नवंबर १८६२ ई० को ८७ साल की अवस्था में वह संसार से चल बसे। मृत्यु के समय जफर के पास मल्का जीनत महल और रौनक जमानी बेगम के अतिरिक्त कोई भी न था। अंग्रेजों ने जफर की मृत्यु के समय इतनी सावधानी से काम लिया कि दिल्ली के अंतिम मुगलिया चिराग की लौ के गुल होने का समाचार हवा तक में फैलने न दिया—और जफर के बंदीगृह के स्थान पर ही उसके दफन करने का प्रबंध भी कर दिया गया।

जवांबख्त के उस्ताद हाफिज मुहम्मद इब्राहीम देहलवी ने जफर की लाश को अंतिम बार कफनाया, और जनाजे की नमाज पढ़ाई। मुल्ला मुसा जी और हाफिज मुहम्मद इब्राहीम ने बहादुरशाह को कब्र में उतारा। और दिल्ली के बेनूर शाह की थाती को रंगून की खाक के सपुर्द किया।

●

स्व० शिवसहाय चतुर्वेदी

लक्ष्मणप्रसाद 'विश्वकर्मा'

७३ वर्ष का वृद्ध पुरुष, जिसकी आकृति से बुजुर्गी प्रकट होती थी, बालों से बुढ़ापा; पर जिसके पैरों की गति में हृदय की स्फूर्ति। वेशभूषा से विशुद्ध भारतीय— सफेद कुर्ता, घुटनों तक धोती, सिर पर टोपी। चर्चाओं में लोक-साहित्य का विश्वकोश। ये थे बुंदेलखण्डी लोक-साहित्य के अनन्य प्रेमी पं० शिवसहायजी चतुर्वेदी, जिनकी स्मृति ही अब शेष रह गई है।

शिवसहायजी का जन्म श्रावण शुक्ल १४ सं० १९४५ में हुआ था। वह मध्य प्रदेश के देवरी (सागर) के निवासी थे। नार्मल स्कूल परीक्षा पास करके शिक्षक बने, परंतु उनकी प्रतिभा किसी एक क्षेत्र में बंधकर नहीं रह सकी। वह मूलतः साहित्यिक व्यक्ति थे, और राजनीति से हमेशा दूर रहा करते थे, परंतु जनहित के कार्यों में सदैव अग्रणी रहे। फलस्वरूप देवरी नगरपालिका के २८ वर्ष तक लगातार अवैतनिक मंत्री रहे।

चतुर्वेदीजी में उच्चकोटि की साहित्यिक प्रतिभा थी। उन्होंने पद्य और गद्य दोनों में लिखा। हिंदी के साथ-साथ बंगला, गुजराती, मराठी का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। उनका साहित्यिक जीवन सन् १९०९-१० से प्रारंभ हुआ है। 'हितकारिणी पत्रिका', 'शरद विनोद' एवं 'लक्ष्मी' मासिक पत्रिका में उनकी रचनाएं प्रकाशित होती रहीं। सन् १९११ से १३ तक वह बंबई में श्री नाथूराम 'प्रेमी' के साथ 'हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय' में कार्य करते रहे। वहांपर उन्होंने प्रूफ-संशोधन से लेकर 'जैन हितैषी' पत्रिका के सम्पादन तक में योग दिया। बंबई से आकर देवरी में 'हिंदी हितैषी कार्यालय' की स्थापना की। इस कार्यालय द्वारा चतुर्वेदीजी की करीब दस पुस्तकें प्रकाशित हुईं। उनमें 'मेरे गुरुदेव' तो इतनी लोकप्रिय हुई कि थोड़े-से समय में ही उसके कई संस्करण होगये। उसमें चतुर्वेदीजी ने सरल एवं सरस भाषा में स्वामी विवेकानंद के अमेरिका में दिये गये भाषणों का वर्णन किया था। 'अन्योक्ति कुसुमांजलि' में उनकी कविताओं का संकलन है। ये अन्योक्तियां सामान्य पाठकों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध हुईं। सन् १९१६ में 'भारतीय नीति कथा' प्रकाशित हुई, जिसमें उन्होंने महाभारत की उपदेशपूर्ण कथाओं को चुनकर संकलित किया। पुस्तक के तीन संस्करण प्रकाशित हुए। इसी वर्ष 'आदर्श बहू' या 'शारदा' उपन्यास का अनुवाद प्रकाशित हुआ। उनके हास्य एवं विनोदपूर्ण शैली का सुंदर नमूना 'बेलून बिहार' में देखने को मिलता है।

चतुर्वेदी सफल अनुवादक भी थे। उन्होंने मराठी, गुजराती एवं बंगला की कई पुस्तकों का हिंदी में अनुवाद किया। शिवनाथ शास्त्री की 'स्त्रियों का कार्यक्षेत्र', रचनीकांत गुप्त की 'आर्य जाति का इतिहास' हिंदी को प्राप्त हुए, इसका श्रेय चतुर्वेदीजी को ही है। 'आर्य जाति का इतिहास' का अनुवाद तो उन्होंने सन् १९१९ में किया था।

चतुर्वेदीजी की दर्शनशास्त्र में भी विशेष रुचि थी। 'पारलौकिक तत्वज्ञान' नामक पुस्तक का अनुवाद उन्होंने 'छायादर्शन' नाम से किया। विलियम हार्ट पोल लेकी की अमरकृति 'हिस्ट्री ऑव रैशनलिज्म इन यूरोप' का अनुवाद 'यूरोप में बुद्धि-स्वातंत्र्य' के रूप में सुलभ कराया।

चतुर्वेदीजी में बालोपयोगी पुस्तकें लिखने की भी क्षमता थी। उन्होंने छात्रों के लिए कई पुस्तकें लिखीं। इन पुस्तकों में मौलिकता एवं स्वाभाविकता है और यत्र-तत्र बालोचित हास एवं विनोद भी।

लोक-साहित्य में उनकी विशेष देन रही। लोक-साहित्य लोक-जीवन की चेतना के उत्थान-पतन का इतिहास होता है। सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति के माध्यम से वह लोक का मनोरंजन और पथ-प्रदर्शन करता है। इसलिए चतुर्वेदीजी ने लोक-साहित्य में जीवन के अनुभूत सत्यों को परखा और उन्हें लिपिबद्ध किया। वह लोक-साहित्य को जीवन का उत्स समझते थे।

'मधुकर' में लगातार पांच वर्ष तक उनकी बुंदेली-लोककथाएं तथा लोक-साहित्य पर लेख निकलते रहे। बाद में लोक-कथाओं के उनके कई संग्रह प्रकाशित हुए

सन् १९४७ में बुंदेलखंड की 'ग्राम कहानियां' निकलीं। सन् १९५० में 'पाषाण नगरी'। इस पुस्तक पर उत्तर प्रदेश की सरकार द्वारा सन् १९५२ में ५००) का पुरस्कार प्रदान किया गया। बाद में 'गौने की विदा' प्रकाशित हुई, जिसपर विन्ध्य प्रदेश की सरकार ने ५००) का पुरस्कार दिया।

बुंदेली लोकगीतों के संकलन में भी उनका—प्रयत्न सराहनीय है। काफी भ्रमण करके उन्होंने बहुत-से उपयोगी लोक-गीतों को लिपिबद्ध किया और 'बुंदेली लोकगीत' नामक पुस्तक में वे प्रकाशित हुए। इस पुस्तक की पाण्डुलिपि पर 'मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद्' नागपुर द्वारा सन् १९५५ में १०००) रुपया पुरस्कार मिला। इसे शासन परिषद् ने स्वतः प्रकाशित किया। इसके अलावा 'बुंदेली लोक-कथाएं', 'केतकी के फूल', 'पसीने की कमाई' आदि कई संग्रह निकले हैं। पिछले दिनों 'सस्ता साहित्य मंडल' ने उनके दो संग्रह प्रकाशित किये हैं। 'हमारी लोक कथाएं' में चतुर्वेदीजी द्वारा संकलित हिंदी-परिवार की जनपदीय भाषाओं की लोक-कथाएं मूल भाषा में हिंदी अनुवाद के साथ दी गई हैं। 'जैसी करनी वैसी भरनी' उनकी बुंदेलीखंडी लोक-कथाओं का संग्रह है। वह चाहते थे कि प्रत्येक भारतीय भाषा की लोक-कथाओं के संग्रह प्रकाशित हों। लेकिन खेद है कि उनकी यह अभिलाषा उनके जीवनकाल में पूरी न हो सकी।

गुजराती में भी उनके कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं। निस्संदेह साहित्य का यह उपेक्षित पर महत्वपूर्ण अंग उनके द्वारा विशेष रूप से समृद्ध हुआ।

उन्होंने 'शुक्ल अभिनंदन ग्रंथ' में भी लेख दिये थे। 'प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ' के बुन्देलखंड-विभाग का सम्पादन उन्हींके द्वारा हुआ। वस्तुतः वह एक सफल साहित्यकार, संपादक एवं लोक-साहित्य के सृजनकर्ता थे। बुंदेली साहित्य के तो वह बड़े ही कुशल कलाकार एवं मर्मज्ञ थे। वृद्ध हो जाने पर भी उनकी लेखनी में जवानों की तरह स्फूर्ति थी। उन्होंने अथक परिश्रम एवं रुचि से बुंदेलखंडी साहित्य का अन्वेषण किया। उनकी भाषा सरल एवं सुबोध होती थी। लेकिन प्रचलित मुहावरों का प्रयोग वे खूब करते थे। विचारों में कसावट रहती थी। शैली में मौलिकता और साहित्यिकता के साथ-साथ हास, विनोद और व्यंग का पुट भी जगह-जगह पर मिलता है।

राष्ट्रीय भावना भी उनमें पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। "देवरी का स्वदेशीकाण्ड' मध्यप्रांत के इतिहास में एक क्रांतिकारी कदम माना जाता है, उसके वह एक सदस्य थे। स्व. सैयद अमीरअली 'मीर' जैसे यशस्वी कवियों के वह समकालीन थे।

चतुर्वेदीजी प्रसिद्धि से दूर भागते थे। उन्हें नाम कमाने की इच्छा न थी। वह सच्चे अर्थों में मूक साधक थे।

यद्यपि उनका भौतिक शरीर अब हमारे बीज विद्यमान नहीं है, तथापि उनके प्रेमल स्वभाव, मिलनसारिता साहित्य के प्रति असीम अनुराग और अनवरत साहित्य-सेवा के कारण उनका यश-शरीर सदा अमर रहेगा। अपने पीछे उन्होंने पांच पुत्र और तीन पुत्रियां छोड़ी हैं, लेकिन उनके मित्रों तथा प्रशंसकों की तो गिनती ही नहीं की जा सकती।

उनके निधन से न केवल मध्य प्रदेश की, अपितु समूचे हिंदी जगत की ऐसी क्षति हुई है, जिसकी पूर्ति सहज ही नहीं हो सकती।

●

जहाँ उद्योग की प्रतिष्ठा नहीं, वहाँ अवनति और विनाश काम करते हैं। पर जहाँ उद्योग की प्रतिष्ठा होती है, वहाँ जीवन और ज्ञान वास करते है।

—स्वामी रामतीर्थ

●

अट्ठारहसौ सत्तावन के लोकगीत

कन्हैयालाल चंचरीक

सन् १८५७ का विप्लव भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम का सर्व प्रथम क्रांतियुद्ध माना जाता है, जबकि छोटे-छोटे तलिुकेदारों, नवाबों, नरेशों और समूची भारतीय जनता ने बढ़ते हुए अंग्रेजी-साम्राज्य को उखाड़ फेंकने का असफल प्रयास किया था। गदर की आग हर गांव, कस्बे और शहर में फैली थी; लेकिन अंग्रेजों ने अपने सुसंगठित सैन्यबल और संचालन की क्षमता की वजह से भारतीयों की पारस्परिक फूट और वैमनस्य का लाभ उठाकर इस आंदोलन को कुचल दिया। अंतिम मुगल-सम्राट् बहादुरशाह, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, नानासाहब, तांत्या टोपे, बिहार में कुंवरसिंह तथा विभिन्न लोक-अंचलों में बहादुर जनता ने अंग्रेजों से डटकर लोहा लिया। उन्हींके शौर्य, पराक्रम और वीरता के किस्से-कहावतें और लोक गीत आज भी जनता के अधरों पर तैर रहे हैं।

इन गीतों में अंग्रेजों के अत्याचार, और प्रथम स्वतंत्र युद्ध के सेनानियों की अभूतपूर्व वीरता के चित्र हूबहू उतर आये हैं। ये लोक-गीत निम्न प्रकार हैं:

मेरठ की गूजरियों का गीत

१० मई १८५७ को प्रथम भारतीय स्तंवत्रता संग्राम का श्रीगणेश मेरठ छावनी से हुआ था, जबकि विप्लवी सिपाहियों ने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। उस अवसर पर मेरठ की लूट से संबंधित निम्न गीत काफी प्रचलित हो गया था। इसे मेरठ जिले की गूजर-स्त्रियां गाया करती हैं:—

मेरठ का सदर बाजार है
मेरे सइयां लूट न जानें
लोगों ने लूटे शाल दुशाले
मेरे प्यारे ने लूटे रुमाल
मेरठ का सदर बजार है
मेरे सइयां लूट न जानें।
लोगों ने लूटे थाली कटोरे
मेरे प्यारे ने लूटे रुमाल
लोगों ने लूटे गोले छुहारे
मेरे प्यारे ने लूटे बदाम
मेरठ का सदर बजार है
मेरे सइयां लूट न जानें।
लोगों ने लूटे मुहर अशरफी
मेरे प्यारे ने लूटे छदाम
मेरठ का सदर बजार है
मेरे सइयां लूट न जानें।

तांत्या तोपे की वीरता का गीत

वीर तांत्या टोपे की बहादुरी के निम्न लोक-गीत कितने प्राणवान हैं:—

किन घर रे जनमें बीर तांतिया
धनि धनि रे बा मां की कोखि
धनि धनि रे बा गाम की माटियां
गाम गलिन मां की लाज लुटेरे
भैना के माथे का सिंदूर
बिलखि बिलखि रोमें बहू रे भौजाई
लुटि गये इनके सुहाग
घर में फिरंगी बैरी रारि मचामें
तौ गरजे तांतिया से बीर
सुमिरि भवानी तेगा नंगौरे काढ़ो
गाजर मूरी से काटे फिरंगिया
(नदियन नालेन)
खेतन क्यारिन भरि गई रकत की धार
मरिकें अमर भये बीर तांतिया
पुरखन की राखी पाग
किन घर रे जनमें बीर तांतिया
धनि धनि रे बा मां की कोखि
धनि धनि रे बा गाम की माटियां

एक दूसरा गीत भी देखिए। उसमें भी तांतिया की वीरता और अद्भुत पराक्रम का सजीव चित्रण है—

फिरंगी घर में घुसि आयौ
सो आली री……

सजे फिरंगिनु कठड़े
सो कोई अंग अंग चतुरंग
भंग तांतिया ने करौ
सो कोई रोपि गंग लौ जंग
फिरंगी घर में घुसि आयो।

× × ×

भजे फिरंगी दिनकरे
जानें ऐसौ रन रोपौ
अपनेई भय्यन में परिजाइ
दै दीनौं धोको
तोऊ जिय हाथ नांय आयौ
फिरंगी घर में घुसि आयौ।

महारानी झांसी

झांसी की महारानी लक्ष्मीबाई ने अंग्रेजों का डटकर मुकाबला किया और उन्हें कई स्थलों पर मात दी। बुंदेलखंड की जनता के हृदय-पटल पर आज भी लक्ष्मीबाई की वीरता के गीत अंकित हैं। बुन्देलखंड की धरती आज भी उन गीतों से मुखरित है। प्राणवान है। कुछ गीतों के नमूने लीजिए:—

भारी जुलम करौ गोरन नें
शहर शहर लुटे एं
गामन गामन आगि लगाई
घर द्वारे फूंके एं
बीर बहादुर बड़ी रे लड़ाकू
झांसी बारी रानी
उठी झपट कें तेगा खींचौ
सुनि के जुलम कहानी
आजादी कौ बिगुल बजायो
सन् सत्तावन आयौ
लंदन की सरकार हलाय दई
डटि डटि तेग चलायो

इसी तरह का दूसरा गीत—

खूब लड़ी जिय मरदानी, अरे झांसी बारी रानी
बुरजन बुरजन तोपें लगाइ दई
गोला चलाए अस्मानी
खाए सिपहियनु लड्डू जलेबी
आपु चबाई गुर धोनी
खूब अड़ी तोंपन के आगें
तेग चलाई मरदानी
अरे झांसी बारी रानी।

हाथरस की लूट के गीत

हाथरस-भुरसान आदि स्थानों पर विख्यात देश-भक्त राजा महेंद्रप्रताप के पूर्वजों की जागीर थी। हाथरस-भुरसान के किलों पर अंग्रेजों ने गोले बरसाये। इधर-उधर गांवों में लूट-पाट, मारकाट भी हुई। तत्सम्बंधी लोकगीत देखिए—

हाथुस लुटि गई ठीक दुपरिया में
जब गोरा चढ़ि आये
सोनौं लुटि गयौ, चांदी लुटि गई
घोटा लुटौ बजरिया में
जब गोरा चढ़ आए
शाल दुशाला, मलमल लुटि गई
अरे देखियो
कपड़ा लुटे बजरिया में
जब गोरा चढ़ि आए।

बहादुर जनता ने अंग्रेजों का डटकर सामना किया। निम्न लोकगीत में एक फिरंगी के लुट जाने का भाव कितना सजीव है:

फिरंगी लुटि गयौ रे।
हाथुस के बाजार में
गोरा लुटि गयौ रे
हाथुस के बाजार में
तोप लुटि गयौ, घोड़ा लुटि गयौ
तमंचा लुटि गयौ रे
जाकौ चलते बजार में
फिरंगी लूटि गयौ रे

उत्तर प्रदेश के हरदोई जिले के ठाकुर गुलाबसिंह ने फिरंगियों से मोर्चा लिया और उन्हें हराया था। उसकी बहादुरी के गीत अब भी जन-मानस के अधरों पर तैरते हैं। यह लोकगीत इस तरह है:—

राजा गुलाबसिंह रहिया तोरी हेरूं
एक बार दरस दिखावा रे

अपनी गढ़ी से यह बोले गुलाबसिंह
सुन रे साहब मेरी बात रे
पैदल भी मारे सवार भी मारे
मारी फौज बेहिसाब रे,
'बांके गुलाबसिंह रहिया तेरी हेरूं
पहली लड़ाई लखमनगढ़ जीते
दूसरी लड़ाई रह्ययाबाद
तीसरी लड़ाई संडीलवा में जीते
जासूं में कीन्हा मुकाम रे
राजा गुलाबसिंह रहिया तेरी हेरूं ।

लोकगीतों पर अन्य लोगों के लेखादि

राम गरीब चौबे ने ५० वर्ष पूर्व १८५७ के विप्लव के लोकगीत जमा किए थे, जिन्हें विलियम क्रुक ने १९११ में 'इंडियन एंटीक्वेरी' के अंकों में छापा था। फिर कुछ लोग छुट-पुट लिखते रहे। लोकगीत, गाथादि संकलित करते रहे। देवेंद्र सत्यार्थी, बैजनाथसिंह विनोद, श्याम परमार, प्रभाकर माचवे, रामेश्वर उपाध्याय, भगवान सिंह विमल ने भी गदर के लोकगीतों पर लेख लिखे हैं। हमने पिछले दो-तीन वर्ष से १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम के लोकगीतों पर पर्याप्त खोजबीन की है और काफी गीत हर जनपद के जमा किए हैं। आकाशवाणी और दूसरे पत्रों में भी कुछ चर्चा की है। आज समय आगया है कि इनका सामाजिक और वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय।

इनसे जनता की विशाल रचना-शक्ति का ही पता नहीं चलता, वरन् यह भी ज्ञात होता है कि जनता का संघर्ष, उसकी वेदना और पीड़ा आदि सब कुछ लोकगीतों में स्वाभाविक रूप से उतर आया है।

●

चरसकुमारी

रमेश वक्षी

स्वर्ग में एक लड़की रहती थी। नाम था उसका चरस कुमारी। आदत यह थी उसकी कि एक घर जो बातें सुनती वे ही दूसरे घर जाकर कह देती। स्वर्ग में तो भजन-कीर्तन, वेद-पाठ, प्रार्थना के सिवाय कुछ होता नहीं। सो हरेक देवता चरसकुमारी से खुश था कि वह एक घर का भजन दूसरी जगह, एक घर की धर्म-चर्चा दूसरी जगह सुना देती है।

बरसों बाद एक दिन उसने धरती पर जाने की इच्छा प्रकट की। विष्णु भगवान ने कह दिया, "अच्छा ज़ाओ।"

चरसकुमारी धरती पर आगई। उसकी आदत वही पहले जैसी थी। एक घर की बात दूसरे घर जाकर कह देती। श्यामलाल के घर उसने सुना "रामप्रसाद बदमाश है, नालायक है, कालाबाजारी करता है। हम उसके व्यापार को उलट देंगे।" चरसकुमारी ने यही बात रामप्रसाद के घर जाकर कह दी। वह आगबबूला होकर बोला, "मैं शामलाल को मार डालूंगा।" चरसकुमारी ने यही बात उसके घर जाकर कह दी। फिर केवल चार दिन में धरती के बीस घर फूट गये।

स्वर्ग में सबने उसकी बुराई की। उसे वापस बुलाया गया, पर उसने कहा, "मैं तो धरती पर जाकर ही रहूंगी।"

"तुम अपनी आदत छोड़ दो।" उससे कहा गया।

"यह तो कभी नहीं हो सकता।" उसने साफ ना कह दिया।

"अच्छा तो जाओ।" विष्णु भगवान ने कहा, "पर तुम्हारा रूप बदल दिया जायगा।"

उसने मंजूर कर लिया। वह चरस बनकर कुएं पर लटक गई। नीचे ज़ाकर पानी मुंह में भरती और ऊपर आकर उगल देती। सब किसानों ने उसे सराहा।

या तो चरस से देवता खुश थे या किसान खुश हैं।

राजस्थानी लोक-गीतों में सास का दुर्व्यवहार

मोहनलाल पुरोहित

'लोक-गीत' बनाये नहीं जाते 'जन-गीतों' की तरह वे तो अपने आप बन जाते हैं। गीतों के माध्यम से हमें व्यक्ति और समाज दोनों के लोक-जीवन का एक सुंदर परिचय मिलता है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो हमें प्रतीत होगा, भारतीय समाज का समस्त मनोविज्ञान ही इन गीतों में संग्रहीत है।

राजस्थानी लोक-गीतों की भी अपनी एक दुरंगी दुनिया है। यहां का प्रदेश अत्यंत प्राचीन काल से ही सुसंस्कृत और साहित्य-संपन्न रहा है। प्राचीनतम भारतीय सभ्यता के अवशेष, आज भी राजस्थान में हमें देखने एवं सुनने को मिलते हैं। यहां के लोक-साहित्य में और विशेष रूप से लोक-गीतों में हमारे लोक-जीवन से संबंधित कोई भी विषय अछूता नहीं छोड़ा गया है।

प्रस्तुत गीत सास द्वारा बहू पर दुर्व्यवहार का एक करुणामय एवं मर्मस्पर्शी चित्र उपस्थित करता है। सभी घर भर के प्राणी सुख की गहरी नींद में सो रहे हैं—उस समय बेचारी बहू को सबसे पहले उठना होता है। वह चक्की चलाने बैठती है। अभी चक्की से निपट ही नहीं पाई कि घर की सफाई का फिकर सवार होता है। और ज्योंही झाड़ू आदि से निपटी कि फिर रसोई करनी होती है। तालाब से पानी भी तो लाना होता है। इतना सबकुछ होते हुए भी 'सास को ठोलो'—सास का बड़बड़ाना आठों पहर। बहू के लिए जीवन दुखमय न हो तो और क्या हो सकता है :—

गीत इस प्रकार से है —

सासू सूधली लड़ै,
फोग आलो बले।
चार घड़ी के तड़के मैं उठी,
जे पीस्यो धड़ी दोय
सास आय बिसराइयो बहुअड़,
ओ कोंई पीस्यो चूण !
ऊठ सवारी दलियो दलै,
सासू सूधली लड़ै ॥१॥

आड़ा बार गवाड़ा बारया,
जो बारया-ए चांनण चौक।
सास आय बिसराइयो बहुअड़,
ओ कोंई बारयो चौक ॥
ठांण में गोबर सड़ै,
सासू सूधली लड़ै ॥२॥

न्हाय धोय कर करी रसोई,
जे खूब करी चतुराई।
सरसड़ आय बिसराइयो बहुअड़,
आ कांई करी रसोई ॥
दाल में हींग सड़ै।
सासू सूधली लड़ै ॥३॥

लेय दोय घड़ा पांणी नै चाली,
जे पूगी पणघट घाट।
भर घड़लो बेगी सी आई,
कठै ए लगाई अवार।
सास म्हारी खड़ी ऐ लड़ै,
फोग आलो ही बलै ॥४॥

अर्थ :—सास कैसी भी सीधे स्वभाव की क्यों न हो—बहू से तो लड़ेगी ही। जिस प्रकार फोग (एक पेड़ विशेष) गीला होने पर भी जलता है। मैं चार घड़ी रात रहते हुए उठी, धड़ी भर अनाज बीसा, फिर भी सास ने इतने पर भी बुरा ही कहा। यह क्या कर डाला, सुबह-सुबह उठकर, दलिया दल डाला ॥१॥

मैंने सारे घर में घर के बाहर भी झाड़ू लगाई, चंदन चौक भी साफ कर डाला। फिर भी सास ने इतना सबकुछ कर लेने पर भी बुरा ही बतलाया। कहने लगी—बहू ! यह क्या चौक बुहारा है ? ठाणों में तो गोबर सड़ रहा है।

मैंने नहा-धोकर रसोई बड़ी चतुराई (बड़ी पवित्रता और सफाई के साथ) से की। पर सास ने तो उसे भी बुरा ही बतलाया। अरी बहू ! यह क्या रसोई कर ली है—दाल में तो हींग सड़ रही है ॥३॥

मैं दो घड़े सिर पर लेकर पानी को चली। पनघट से घाट पर पहुंची, घड़े भरकर बड़ी जल्दी घर आई, पर सास को तो इतने पर भी संतोष कहां? वह यह कहकर लड़ रही है—इतनी देर कहां लगा दी। फोग जिस प्रकार गीला होने पर भी जलता है, सास सीधे स्वभाव की होने पर भी बहू से तो वह लड़ती ही है।

इसी प्रकार का एक गीत जैसलमेर में भी गाया जाता रहा है। यह गीत 'सावण' के दिनों में गाया जाता है। सावण का महीना, चारों ओर हरियाली छाई हुई है। 'तीजणियां' तीज मना रही हैं। संयोगिन नायिकाएं अपने अपने प्रियतमों से मिलकर बड़ी आनंदित हैं। ऐसे समय में लड़कियां अपने पीहर में आने को बड़ी व्याकुल रहती हैं। यदि किसी लड़की को उसकी मां इस अवसर पर नहीं बुलाती, तो उसे असह्य दुःख होता है। इस प्रकार की व्यथा और पीड़ा को लेकर एवं सास के कठोर व्यवहार को चित्रित करता हुआ यह गीत दिया जा रहा है।

गीत इस प्रकार से है :—

आई आई मां सावणीये री तीज लो,
सांमले कै सावण धीया सासरे री लाल ॥१॥
दूजै दूजै मां रमणियै जाय तो,
धीया ने रै दीनों सासू सोवणौं री लाल ॥२॥
सोया सोया मां छाजलिया दोय चार लो,
अधमण सोयो धीया बाजरो रै लाल ॥३॥
और सहेलियों मां झलणिये नां जाय लो,
बाई नां दीनों सासू पीसणौं रै लाल ॥४॥
पीस्यो पीस्यो मां ढाल तो ढाल लो,
अधमण पीस्यो बाई बाजरो रै लाल ॥५॥
फोड़ूं फोड़ूं चाकालिये रो पाट लो,
बगड़ बिखेरूं मां पीसणों रै लाल ॥६॥
और सहेलियो मां मगरिये नो जाय लो,
बाई नां दीनों सासू पोवणौं रै लाल ॥७॥
पोया पोया मां रोट्लिया दोय चार लो,
पोया रैं बाईरा मां पेरूँवा रै लाल ॥८॥
जीम्या जीम्या देवर दूजा जेठ लो,
जीम्यो नणदल बाई रो झूलरौ रै लाल ॥९॥
परोस्या परोस्या मां मोटोड़ा थाल लो,
परोस्यां नणदों रा बाटका रै लाल ॥१०॥
दूजों ने दूजों ने मांग हुंवोरा राटलो,
बाइनां दीनो बाजरे रो बाटियो रै लाल ॥११॥
औरों ने औरों ने मां पलियां पलियां खीर लो,
बाई नां दीनी सासू राबड़ो रै लाल ॥१२॥
दूजों ने दूजों ने मां धवसे धवसे खांड़ लो,
बाई ने दीनी सासू चिपठी लूंण री रै लाल ॥१३॥
औरों ने औरों ने मां मिरयो मिरियो घी लो,
बाई ने दीनों सासू मिरियो तेल रो रै लाल ॥१४॥
औरइय औरइये मां देवर ने जेठ लो,
पडवे रै नणदां रो मां झूलरो रै लाल ॥१५॥
बरसे बरसे मां झाझो मेहलो,
भीजै रै भायां री बनड़ी रै लाल ॥१६॥
मांज्यां मांज्यां मां मोटोड़ा थाल लो,
मांज्यां रै नणदों रा बाटका रै लाल ॥१७॥
बाटियो बाटियो मां चूले पीछे राख लो,
मांण ने मिनड़ी हतियारी बाटियो लेगई रै लाल॥१८॥
मरजो मरजो मिनड़ी थारो पूत लो,
रातां री निरणीं बीरों बहनड़ी रै लाल ॥१९॥

अर्थ स्पष्ट है—सभी स्त्रियां झूलने को जा रही हैं। इसे उस समय पीसना नसीब होता है। सबके लिए घर में गेहूं की रोटियां, पर इसे बाजरी का 'बाटियां'। औरों को खीर और इसे 'राबड़ी'। औरों को खांड़ तो इसे नमक की चिपठी दी जाती है। सबके सो जाने पर बेचारी अपने उस बाजरी के 'बाटीये' को जिसे चूल्हे के पीछे छिपा रखा था, खाने को होती है। पर खेद! उसे भी बिल्ली झपटकर ले भागती है। हाय री बिडंबना! सबके लिए भोजन बना कर तैयार करनेवाली नारी स्वयं भूखी रहकर रातें काटती है। कितना हृदय-विदारक, करुण चित्र है।

इसी प्रकार से जैसलमेर के लोकगीतों में 'सावण री तीज' गीत में एक और करुण चित्र पढ़ने को मिलता है। उसका अंश इस प्रकार है :—

पगे तो बलती बीरा हूं फिरूं
बोंधु आकड़ले रा पोंन,
मेहोंझड़ मोंडियो।
माथे तो बलती बीरा हूं फिरूं,

बोंधु पीपलिये रा पोंन,
मेहोंझड़ मोंड़ियो ।

सास-बहू की खटपट या वैमनस्य हमारे ही समाज के लिए कलंक का विषय हो, ऐसा नहीं । हमसे भी जाग्रत और उन्नत अपने-आपको कहलानेवाली जातियों में तो इससे कहीं अधिक और बढ़-चढ़कर अनबन हमें देखने को मिलती है । सास-बहू की इस अनबन का मूल कारण मनोवैज्ञानिक सत्य है, जो हर समाज पर लागू होता है । यह वैमनस्य दो स्त्रियों का एक पुरुष के स्नेह के लिए रस्साकसी है । सास को हर समय यह आशंका बनी रहती है—उसका घर में जहां एकछत्र राज्य है, वहां बाहर की एक लड़की अपना अधिकार न जमा बैठे । उधर बहू अपने पीहर से पति और उसके घर पर राज्य करने का स्वप्न लेकर आती है । वह सास की किसी प्रकार की बाधा पसंद नहीं कर सकती । दो स्त्रियों में उनकी आयु का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता । चाहे कितना ही अंतर क्यों न हो । उनका आपस का रिश्ता चाहे जो भी हो, ईर्ष्या होना अनिवार्य है । इसके अतिरिक्त सास-बहू की अनबन नये और पुराने युग का संघर्ष भी है ।

'गीत' हमारी संस्कृति के प्रतीक हमारे सच्चे इतिहास के पृष्ठ हैं । आवश्यकता है—इनके आज नष्ट-भ्रष्ट होने से बचाने की । इनके शोध की । इनके प्रकाशन की, इनके रक्षा की । और तभी हमारी संस्कृति और सच्चे इतिहास की रक्षा संभव है ।

●

तुम मेरा साथ न छोड़ना

रामनारायण उपाध्याय

ओ मेरे जीवन के एकांत क्षणों के साथी ! तुम मेरा साथ न छोड़ना ।

जब तुम मेरे साथ होती हो तो मैं जगत को भूल जाता हूं ।

तुमने मेरे प्यार ही नहीं, दर्द को भी सहलाया है, और सुख ही नहीं दुख में भी साथ निभाया है ।

जब तुम मेरे साथ होती हो तो मैं ग्राम के क्षणों में भी पागल की तरह तुम्हारे संग-संग डोलने और भोजन के समय में भी, तुम्हारा रूप निहारने में सुख अनुभव करता हूं ।

जब तुम मेरे साथ होती हो तो मेरे पास देने के लिए कुछ भी न होने पर भी, मेरे दरवाजे से कोई खाली नहीं जाता और अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ निछावर करने पर भी, मैं पाने-जैसा ही गर्व अनुभव करता आया हूं ।

ओ मेरे जीवन के एकांत क्षणों के साथी, तुम मेरा साथ न छोड़ना ।

जब तुम मेरे साथ होती हो, तो मेरा मन ओसकणों की भांति, निर्मल हो उठता है और उसमें मैं जगत की तसवीर आंकता आया हूं ।

जब तुम मेरे साथ होती हो तो मैं अपने आंसुओं में जगत का दर्द, और अपने प्यार में भी समस्त चराचर से आत्मसात होने की क्षमता रखता हूं ।

तुम्हें लेकर ही मैंने जाने कितने रंगीन सपने संजोये और जाने कितनी मनोरम कल्पनाओं के संग मैं झूला हूं ।

तुम्हें लेकर ही मैं कष्टों में भी मुस्कराया और दर्द में भी गाता आया हूं ।

तुम्हें लेकर ही जगत ने मेरी कड़ी-से-कड़ी आलोचना की, लेकिन तुम्हें खोकर तो मैं स्वयं अपने आपका ही आलोचक हो उठता हूं ।

ओ मेरे एकांत क्षणों की सुकोमल भावनाओं, तुम मेरा साथ न छोड़ना ।

●

कसौटी पर

सुंदरपुर की पाठशाला का पहला घंटा : लेखक जुगतराम दवे, अनुवादक-काशिनाथ त्रिवेदी'

प्रकाशक अ० भा० सर्व सेवा संघ-प्रकाशन, काशी पृष्ठ १४२, मूल्य बारह आना ।

अ० भा० सर्व सेवा संघ के प्रकाशन-विभाग द्वारा इधर बहुत ही उपयोगी पुस्तकें निकली हैं। प्रस्तुत प्रकाशन उन्हींमें से एक हैं। वेड़छी-आश्रम में सफाई को शिक्षा का एक महत्वपूर्ण अंग मानकर ऊंचा स्थान दिया गया था। इस पुस्तक में उस दिशा में किये गये प्रयोगों का वर्णन है। साथ ही वे कल्पनाएं भी की गई हैं, जिन्हें मूर्त्त रूप देने के लिए पुस्तक-लेखक बड़े अभिलाषी थे।

हमारी वर्तमान शिक्षा-संस्थाओं में सफाई को अत्यंत गौण स्थान दिया जाता है और उस काम को हेय दृष्टि से देखा जाता है। प्रस्तुत पुस्तक से पता चलता है कि सफाई का शिक्षा के क्षेत्र में कितना महत्व है और उसके बिना शिक्षा किस प्रकार अपूर्ण रहती है।

शिक्षा के संबंध में नई दृष्टि रखनेवाले व्यक्तियों के लिए यह पुस्तक न केवल उपयोगी है, अपितु प्रेरणादायक भी। हम चाहते हैं कि प्रत्येक शिक्षा-प्रेमी इस पुस्तक को पढ़े। पुस्तक की छपाई शुद्ध और साफ है।

हिंदी जैन-साहित्य-परिशीलन—(२ भाग) : लेखक श्री नेमिचंद्र शास्त्री, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, मूल्य प्रत्येक का २।।)

जैसाकि नाम से स्पष्ट है, प्रस्तुत पुस्तक के दोनों भागों में हिंदी में उपलब्ध जैन-साहित्य की जानकारी दी गई है। निस्संदेह हिंदी में पर्याप्त जैन-साहित्य उपलब्ध है, लेकिन उसमें से अधिकांश को साम्प्रदायिक साहित्य मानकर जैनेतर पाठकों ने उसकी उपेक्षा की है। वस्तुतः बहुत-सा जैन-साहित्य ऐसा है, जो सबके लिए समान रूप से उपयोगी है। प्रस्तुत पुस्तक के अध्ययन से मालूम होता है कि हिंदी में कितना विपुल जैन-साहित्य प्राप्य है और तुलनात्मक दृष्टि से वह कितना लोकोपयोगी है। काव्य, आत्म-कथा, उपन्यास, नाटक, निबंध, जीवन-चरित्र, संस्मरण आदि आदि साहित्य का कोई भी ऐसा अंग नहीं है, जिसपर जैन लेखकों ने उच्च कोटि के साहित्य की रचना न की हो।

इतनी उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करके लेखक ने निस्संदेह साहित्य की अनुपम सेवा की है। उससे प्राचीन काल से लेकर अबतक के जैन-साहित्य की जानकारी तो प्राप्त होती ही है, साथ ही उस साहित्य में अवगाहन कर विशेष आनंद प्राप्त करने की भी इच्छा उत्पन्न होती है।

दोनों भागों की छपाई बहुत ही अच्छी है और आवरण आकर्षक है।

और खाई बढ़ती गई : लेखक—भारतभूषण अग्रवाल, प्रकाशक—भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, पृष्ठ १५० मूल्य अढ़ाई रुपये ।

भारतभूषण जी हिंदी के सुपरिचित लेखक हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उनके आठ रेडियो नाटक संग्रहीत किये गए हैं। नाटकों के चयन में दो बातों का विशेष ध्यान रखा गया है—एक तो यह कि उनमें विभिन्न रसों की सामग्री पाठकों को मिल जाय; दूसरे, जिसके पास जितना समय हो उसी के हिसाब से खेलने के लिए नाटक मिल जाय, अर्थात् थोड़ी-से-थोड़ी और अधिक-से-अधिक अवधि के नाटक। 'महाभारत की सांझ' का कथानक ऐतिहासिक है, 'अजंता की गूंज' काल्पनिक, 'खाई बढ़ती गई', 'युग-युग या पांच मिनट' तथा 'परछाईं' सामाजिक है, 'दृष्टिदोष' तथा 'गीत की खोज' में व्यंग की अच्छी पुट है और 'इंट्रोडक्शन नाइट' में विनोदपूर्ण शैली में कालेज-जीवन का मनोरंजक चित्र उपस्थित किया गया है।

नाटक-साहित्य में इस पुस्तक को अच्छा स्थान प्राप्त होगा, ऐसी आशा है। पुस्तक के सभी नाटक पठनीय हैं।

—सव्यसाची

क्या व कैसे ? हमारी राय

पुण्य-स्मरण

१८५७ की महान् क्रान्ति को अब सौ वर्ष हो चुके हैं और उसकी शताब्दी मनाने का निश्चय करके भारतीय सरकार तथा कांग्रेस ने बड़ा ही शुभकार्य किया है। हमारी आजादी की यात्रा में उस क्रान्ति का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। बहुत से इतिहासकारों ने उसे 'सिपाहियों का विद्रोह' मात्र कहा है, लेकिन बात ऐसी नहीं है। किसी भी बड़े देश को दासता प्रिय नहीं होती। भारत को भी कैसे हो सकती थी। दूसरे, भारतवासियों ने यह अच्छी तरह देख लिया था कि अंग्रेजी शासन भारत के कल्याण के लिए नहीं, बल्कि अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए है। अंग्रेजों के अनाचारों और अत्याचारों से वे तंग आ गये थे। तभी तो विधिवत योजना बनाकर इतनी शक्तियां संगठित हो सकीं। क्रान्ति के संदेश को किस प्रकार देश के कोने-कोने में फैलाया गया, किस कुशलता से सैनिकों को विद्रोह के लिए तैयार किया गया और समय से पहले ही भेद खुल जाने पर किस प्रकार बहादुरी के साथ अंग्रेजों का मुकाबिला किया गया, इसकी कहानी पढ़ कर आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उत्साह से सारा देश पागल हो उठा था। बड़े-से-बड़े नेता से लेकर छोटे-से-छोटे नागरिक तक ने इस क्रान्ति को सफल बनाने में योग दिया। लेकिन अपनी कमजोरियों ने, जिसमें आपसी फूट मुख्य थी, उसकी जड़ पर कुठाराघात किया। हजारों-लाखों व्यक्तियों के बलिदान के बावजूद क्रान्ति दब गई; लेकिन उसकी आग निरंतर लोगों के दिलों में धधकती रही।

हम हिंसा के पक्षपाती नहीं हैं और मानते हैं कि हिंसा के जोर पर कोई भी स्थायी उपलब्धि नहीं हो सकती; किन्तु हमारे महापुरुषों ने यह भी कहा है कि कायरों की अहिंसा से शूरों की हिंसा कहीं अच्छी है। इसके अलावा तत्कालीन ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों पर भी हमें ध्यान देना पड़ेगा। इसलिए हम उन सभी महापुरुषों और वीरांगनाओं के प्रति नतमस्तक हैं, जिन्होंने देश-प्रेम से प्रेरित होकर इस महायज्ञ में अपने प्राणों को होम दिया। भारत के इतिहास में इन सपूतों के नाम सदा अमर रहेंगे।

लेकिन उनका पुण्य-स्मरण हमें इस बात की भी याद दिलाता है कि हमारे राष्ट्र ने जो स्वतन्त्रता पाई है, उसके पीछे त्याग-तपस्या तथा बलिदानों का लम्बा इतिहास है। वह यह भी बताता है कि देश के नव-निर्माण के लिए भी उतना ही साधना और त्याग की आवश्यकता है।

आज देश के सामने सबसे ज्वलंत समस्या उसके नव-निर्माण की है। आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में हमारी स्थिति आज भी प्रायः वैसी ही विषम बनी हुई है, जैसी कि पहले थी। सन् '५७ के 'अमर शहीदों' के अद्वितीय दृष्टांत लोगों में उत्कट देश-प्रेम का आविर्भाव करें और कर्त्तव्यपरायणता की स्फूर्ति एवं प्रेरणा दें, ऐसी हमारी कामना है। उस क्रांति की स्मृति की सुरक्षा के लिए मुख्य रूप से ये दो काम तो होने ही चाहिए—

१. क्रांति का प्रामाणिक इतिहास प्रकाशित हो। यह कार्य किसी एक व्यक्ति के बस का नहीं है। विभिन्न व्यक्तियों से क्रांति के प्रमुख केन्द्रों का विवरण प्राप्त करना चाहिए।

२. स्थल-स्थल पर शहीदों के स्मारकों का निर्माण होना चाहिए। यह काम विभिन्न रूपों में हो सकता है। कहीं मूर्तियां बनाई जा सकती हैं, तो कहीं सड़कों, सार्वजनिक उद्यानों, शिक्षा-संस्थाओं आदि का नाम शहीदों के नाम पर रक्खा जा सकता है। कहीं-कहीं पर स्तम्भ बनाये जा सकते हैं, जिन पर शहीदों के नामों के साथ-साथ राष्ट्र-प्रेम की प्रेरणा देने वाले कुछ चुने हुए सुभाषित रहें।

इन स्थूल स्मारकों के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि देश-प्रेम की जो ज्योति उन 'दीवानों' ने जलाई

थी, वह देश के अभ्युदय के रूप में सतत प्रकाशित होती रहे। यही उन पुण्यात्माओं के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

श्रद्धांजलि

...लि हा म कई ऐसे व्यक्तित्व हमसे छिन गये हैं, जिनके ...नों की पूर्ति शायद ही हो सके। **श्री बाला सा... खेर** को कौन नहीं जानता। उनके जीवन का अधिकांश भा... राजनीति में व्यतीत हुआ था, लेकिन मूलतः वह तत्वनिष्ठ व्यक्ति थे और उनकी सेवाएं बड़ी व्यापक थीं। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में हिन्दी-आयोग के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने देश के विभिन्न भागों का भ्रमण किया। अंतिम दिनों में गांधी-स्मारक निधि के अध्यक्ष की हैसियत से निधि की प्रवृत्तियों और गांधी-विचार-धारा को प्रसारित कर रहे थे। 'गांधी मार्ग' के प्रकाशन की कल्पना उन्हीं की थी।

श्री भारतन कुमारप्पा बड़े तपस्वी थे। उन्होंने उच्च शिक्षा पाई थी और इस योग्य थे कि यश के साथ धन भी कमा सकें, पर गांधीजी के रंग में ऐसे रंगे कि अन्त समय तक उनकी निगाह और कहीं भी न गई। सादा जीवन, उच्च विचार की एक सजीव मूर्त्ति थे। गांधीजी की प्रवृत्तियों में योग दिया, उनकी विचार-धारा को शिक्षित समुदाय में फैलाया।

श्री नरहरि परीख का नाम गांधी-साहित्य को हिन्दी के पाठकों के लिए सुलभ करने के सिलसिले में हमेशा स्मरणीय रहेगा। वे मूक साधक थे। उन्हें काम से काम था, नाम से उदासीन थे। उन्होंने सुन्दर अनुवाद किया है, स्वयं कुछ मौलिक पुस्तकें भी लिखी हैं। कई भाषाओं के ज्ञाता थे।

स्वातंत्र्य-संग्राम के सेनानी **बाबा नरसिंह दास**, जिनका देहावसान अभी हाल ही में हुआ है, उन लोगों में थे जिनके प्रति सम्मान में हमारा सिर अनायास झुक जाता है। राजस्थान के राजनैतिक तथा सामाजिक जागरण में बाबा जी का प्रमुख स्थान था और उन्होंने देशसेवकों की एक लंबी टोली को साधना के पथ पर चलना सिखाया था।

इन चारों के प्रति हम 'जीवन साहित्य' तथा 'मंडल'-परिवार की ओर से श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

हड़तालों का बोलबाला

जब से भारत आजाद हुआ है तब से देशवासियों, विशेषकर नगरवासियों की आशाएं और आकांक्षाएं बहुत बढ़ गई हैं। जब वे सहज भाव से पूरी नहीं होतीं तो उन्हें कोई-न-कोई कठोर कदम उठाना पड़ता है। ऐसा एक कठोर कदम है हड़ताल। आज छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी सभी प्रकार की मांगों के लिए हड़ताल के मार्ग का अवलम्बन किया जाता है। काम के घंटे कम करवाने हैं, वेतन बढ़वाना है, वर्गों का भेद मिटवाना है, अधिकारियों के प्रति अपनी शिकायतें दूर करनी हैं, काम के लिए अधिक सुविधाएं प्राप्त करनी हैं, तो झट हड़ताल प्रारंभ कर दी जाती है और आएदिन हड़तालों के समाचार पढ़ने को और दिल्ली में होने वाली हड़तालों के नारे सुनने को मिलते हैं। हड़ताली का अस्त्र कोई नया नहीं है, पर उसका प्रयोग आज जिस तेजी से हो रहा है, उसे देखकर आश्चर्य होता है, साथ ही इस समस्या पर विचार करने के लिए बाध्य भी होना पड़ता है।

हड़तालों का यह बोलबाला इस बात का द्योतक है कि हमारी वर्तमान सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में कहीं कोई बड़ा भारी दोष है। यदि हड़ताल अनुचित रूप से की जाती है, तो वह इस बात की ओर इंगित करती है कि लोगों में विवेक-बुद्धि नहीं है और यदि हड़ताल उचित रूप में होती है तो उससे स्पष्ट है कि अधिकारी लोग अपने कर्मीजनों के हितों के प्रति जागरूक नहीं हैं। हमारा सामाजिक अथवा राष्ट्रीय जीवन तभी सुचारु रूप से चल सकता है, जबकि हम पारस्परिक सुख-सुविधाओं को ध्यान में रख कर चलें।

हम मानते हैं कि जब आपसी समझौते का मार्ग बन्द हो जाता है, तब हड़ताल का ही प्रायः सहारा रह जाता है। लेकिन जरा-जरा-सी बात पर हड़ताल कर बैठना कदापि उचित नहीं हो सकता, खासकर उन विभागों में, जिनका संबंध आम जनता से आता है। डाक, तार, रेल आदि ऐसे ही विभाग हैं। इनमें हड़ताल का बड़ा ही भयंकर परिणाम होता है और उसका किसी भी रूप में औचित्य नहीं हो सकता। इन विभागों की शिकायतों को दूर करने

के लिए किसी दूसरे रास्ते को अपनाया जाना चाहिए।

हमारा निश्चित मत है कि हड़तालों से थोड़ा-बहुत तात्कालिक परिणाम भले ही निकल आवे, लेकिन उनसे स्थायी लाभ नहीं होने का। दूसरी ओर अधिकारी वर्ग या शासन मरहम-पट्टी करके इस व्याधि को नहीं दबा सकते।

स्थायी हल तो तब निकलेगा जब हमारी आर्थिक विषमता दूर होगी और वर्ग वर्ग के बीच जो चौड़ी खाई बनी हुई है, वह पटेगी। हमारे देश को स्वतंत्र हुए दस वर्ष होने को आरहे हैं, लेकिन समाज में नये मूल्यों की स्थापना तथा आर्थिक असमानता को मिटाने की दृष्टि से कोई विशेष काम नहीं हुआ है। वस्तुतः यह काम किसी एक के बूते का नहीं है। इसके लिए सबको प्रयत्न करना होगा। जिस प्रकार प्रभात के आगमन से अंधकार स्वतः दूर हो जाता है, उसी प्रकार समाज के नव-निर्माण से हड़ताल जैसी व्याधियां अपने आप दूर हो जायंगी। प्रत्येक देशवासी को वह किसी भी वर्ग का क्यों न हो, इसी दिशा में कदम उठाना चाहिए।

भाषा का प्रश्न

दुर्भाग्य से हमारे देश में आएदिन सिरदर्द की चीजें होती रहती हैं। पंजाब में भाषा के प्रश्न को लेकर जो तूफान उठ खड़ा हुआ है, वह भी एक बड़ा सिरदर्द बनता जा रहा है। अभी तक हिन्दी-रक्षा-समिति द्वारा हिन्दी का ही सवाल उठाया गया था, लेकिन अब अकाली दल भी कूद कर मैदान में आ गया है। मास्टर तारासिंह [illegible] होकर यहाँ तक कहने लगे हैं कि हिन्दी की जगह [illegible] फिर अंग्रेजी को बिठा दो। हम इस प्रश्न के विवाद में नहीं पड़ना चाहते, लेकिन इतना निवेदन हम अवश्य करना चाहते हैं कि इस समस्या पर संयत ढंग से विचार होना चाहिए। यह भी जरूरी है कि इस समस्या के बीच में अवांछित तत्वों को न आने दिया जाय। अकाली दल की दृष्टि बराबर संकीर्ण रही है और उसकी सारे देश में आलोचना हुई है। भाषा के इस प्रश्न को सांप्रदायिकता के साथ जोड़ कर उसका कल्याणकारी हल कदापि नहीं निकाला जा सकता। इसी प्रकार हिन्दी-रक्षा-समिति भी संकुचित दृष्टि रख कर हिन्दी के पक्ष को लाभ नहीं पहुंचा सकती।

हम चाहते हैं कि भाषा के प्रश्न की आड़ में अवांछित तत्वों को मनमानी करने का अवसर न मिले और आपसी समझौते से ऐसा कोई सर्वसम्मत हल निकल आवे, जिससे यह अप्रिय विवाद समाप्त हो जाय। भाषा [illegible] इस [illegible] मसले से कहीं अधिक महत्त्व के प्रश्न देश के सामने हैं और [illegible] संगठित प्रयत्न की अपेक्षा रखते हैं। ऐसी अवस्था में कोई भी ऐसी प्रवृत्ति नहीं चलनी चाहिए जो आपस में विग्रह उत्पन्न करे और केन्द्रीभूत शक्ति का अपव्यय करावे।

देश-हित का तकाजा है कि हिन्दी-रक्षा-समिति, अकाली दल, प्रादेशिक शासन तथा केन्द्रीय सरकार के कर्णधार इस समस्या पर जल्दी-से-जल्दी विचार करके कोई मार्ग निकाल लें और इस उलझन को बढ़ने न दें।

हमारा विशेषांक

पिछले एक अंक में हमने पाठकों को सूचना दी थी कि अगस्त मास का अंक १८५७ की क्रांति के विशेषांक के रूप में प्रकाशित होगा। लेकिन बाद में हमने देखा कि इस विषय पर कई अन्य विशेषांक निकल रहे हैं और पत्र-पत्रिकाओं में तत्संबंधी पर्याप्त सामग्री प्रकाशित हो रही है। अतः हमने निश्चय किया है कि घिसी-पिटी सामग्री पर अंक को आधारित न करके उसमें विगत सौ वर्षों में विभिन्न क्षेत्रों में हुई प्रगति का संक्षिप्त लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाय। सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में पिछली शताब्दी में काफी उथल-पुथल हुई है। उसकी जानकारी पाठकों के लिए बड़े महत्त्व की होगी।

हमारा आगामी विशेषांक, जो जनवरी में प्रकाशित होगा, ऐसी ही सामग्री से परिपूर्ण होगा।

पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे विषय से संबंधित रचना भेजें, लेकिन इतना ध्यान रखें कि उनकी कृति सारगर्भित हो और रोचक शैली में लिखी गई हो। रचनाएं अक्तूबर के मध्य तक अवश्य मिल जानी चाहिए।

—य०

'मंडल' की ओर से

हमारा विशेष प्रकाशन

१९[illegible] को सन् १८५७ की क्रांति की शत-संवत्सरी देशभर में मनायी जायगी। 'मंडल' ने इस अवसर पर एक विशेष पुस्तक निकाली है 'अठारह सौ सत्तावन।' जैसा कि नाम से स्पष्ट है, पुस्तक में १८५७ की महान् क्रांति का विस्तृत इतिहास है, बड़ा ही रोचक और रोमांचकारी। इसके लेखक हैं श्री श्रीनिवास बालाजी हर्डीकर। पुस्तक में अनेक प्रामाणिक तथा मौलिक चित्र भी दिये गए हैं, जिनमें से कई तो पहली बार ही प्रकाशित हो रहे हैं।

बापू के पत्र

पाठक जानते हैं कि गांधीजी को बच्चों से बड़ा प्रेम था और बच्चे भी उनके प्रति बड़ा अनुराग रखते थे। समय-समय पर बापू बच्चों को पत्र लिखते रहते थे, जिनमें कोई-न-कोई बोधप्रद बात रहती थी। ऐसे पत्र हजारों की संख्या में यत्र-तत्र फैले हुए हैं। विदेशी बालकों के पास भी इस प्रकार के दर्जनों पत्र होंगे।

हम चाहते हैं कि ऐसे उपयोगी पत्रों का संग्रह किया जाय और उन्हें एक पुस्तकमाला के रूप में प्रकाशित किया जाय, जिससे दूसरे बालक भी उनसे लाभ उठा सकें।

पाठकों से हमारा अनुरोध है कि जिनके पास बापू के ऐसे पत्र हों, जो बच्चों को लिखे गये हों, या बच्चों के के बारे में, उनकी प्रतिलिपि हमें भेज देने की कृपा करें। मूल पत्र किसी भी हालत में न भेजें और उसे अपने पास सुरक्षित रक्खें।

'जीवन साहित्य' के पाठकों से

'जीवन साहित्य' का यह अठारहवां वर्ष है। इन वर्षों में जो कुछ भी सेवा इस पत्र से बन सकी है, इसने की है, आगे भी करता रहेगा। हमें हर्ष है कि पाठकों का इस पत्र के प्रति बड़ा ही आत्मीयता का भाव रहा है। उनमें से बहुतों की इच्छा रही है कि पत्र के पाठकों की संख्या बढ़ती रहे। अतः समय-समय पर ग्राहक बना कर वे भेजते रहते हैं।

पत्र की सार्थकता वास्तव में तभी है, जबकि उसके पाठकों का विशाल समुदाय हो। इस कार्य में हम अपने पाठकों से पुनः सहयोग का अनुरोध करते हैं। पत्र का वार्षिक शुल्क चार रुपये है। अपने-अपने क्षेत्र में यदि पाठक चाहें तो पांच-पांच ग्राहक सहज ही बना सकते हैं। बीस-पच्चीस ऐसे पते भी भेज सकते हैं, जिनसे हमारा कार्यालय पत्र-व्यवहार करके उन्हें ग्राहक बना ले। इससे पाठक-परिवार तो बढ़ेगा ही, साथ ही पत्र का आर्थिक भार भी हल्का होगा।

हम आशा करेंगे कि हमारे पाठक कुछ-न-कुछ ग्राहक बना कर अवश्य [illegible] और २०-२५ संभावित ग्राहकों के पते भी।

●

बालकों को कोई उपयोगी उद्योग सिखाकर उसके द्वारा ही उनके शरीर और मन का विकाश किया जाना चाहिए। अगर मैं कहीं कवि होता, तो पाँच उँगलियों में जो शिक्षण-शक्ति है, उसका मैं गौरव-गान करता। जो लोग अपने हाथों को शिक्षित नहीं करते और केवल मस्तिष्क की ही शिक्षा लेते हैं, उनके जीवन में संगीत नहीं होता।

जब ४० करोड़ जिन्दा मशीनें हमारे पास मौजूद हैं, तो बेजान मशीनों का हम क्यों सहारा लें?

—महात्मा गांधी

●

श्रीनिवास बालाजी हर्डीकर

रजिस्टर्ड नं०
डी. २२८

अठारह सौ सत्तावन

हमारा
नवीनतम
प्रकाशन

सन् १८५७ की
महान् क्रांति का
रोचक इतिहास

इस पुस्तक में सन् १८५७ की क्रांति का बहुत ही विशद् तथा मार्मिक विवरण प्रस्तुत किया गया है।
लेखक हैं—श्री श्रीनिवास बालाजी हर्डीकर
सुन्दर छपाई, आकर्षक कवर, अनेक चित्र, जिनमें कई पहली बार प्रकाशित होंगे। मूल्य २॥)

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा ... प्रिंटिंग वर्क्स, दिल्ली में छपाकर प्रकाशित।

सितंबर, १९५७ अहिंसक नवरचना का मासिक

जीवन साहित्य

अंदर पढ़िए

सम्पादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन

मूल्य
वार्षिक ४) एक प्रति ।=)

सस्ता साहित्य प्रकाशन

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली तथा बिहार राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों, कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम पंचायतों के लिए स्वीकृत

जीवन साहित्य

वर्ष १८] सितंबर, १९५७ [अंक ९

शब्द की शक्ति

विनोबा

साहित्यिक स्वयं नम्र होते हैं। लेकिन नम्र होते हुए भी वे बहुत ऊंचे होते हैं। नम्रता से ही उनकी ऊंचाई बढ़ती है।

शब्द की हम बहुत कीमत करते हैं। शब्द में जो शक्ति है, वह किसी चीज में हमने नहीं देखी। हमारे जीवन पर शब्द का जो असर है, उसके अनुभव से हम यह कह रहे हैं। पाणिनी का एक सूत्र है: "एक: शब्द: सम्यक् ज्ञात: सम्यक् प्रयुक्त: स्वर्गलोके कामधुक भवति।"—एक शब्द का भी उच्चारण होता है, तो 'स्वर्गलोके कामधुक् होता है! संस्कृत भाषा में शब्द-शक्ति पहले बहुत प्रकट हुई। अंग्रेजी भाषा में भी लाखों शब्दों का संग्रह है। परंतु वह केवल शब्द-संग्रह होता है, उससे शब्द-शक्ति प्रकट नहीं होती। एक-एक यंत्र के असंख्य पुरजे होते हैं। प्रत्येक का अलग-अलग नाम होता है। इस तरह एक-एक यंत्र में दस-दस, पचास-पचास शब्दों का उपयोग होता है। परंतु ऐसे शब्द-भंडार से शब्द-शक्ति बढ़ती है, ऐसा नहीं! वह तो ऐसी बात है कि जीवन में जितना परिग्रह बढ़ेगा, जितना कचरा बढ़ेगा, उतने शब्द भी बढ़ेंगे! वह तो शब्दों का ढेर ही होगा। पर उससे विचार-संपदा नहीं बढ़ती। अंग्रेजी में विचार-संपदा बहुत है, लेकिन हम संस्कृत में शब्द की जो महिमा देखते हैं, वह महिमा वहां नहीं है। पचास नई-नई चीजें बनेंगी, तो उनके लिए पचास नये शब्द होंगे। परंतु ऐसे शब्दों के संग्रह से व्यर्थ परिग्रह हो जाता है, यह अब पाश्चात्य लोग भी समझ गये हैं। इसलिए एक-एक यंत्र के एक-एक पुरजे को वे अलग-अलग नाम नहीं देते, आंकड़ों में नाम देते हैं। किसी यंत्र का पुरजा खरीदना है, तो कहेंगे: "फलां यंत्र का पुरजा नंबर फलां-फलां।" आंकड़ों में ही मांग भी की जायगी! इस तरह यंत्रों के पुरजों को अनेक नाम देने के बजाय आंकड़ों से काम लेने लगे।

परंतु संस्कृत में हम क्या देखते हैं? संस्कृत में विचार के प्रतिनिधि के तौर पर शब्द बनाये हैं। जैसे, यह 'पृथ्वी' है। इंगलिश में कहते हैं, 'अर्थ', लैटिन में कहेंगे 'टेरा'। इस तरह एक शब्द है, 'अर्थ', और दूसरा शब्द है 'टेरा'। लेकिन संस्कृत में पृथ्वी के लिए पचास शब्द मिल जाते हैं। 'पृथ्वी' याने फैली हुई, 'धरा'—धारण करनेवाली, 'भूमि'—तरह तरह के पदार्थों को जन्म देनेवाली, 'गुर्वी'—भारी; वजनदार, 'उर्वी'-विशाल, 'क्षमा'—सहन करनेवाली; हम लात मारते हैं, तो भी वह सहन करती है। इस प्रकार एक-एक शब्द एक-एक गुणवाचक है। एक-एक शब्द के साथ उसका एक-एक गुण ध्यान में आयेगा। कवि कविता में कोई भी शब्द मात्रा देखकर रख देते हैं। वे समझते हैं कि छंद बनाने के लिए ही इतने शब्द हैं। पर वे छंद के लिए नहीं हैं। विशेष गुण-दर्शन के लिए, एक-एक वस्तु के लिए वे अनेक शब्द हैं। जब हम व्यापक, फैली हुई "पृथ्वी" कहते है, तो हम उस पदार्थ

की तरफ अंदर से देखने लगते हैं।

इस तरह संस्कृत शब्दों में विचार भरा है, इस वास्ते हरेक शब्द हमसे बात करता है ! इस तरह अंग्रेजी में शब्द बात नहीं करता ! 'वॉटर' शब्द हमसे बात नहीं करता, हम ही उससे बात करें, तो बात अलग है ! लेकिन संस्कृत शब्द हमसे बात करने लगता है। 'पयः'—पोषण करनेवाला। "पानीयम्—तृप्त करने वाला। 'उदकं' अंदर से बाहर आया हुआ। 'समुद्र' छोटा-सा शब्द दीखता है; लेकिन वह भी बात करता है। 'सम' याने चारों तरफ समान फैला हुआ, 'उद्' याने ऊंचा उठा हुआ, ऊंचा आया हुआ पानी। 'रम' याने आह्लाददायक—जो खेल रहा है, उछल रहा है, आनंद देता है। तो 'समुद्र' याने सम-उद्-रम ! 'समुद्रात् ऊर्मिः मधुमान् उदारत।' वेद ने कहा है : इस हृदय में समुद्र के समान असंख्य भावनाएं उठती हैं। यह हृदय याने समुद्र ही है। समुद्र का दृश्य इस हृदय में प्रकट होता है। पर 'सी' (sea) कहेंगे, तो क्या होगा ? है वह एक पदार्थ। वह शब्द बोलता नहीं, मूक है।

'दुग्धम्'—दोहन किया हुआ सार रूप ! 'घृतम्—अत्यंत पवित्र, निर्मल, कचरा निकाला हुआ। 'घृतं में चक्षुः' विश्वामित्र बोल रहा है: 'मेरी आंख घी है।' किसी अंग्रेजी या दूसरी भाषा में यह नहीं देखा कि कोई कहे, 'मेरी आंख घी है!' 'घृतं मे चक्षुः' कहा, तो उसका अर्थ है, 'मेरे चक्षु इतने पवित्र हैं कि उनमें किसी प्रकार का पाप ग्रहण करने की शक्ति नहीं है, वह अत्यंत निर्मल और स्वच्छ है।'

'अग्नि' याने 'फायर'। पर 'फायर' कहने से कुछ बोध हुआ ? कुछ नहीं। लेकिन 'अग्नि', अंजानात् अग्निः, तो रूप प्रगट होगया, व्यक्त होगया। 'वह्निः'—वह वाहक है, ले जाता है, संदेश-वाहक है। यज्ञ में आहुति डालते हैं, तो वह अग्नि आपकी भक्ति ऊपर भगवान् के पास पहुंचाता है। तो 'अग्निमिले पुरोहितम्' के बदले 'वह्नि मिले पुरोहितम्' नहीं चलेगा ! बिल्कुल ही दूसरा अर्थ होगा ! इस तरह एक-एक शब्द का विशेष महत्व है। संस्कृत में एक-एक शब्द का व्यक्तित्व है। 'पीयुषं', 'अमृतं', 'सुधा'; ये तीन शब्द अमृत के लिए हैं, परंतु हरेक से विशेष अर्थ का बोध होता है। 'अमरा निर्जरा देवाः' अमरकोश का आरंभ ही इस वाक्य से होता है। 'अमरा' अलग है और 'निर्जरा' भी अलग है। अमर तो वह है, जो मरता नहीं। लेकिन मान लो कि बूढ़े हैं, रोग से पीड़ित हैं, तो क्या वे अमर होना पसंद करेंगे ? वे तो भगवान् से प्रार्थना करेंगे कि हमें जल्दी ही लेजा ! इसीलिए 'निर्जरा' कहा है। 'निर्जरा' याने जरा-रहित। जरा-रहित होंगे, तभी तो वे अमर हो सकते हैं।

संस्कृत का शब्दकोश भी काव्य रखता है। एक शब्द की कितनी तरह से व्युत्पत्ति होती है ! एक शब्द के अनेक अर्थ और अनेक अर्थ का एक शब्द ! इसलिए वाक्-प्रकाशन निर्मलता से संस्कृत में जितना होता है, उतना शायद ही किन्हीं दूसरी भाषाओं में होता होगा। मैं कहना चाहता हूं कि इस देश में शब्द-शक्ति बहुत है। अरेबिक, ग्रीक, लैटिन इनमें भी कुछ शक्ति है। उनसे कुछ तुलना हो सकती है, परंतु संस्कृत का शब्द जैसे व्याख्यान देना शुरू करता है, वैसे वहां के शब्द नहीं देते। "घट" शब्द है। "घट" याने घड़ा। परंतु "घट" याने शरीर, यह भी अर्थ होता है। घड़े में पानी रखते हैं, वैसे इस शरीर में क्या है ? पानी ही भरा है। हम स्वागत करते हैं, पानी से भरे हुए घड़े द्वारा, पूर्ण कुंभ से। तब हम क्या दिखाना चाहते हैं ? यही कि हमारा सारा हृदय भक्तिभाव से भरा है। इस अर्थ में वह "घट" शब्द काम देगा। नानक ने कहा है 'प्रभु घट-घट में भरा है।" हमारे सामने जो बैठे हैं, सब घट ही हैं, सब भरे हैं ! यह पता नहीं कि किससे वे भरे हैं! यह भी हो सकता है कि कुछ नाहक चीजों से भी भरे होंगे। कहने का मतलब यह कि "घट" शब्द की यह खूबी है। 'पॉट' (Pot) कहने से वह प्रकट नहीं होती, क्योंकि घट की एक घटना है न ? हमारा शरीर एक घटना रखता है। वैसे तो "घट" शब्द घटना को सूचित करता है। इस तरह अंग्रेजी, फ्रेंच आदि शब्द हमको उनके अन्दर पैठने नहीं देते, लेकिन यहां के शब्द हमको अपने में प्रवेश देते हैं। इसीलिए शब्द की शक्ति प्रकट होती है।

"चक्षु" शब्द है। "चक्षु" धातु निर्मलता, स्वच्छता

का द्योतक है। आंख से हम कितना बोलते है, उतना मुंह से नहीं बोलते । हमको गुस्सा आता है, तो आंख बोलती है ! अंदर करुणा है, तो आंख बोलती है ! शब्द से अधिक प्रकाश आंख देती है। उसी तरह "व्याजचक्षते" याने व्याख्यान देना । चक्षु पर से ही व्याख्यान शब्द निकला है । हम हिंदुस्तान के लोग ज्यादा व्याख्यान सुनाना नहीं चाहते, इतनी हमारी महापुरुषों के दर्शन पर श्रद्धा है। उनकी आंखों से जो दीखता है, वह किसीसे भी प्रकट नहीं होता ! उनकी आंख में कारुण्य भरा रहता है। "कारुण्य" याने भी क्या ? मर्सी, काईन्डनेस—कुछ भी कहो; लेकिन अर्थ प्रकट नहीं होता। परंतु "करुणा" क्या कहती हैं ? वह कुछ-न-कुछ 'करने' की प्रेरणा देती है। हृदय में प्रेम है, परंतु करने की प्रेरणा नहीं, तो वह 'करुणा' नहीं । करुणा चुप नहीं बैठती । लोग पूछते हैं, "बाबा घूमता क्यों है ? थकता कैसे नहीं, इतना घूमने पर भी ?" तो यह करुणा ही है, जो उसे घुमाती है। वह कुछ करने के लिए बाबा को प्रेरित करती है, बैठने नहीं देती। बच्चे को बिच्छू ने काटा, तो क्या हम देखते ही रहते है ? एकदम सेवा करने के लिए दौड़े नहीं जाते हैं ? करुणा भी आसन पर बैठने नहीं देती, उठने की ही प्ररणा देती है । यह हमारी "बुद्धि" है ! वह बोध देती है, यह उसका विशेष लक्षण है। हमारे सामने शुभ्र वस्त्र हम देखते है । शुभ्र याने क्या ? "शुभ्र" याने पवित्र । "शुभ्र" यान सिर्फ 'ह्वाइट' नहीं। शुभ शब्द के साथ उसका संबंध है। शोभा से भी उसका संबंध है। तो सौंदर्य, पावित्र्य एक कर दिया है। सामने "शुक्र" का आकाश में उदय होता है । शुक्र पवित्र है। "शुचि" शब्द से शुक्र हुआ है। उसे देखते हैं, तो पावित्र्य की भावना प्रकट होती है। "सूर्य" है। वह प्रेरणा देता है। "सू" धातु से "सूर्य" बना । "सूर्य" यान प्रेरणा देना। "मित्र" शब्द है । मित्र क्या करता है ? प्रेम करता है। सूर्य को "मित्र" संज्ञा हिंदुस्तान के लोग देते है। उसकी किरणों से, वे प्रखर होती हैं, तो भी हम घबड़ाते नहीं। मित्र तो वे होते हैं, जो हमसे कार्य कराते हैं। हम सोते रहते हैं, तो वह जागता है। बैठे हैं, तो वह काम करवायेगा। यह सारा 'यत्न करने वाला' मित्र है। तो 'मित्र' संज्ञा केवल सूर्यवाचक ही नहीं है, 'प्रेम से सबकी सेवा करने वाला' अर्थ भी उसमें आता है। हम यहां बैठे हैं। कमरे के दरवाजे बंद हैं। सूर्य नारायण बाहर उग रहा है, तो वह क्या करता है ? वह हमारी सेवा करना चाहता है । सेवक के नाते हमारे दरवाजे पर हाथ रखकर तत्पर रहता है । हम थोड़ा-सा दरवाजा खोलेंगे, तो थोड़ा-सा ही वह अंदर आयेगा । एकदम पूरा खोल देंगे, तो वह भी अंदर मुक्त रूप से प्रवेश करेगा । परंतु दरवाजा बंद है, इस वास्ते धक्का नहीं देगा दरवाजे को । बाहर खड़ा रहेगा ! यह "मित्र" की मर्यादा है ! वह कभी गैरहाजिर नहीं रहेगा। स्वामी चाहे सोता रहे देर तक, पर वह नहीं सोयेगा ! इस तरह सेवक का पूरा चित्र सूर्य में हम देख सकते हैं। इस प्रकार शब्द हमसे बोलते हैं।

इस प्रकार की साहित्य-शक्ति भारत में है, इसपर आपका अभी तक ध्यान नहीं गया है। ध्यान तबतक नहीं जायगा, जबतक हम जीवन के अंदर प्रवेश नहीं करेंगे। 'सुमन' याने उत्तम पुष्प । वह हम अर्पण करते हैं, याने हमारा स्वच्छ, निर्मल जो मन है, वह हम अर्पण करते हैं। यह "सुमन" की खूबी दूसरे शब्दों में नहीं है। तो, यह सब ध्यान में रखकर हमको अपना चिंतन ठीक ढंग से करना चाहिए, तभी हिंदुस्तान का चिंतन दूसरे देशों से भिन्न होगा। आज क्या करते हैं ? बाहर से इम्पोर्टेड-शब्द लाते हैं और हमारी भाषा में लादते हैं। परिणाम यह होता है कि हमारे जीवन में वह शब्द 'एसिमिलेट' (हजम) नहीं होता।

अब 'सेक्युलर स्टेट्' की ही कल्पना कीजिए। यह बिल्कुल एकांगी कल्पना है ! वह हमसे 'एसिमिलेट' नहीं हो सकती। यूरोप में वैसी परिस्थिति थी, तो वहां वैसा रिवाज चल सकता था। हिंदुस्तान में 'धर्म' शब्द निकला। धर्म याने क्या ? धर्म याने सबको धारण करना है। स्टेट् का भी धारण करना है। 'स्टेट् का धर्म से कोई ताल्लुक नहीं', ऐसा कोई कहता है, तो इस बात का हिंदुस्तान में बिल्कुल ही अलग अर्थ होता है ! क्या ऐसा है कि 'सेक्युलर' याने परलोक का विचार नहीं करना चाहिए और इहलोक का विचार करनेवाली

ही यह संस्था है ? फिर भी एकता, समता को तो मानते हैं ! तब यह विरोधी कल्पना लोग कैसे मान सकते हैं ? इहलोक की तो प्रतिष्ठा करेंगे और सबको समान वोट का अधिकार भी देंगे ! तो बताइए कि समान वोट के अधिकार-अधिष्ठान क्या भौतिक सृष्टि के अनुकूल है ? इसका कोई उत्तर उनके पास नहीं है। बाह्य समानता तो किसी भी हालत में नहीं हो सकती, क्योंकि एक शख्स बलवान् होता है, तो दूसरा दुर्बल। तो स्पष्ट है कि हमारे शरीर से यह संबंधित नहीं है। बुद्धि के आधार पर निर्णय लिया हो, तो किसीको बुद्धि होती है, किसी को नहीं है। एक घर में ज्ञानी भी होता है, अज्ञानी भी। तो फिर सबको एक वोट का अधिकार देने के पीछे क्या हेतु है ? इसका उत्तर आध्यात्मिक सृष्टि में गये बगैर नहीं मिलेगा ! जहां आपने एक वोट का अधिकार सबको दिया, वहां आपने आत्मिक एकता कबूल की। अगर बुद्धि तक ही आप सीमित रहना चाहते हैं, तो 'हरेक मनुष्य को एक वोट', यह विचार ही खत्म हो जाता है ! फिर भी सबको एक वोट दिया है, तो आपने कौन-सा साम्य देखा ? क्या भौतिक साम्य देखा ? नहीं, आत्मिक साम्य ही देखा है। इसका मतलब है कि आपने आत्मा की एकता मान्य की है ! 'हम तो केवल भौतिक चिंतन करते हैं', यह दावा अब आप नहीं रख सकते ! याने 'सेक्युलर स्टेट्' में 'स्पिरिचुअल वैल्यू' आपने मान्य की ! 'सेक्युलर स्टेट्' शब्द की न्यूनता ध्यान में आई, तो सबको एक वोट का अधिकार दिया गया ! तो, ठीक शब्दों का उपयोग करते हैं, तो अच्छा है, अन्यथा उससे गलत धारणा भी हो जाती है। 'इंडिपेंडेंस' कितना निकम्मा शब्द है ! दुनिया में क्या होता है ? हर शख्स तो एक दूसरे पर अवलंबित है ! तब कहां रहा इंडिपेंडेंस ? लेकिन 'स्वराज्य' पाजिटिव (भावात्मक) अर्थ बताता है। स्वयमेव राज वह होता है। वह स्वयं-प्रकाशित होता है। आज तो हम यहां परदेश की ही बुद्धि लेते हैं, तो वह 'स्वराज्य' कैसा होगा ? केवल हमारा राज हम चलाते हैं, इतने से क्या होगया 'स्वराज्य' ? वेद में आदित्य को स्वराज्य की उपमा दी है ! सूर्य है "स्वराट्" क्योंकि वह स्वयंप्रकाशित है। चंद्र है, पर-प्रकाशित। वेद में अत्रि के मंडल में कहा है : "य ते महि स्वराज्ये"— "स्वराज्य के लिए हम यत्न कर रहे हैं।" आप क्या समझते हैं कि उस जमाने में किसीका उनपर राज था या वे परतंत्र थे ? ऐसा अर्थ नहीं है। मतलब यह है कि जबतक बुद्धि आत्मनिष्ठ नहीं होती, तबतक स्वराज्य नहीं ! अंदर से प्रकाश मिलेगा, तो स्वराज्य प्रकट होगा। परंतु आप कहते हैं, इंडिपेंडेंस ! परंतु किसीका किसी से बनता नहीं !

आप कहते हैं, 'सोशिआलिस्टिक स्टेट्' बनानी है। हिटलर का भी एक प्रकार का सोशआलिज्म ही था ! तो इस शब्द से कुछ अर्थ ही नहीं निकलता। व्यक्ति को समाज से अलग निकालते हैं और समाज को व्यक्ति से अलग समझते हैं, तब कैसे अर्थ निकलेगा ? जो कल्पना से भी अलग नहीं हो सकते, उनको तो पहले अलग कर दिया और फिर दोनों के बीच का झगड़ा मान्य किया ! अब कहते हैं उसको मिटाने के लिए 'सोशआलिज्म' लाना चाहिए !

आज हरेक अपना-अपना ही हित देखता है। सारा चिंतन ही गलत ढंग का चल रहा है। जबतक हम अपने शब्द की शक्ति नहीं पहचानेंगे और पश्चिम से शब्द लेते जायंगे, तबतक हमारा चिंतन ऐसा ही गलत ढंग से जारी रहेगा। हम अपने शब्दों में चिंतन करेंगे, तो सारी दुनिया से हमारा चिंतन भिन्न रहेगा। यह सारा साहित्यिकों को करना है। अंग्रेजी, चीनी, जापानी, फ्रेंच आदि अनेक भाषाओं में साहित्य है। यह ठीक है कि जो अच्छी चीज है, हमारे लायक है, वह वहां से लेनी चाहिए। पर ऐसी ही चीज हम लें कि जो हमारे शब्दों में पैठती है। अगर वह चीज हमारे शब्दों में ठीक पैठती है, तो वह कल्पना हमारे लिए ठीक है। अगर नहीं पैठती है, तो गलत है। आज बहुत-से गलत शब्द हमारे चिंतन में पैठ गये हैं। परिणामस्वरूप गलत चिंतन होता है। इसलिए शब्द-शोधन का कार्य साहित्यिकों को करना चाहिए। ठीक शब्द लोगों के सामने रखने चाहिए, तब बहुत-से झगड़े मिटेंगे।

एक भाई ने पूछा : "अनेक संत पुरुष होगये। उन्होंने

कई बातें कहीं हैं। परंतु बिना 'फोर्स' के क्या कोई काम हो सकता है?" सोचने की बात है कि इतने संत-महात्मा हो गये, इसीलिए हम आज जैसे हैं, वैसे बने हैं। अगर वे नहीं होते, तो हम जानवर बने रहते। हम कहां से कहां आगये हैं! महाभारत का प्रसंग है। सवाल उपस्थित हुआ कि पत्नी पर पति का हक है या नहीं। सवाल कठिन मालूम हुआ। बड़े-बड़े ज्ञानी विद्वान वहां थे, परंतु "भीष्म, द्रोण, विदुर भये विस्मित"—कोई भी उसका जवाब नहीं दे सका। लेकिन आज का बच्चा-बच्चा इसका जवाब जानता है। विदुर याने क्या? पाणिनी का सूत्र है: "यथा विदुर भिदरौ।" भेद करने में अत्यंत प्रवीण, वे 'भिदुर' होते हैं। भिदुर याने तोड़ने-फोड़ने वाला। तोड़न-फोड़नेवाला तो वज्र होता है। वज्र को भिदुर कहते हैं। सूत्र में यही बताया है कि विद् और भिद् ये ही दो ऐसे धातु हैं, जिनको "उर" प्रत्यय लगाकर विशेष अर्थ के शब्द बने हैं। "भिद्" धातु को "उर" प्रत्यय लगाकर "भिदुर" बना, जिसका अर्थ होता है, भेदन करने में प्रवीण और "विद्" धातु को "उर" प्रत्यय लगा कर "विदुर" बना है, जिसका अर्थ है, महाज्ञानी। ऐसा महाज्ञानी वहां बैठा है, फिर भी निर्णय नहीं हो सका! सवाल यही था कि चैतन्यमय प्राण को 'पन' में लगा सकते हैं कि नहीं? धर्मराज धर्मनिष्ठ, सत्यनिष्ठ राजा था। उसको द्यूत का निमंत्रण दिया गया, तो वह "नहीं" न कह सका। समझता था कि "नहीं" कहना धर्म के विरुद्ध है। आज तो कानून भी कहेगा कि द्यूत खेलना गैर-कानूनी है, अनैतिक है। लेकिन उस वक्त युधिष्ठिर "नहीं" न कह सके। डर था कि अधर्म होगा! कितनी छोटी-छोटी कल्पनाए थीं! परंतु वहां से आप-हम यहांतक आये हैं तो यह सारा सत्पुरुषों का ही कार्य है।

आज दुनिया में सारे "वर्ल्ड पीस" के लिए प्रयत्न कर रहे हैं; लेकिन बनता कुछ नहीं। इसका मतलब यह नहीं कि संतों ने, महापुरुषों ने जो कार्य किया उसका कुछ भी असर नहीं हुआ है। 'पीस' आज इसलिए नहीं है, क्योंकि उस शब्द में कुछ भी अर्थ नहीं है! वह शब्द ही अर्थ-शून्य है। जिसको हम शांति कहते हैं, वह 'पीस' नहीं है। वह 'पीस' तो 'वायलेन्ट' भी हो सकती है! किसी देश पर व्यापार-बहिष्कार डाला जाता है। यह बिल्कुल 'पीसफुल एक्शन' है। लेकिन इसमें भी हिंसा होती है। तो यह शांति नहीं है। शांति शब्द का 'पीस' के साथ कोई संबंध नहीं है। 'पीसफुल' याने प्रत्यक्ष लाठी नहीं चलायेंगे,; बल्कि युक्ति-प्रयुक्ति से किया हुआ काम भी 'पीसफुल' माना जाता है! इसीलिए 'पीस' 'विश्व-शांति' करने में निकम्मी है। पाश्चात्य शब्द के परिणाम-स्वरूप हमारे चिंतन में ये सारे विचार-दोष आते हैं। इसीलिए साहित्यिकों के सामने इतना ही कहना है कि आप शब्द-शुचित्व की तरफ ध्यान दें। शुद्ध शब्द का आविष्कार होगा, तो आचार-विचार शुद्ध होगा।

एक भाई ने हमको पूछा, "तुम दान क्यों मांगते हो?" यह सवाल ही क्यों पैदा होता है? दान का अर्थ मालूम नहीं, इस वास्ते यह सवाल पैदा होता है। शंकराचार्य ने दान का अर्थ बताया है, "दानं संविभाजनम्"। "दा" धातु का अर्थ ही "विभाजन" होता है। "दा" का अर्थ है—दो टुकड़े करना! विभाजन करना, यह मूल अर्थ है। जब ये सारी चीजें मालूम हों, तब तो शंका नहीं आयेगी। यह मालूम नहीं है, इस वास्ते 'दान' खराब मालूम होता है! दया खराब, करुणा खराब, वैराग्य खराब, संन्यास भी खराब, तो बताइए कि अच्छा क्या है? इस तरह अच्छ-से-अच्छे अर्थ वाले शब्द ही खतम हो गये, तो आखिर बचेगा क्या? [१]

---

१. केरल के साहित्यिकों के बीच

नई तालीम का शिक्षक

सिद्धराज ढड्ढा

हमने ग्रामदान के संदर्भ में नई तालीम की योजना के बारे में काफी चर्चा की हैं। ग्रामदान के वातावरण और ग्रामदान के बाद गांव की नई रचना के बारे में हमने सांगोपांग विचार किया है। पर इस सारी अहिंसक क्रांति का पुरस्कर्त्ता और वाहन तो गांव का सेवक या नई तालीम का शिक्षक होगा। हमारी क्रांति के जो नये मूल्य हैं, उनके प्रकाश में वह सेवक कहां है, इसपर भी हमें गहराई से विचार करना चाहिए।

एक सेवक और दूसरा सेव्य ऐसे दो वर्ग जबतक रहेंगे तब तक शोषण की प्रक्रिया बंद कैसे होगी? समाज में से शोषण का अंत करना हो, प्रेममूलक समाज-रचना करनी हो तो आज उत्पादक और अनुत्पादक ऐसे दो वर्गों में जो समाज बंटा हुआ है, उसकी एवज उत्पादकों का समरस समाज बनाना होगा। अतः सेवक को भी उत्पादक की भूमिका पर आना होगा, ताकि सेव्य अलग और सेवक अलग, ऐसा भेद समाज में न रहे। बुद्धिवाले लोग नाना प्रकार से श्रमिक वर्ग का शोषण करते रहे हैं। अलग सेवक वर्ग का अस्तित्व भी इस प्रकार के शोषण का एक जरिया बना रहेगा।

दुनिया के इतिहास में अबतक यही हुआ है कि क्रांति करनेवाला खुद क्रांति के नये मूल्यों से अलग-सा रहा। इसीमें से प्रतिक्रांति का जन्म होता है। हम श्रमनिष्ठ, समरस उत्पादक समाज बनाना चाहते हैं, जन-जन तक प्रेममूलक क्रांति का संदेश पहुंचाना चाहते हैं तो हमें जनता के साथ तादात्म्य सिद्ध करना होगा। हममें से बहुत-से लोगों ने अनेक कष्ट सहन किये हैं। बड़े-बड़े त्याग भी किये हैं, अपना जीवन-स्तर भी पहले की अपेक्षा बहुत नीचा किया है, पर यह सब गुणात्मक (qualitative) परिवर्तन नहीं हुआ है, संख्या पदक (quantitative) परिवर्तन ही हुआ है। पहले ज्यादा भोग करते थे अब कम करते हैं, पर जो हमारा सेव्य है——उत्पादक वर्ग——किसान और मजदूर है——उसके और हमारे बीच आर्थिक दृष्टि से एक जो मौलिक अंतर पहले था वह इतने त्याग के बाद भी बाकी रहा है। वह अंतर यह है कि हम कितना भी कम निर्वाह-व्यय लेते हों पर हमारे जीवन में एक प्रकार की आर्थिक सुरक्षा (economic security) है जो आज उत्पादक वर्ग को प्राप्त नहीं है। किसान पूरा श्रम करता है फिर भी अंत में फसल कैसी और कितनी उतरेगी वह निश्चित नहीं है, उसमें से शोषण कितना हो जायगा यह बात तो अलग ही है। शहरों में मजदूरी करनेवाले चंद संगठित मजदूरों के अलावा देश के ८० फीसदी मजदूरों को रोज मजदूरी मिलने का भरोसा भी नहीं है। आज मजदूरी मिली तो घर में चूल्हा जला और बाल-बच्चों को रोटी मिली। कल मजदूरी नहीं मिली तो एकादशी हुई। हम हजार पांचसौ न लेकर सेवा-कार्य के बदले में साठ-सौ रुपया ही माहवार लेते हैं——बहुत त्याग है इसमें शक नहीं है परंतु जो लेते हैं उतनी हद तक आर्थिक सुरक्षा हमें प्राप्त है। जिस तरह किसान-मजदूर का जीवन आज अनिश्चित है उस तरह हमारा नहीं है, न उसकी तरह उत्पादक शरीर-श्रम से हमारी आजीविका जुड़ी हुई है।

यह अंतर मौलिक है, और इसीके कारण आज हमारे और आम जनता याने उत्पादक वर्ग, के बीच सच्चे माने में सह-अनुभूति (सहानुभूति) भी स्थापित नहीं हो पाती। तादात्म्य की बात तो दूर है। एक दीवार उनके और हमारे बीच में खड़ी है जो हमें समरस होने से रोकती है। देश के करोड़ों लोगों की तरह जबतक सेवक के जीवन में श्रम एक सहज अंग नहीं बन जाता तबतक सर्वथा शोषण-मुक्त समाज की कल्पना करना व्यर्थ है। सेवक और सेव्य का भेद मिटाने के लिए हमें भी मेहनत की भूमिका पर आना होगा। जैसा पूज्य बापू ने बताया था समाज में हर व्यक्ति चार घंटे शरीर श्रम करे और चार घंटे समाज सेवा या बौद्धिक कार्य, और इस चार घंटे के उत्पादन से शरीर यात्रा चले। इस आदर्श को हमें पहुंचना है।

हमारी क्रांति में दूसरी मुख्य बात अपरिग्रह की है।

(शेष पृष्ठ ३२९ पर)

चीन में हिंदी

सत्यदेव विद्यालंकार

"हिंदी के प्रति चीनियों के अनुराग को यदि व्यापक नहीं तो गहरा अवश्य कहा जा सकता है। उसको संख्याएं देकर नहीं लिखा जा सकता। अपने चार वर्ष के अनुभव के आधार पर मैंने ऐसा कहने का साहस किया है,"—ये हैं वे शब्द, जो पेकिंग विश्वविद्यालय में हिंदी के लेक्चरार श्री भानुचंद्र वर्मा ने मुझसे मिलने पर कहे। वह वहां १९५२ में पेकिंग विश्वविद्यालय में हिंदी के अध्यापक नियुक्त होकर गये थे। हिन्दी के अध्यापन की वहां पहले कोई परंपरा अथवा निश्चित पाठ्यक्रम न होने से जो कठिनाइयां उठानी पड़ीं उनकी चर्चा करते हुए श्री वर्मा ने कहा कि कई परीक्षणों के बाद अब हमने हिंदी की पढ़ाई का चार वर्ष का पाठ्यक्रम स्थिर कर लिया है। पहले वर्ष में चीनी अध्यापक विद्यार्थियों को कक्षा अभ्यास कराना प्रारंभ करते हैं। कक्षा अभ्यास के बाद उनको हिन्दी के उच्चारण का अभ्यास कराया जाता है। यह काम बड़े धैर्य और बड़ी मेहनत का है। उच्चारण ठीक किये बिना हिंदी का अभ्यास प्रारंभ नहीं किया जा सकता। हमारे साथी भाई पुरुषोत्तमजी इस अभ्यास के कराने में बहुत सफल सिद्ध हुए हैं। उनका धैर्य, कितनी भी मेहनत क्यों न करनी पड़े, कभी टूटता नहीं। उच्चारण ठीक कराने के बाद हमने पचास ऐसे प्रारंभिक पाठ तैयार किये हैं, जिनके द्वारा विद्यार्थियों को हिंदी के साधारण व्याकरण और उसके अनुसार हिंदी की शिक्षा दी जाती है। इनमें बहुत छोटे-छोटे वाक्य दैनिक जीवन से संबंध रखने वाले रखे गये हैं। हमारा यह परीक्षण बहुत सफल सिद्ध हुआ है। दूसरे वर्ष में चुनी हुई छोटी-छोटी कहानियां पढ़ाई जाती हैं। उदाहरण के लिए प्रेमचंदजी की एक कहानी को हमने छोटा रूप देकर उसके कठिन शब्द और कठिन वाक्य सब निकाल दिये हैं। अत्यंत सरल शब्दों में कहानी पढ़ा दी जाती है। तीसरे वर्ष में कुछ गहरा साहित्यिक ज्ञान कराया जाता है। चौथे वर्ष में कठिन-से-कठिन हिंदी का ज्ञान कराने में फिर कोई कठिनाई नहीं रहती। चार वर्षों के इस पाठ्यक्रम के बाद विद्यार्थियों के लिए हिंदी विदेशी भाषा नहीं रहती। वे उसको ऐसा अपना लेते हैं कि अपना सब काम हिंदी में आसानी से करने के योग्य बन जाते हैं।

"यह आप कैसे कह सकते हैं कि आपका यह परीक्षण सर्वथा सफल सिद्ध हुआ है ?"—मेरे यह पूछने पर आपने कहा कि हमारे विद्यार्थियों ने अपनी सरकार के अनेक विभागों में हिंदी का काम बहुत सफलता से संभाल लिया है। अनेक दूतावासों में वे काम कर रहे हैं। अपनी सरकार के परराष्ट्र विभाग, उद्योग-व्यापार-विभाग, तथा सांस्कृतिक विभाग आदि में उनकी नियुक्ति की गई है। विदेशी भाषा प्रकाशन विभाग में और दुभाषिये का काम करने में वे सफल हुए हैं। बड़े-बड़े समारोहों में, जिनका संबंध भारत के साथ होता है राष्ट्रपति माउत्सेतुंग और प्रधानमंत्री चाऊ इनलाई आदि के भाषणों में वे दुभाषिया का काम करते है। हमें यह भी बताया गया है कि भारत सरकार और भारतीय दूतावास के साथ अधिकांश पत्र-व्यवहार प्रायः हिंदी में किया जाता है। हमारे प्रधानमंत्री नेहरू की चीन-यात्रा में हिंदी का प्रयोग करने में पहल चीन की सरकार की ओर से की गई थी और उनके लिए हिंदी में बोलना इन दुभाषियों के ही कारण कठिन नहीं रहा था।

भारतीयों के प्रति चीनियों का स्नेह बहुत स्वाभाविक है। उनको अत्यंत श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। पिछले दो हजार वर्षों के सांस्कृतिक संबंध के बंधन अब भी कायम हैं। महात्मा बुद्ध के देश के लोगों के प्रति उनका बड़ा सम्मान है। वे उनको विदेशी नहीं मानते। हिंदी के प्रति उनमें जो अनुराग पैदा हुआ है उसका कारण सांस्कृतिक है। वे यह भी समझते हैं कि दस-पंद्रह वर्ष में ऐसी स्थिति पैदा हो जायगी जब पारस्परिक मैत्री संबंध को केवल हिंदी के माध्यम से निभाया जा सकेगा। उस समय के लिए वे अभी से तैयारी करने में लगे हैं।

मैंने फिर पूछा कि हिंदी का कौन लेखक चीन में सर्वाधिक लोकप्रिय है। श्री वर्मा ने सहसा ही प्रेमचंदजी का नाम लिया और कहा कि चीनी जनता की यह धारणा है कि भारतीय जीवन और भारतीय आत्मा के दर्शन उनके साहित्य में सहज में किये जा सकते हैं। उनके बाद श्री कृष्णचंद्र का स्थान है। श्री यशपाल और श्री भगवतीचरण वर्मा की कहानियां भी बहुत पसंद की गई हैं। इनकी कुछ कहानियों का चीनी भाषा में अनुवाद किया गया है। "विदेशी साहित्य" नाम के मासिक पत्र में कहानियों का यह अनुवाद प्रकाशित किया जाता है। सुनवो-कांग नाम के एक विद्यार्थी का इसमें अग्रणी स्थान है। अब तक अंग्रेजी के माध्यम से हिंदी कहानियों का अनुवाद किया गया था। पिछले ही दिनों में हिंदी से सीधा अनुवाद किया जाने लगा है।

हिंदी की चार वर्ष की पढ़ाई के बाद के पोस्ट ग्रेजुएट पाठ्यक्रम की चर्चा करते हुए आपने बताया कि हिंदी में रिसर्च के काम के लिए ३ वर्ष की विशेष पढ़ाई रखी गई है। इस समय मामन-कांग नाम का एक विद्यार्थी प्रेमचंदजी के साहित्य पर शोध का कार्य कर रहा है। इस समय हिंदी पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या ५५ है। जुलाई के बाद प्रारंभ होनेवाले सत्र में चालीस नये विद्यार्थी हिंदी का अभ्यास शुरू करेंगे। यह संख्या सौ तक पहुंच जायगी। यह उत्साह और आकर्षण दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है।

हिंदी के संबंध में चर्चा करने के बाद मैंने कुतूहल वश कुछ चर्चा चीनी भाषा और लिपि के संबंध में भी की। श्री वर्मा ने कुछ मनोरंजक तथ्य बताये। उन्होंने कहा कि चीन में मुख्यतः पांच भाषाएं हैं और पांचों को राष्ट्रीय भाषा का स्थान प्राप्त है। वे भाषाएं चीनी, मंगोल, मंचू, तिब्बती और वेवड़ (अरबी का एक भेद) हैं। चीनी भाषा लगभग नब्बे प्रतिशत जनता की है और शेष चार भाषाओं का प्रयोग करनेवाले वे अल्प-संख्यक हैं, जो दस प्रतिशत से अधिक नहीं हैं। चीनी और शेष चार भाषाओं में मूलभूत अंतर यह है कि चीनी भाषा की लिपि उच्चारणात्मक नहीं है। वह सांकेतिक है। शेष चार भाषाओं की अपनी लिपि है, जिनका अपना साहित्य, है उनकी संस्कृति तथा राष्ट्रीयता भी पृथक् है। इसीलिए चीन भी रूस के समान बहुभाषी और बहुराष्ट्रीय प्रजातंत्र है। प्रत्येक भाषा को विकास करने का पूरा अवसर और पूरे साधन प्राप्त हैं। सरकारी कामकाज सभी भाषाओं में भिन्न-भिन्न प्रदेशों की सुविधा के लिए किया जाता है। नब्बे प्रतिशत के अत्याधिक बहुमत की भाषा को किसी भी अल्पमत पर थोपने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता।

चीनी भाषा के वैचित्र्य को प्रकट करते हुए आपने बताया कि सचमुच ही चीनी भाषा की दृष्टि से चीन की भाषा और लिपि प्रायः एक है; किंतु उच्चारण में भेद होने से बोलियां अनेक हो गई हैं। एक ही शब्द का उच्चारण देश के एक हिस्से में एक ढंग से किया जाता है तो दूसरे में दूसरे ढंग से, हालांकि उनकी लिखावट या लिपि में कोई अंतर नहीं है। यह एक मनोरंजक बात है कि भिन्न-भिन्न उच्चारण करनेवाले दो चीनी जब आपस में मिलते हैं और उच्चारण से अपना भाव स्पष्ट नहीं कर सकते तब वे हाथ पर अथवा वायु में लिखकर अपना भाव बहुत खूबी से स्पष्ट कर देते हैं। इसीलिए यह कहा जाता है कि चीनी भाषा कागज, हाथ और हवा में तीन प्रकार से लिखी जाती है। लिपि की समानता होने से इस प्रकार सहज में सब कामकाज चला लिया जाता है।

सांकेतिक भाषा होने से लिपि की कठिनाई के कारण चीनी भाषा संसार की सबसे अधिक कठिन भाषा है और इसी कारण चीन में शिक्षा का प्रतिशत हमारे ही देश के समान बहुत ही कम है। भाषा में जितने शब्द हैं उतने ही अक्षर हैं, क्योंकि प्रत्येक शब्द अलग-अलग रूप में बनाये गये चित्र में, जिसको कि अक्षर कहना चाहिए, लिखा जाता है। इन चित्रों अथवा अक्षरों की संख्या हजारों थी और उन सबका याद रखना बड़े-से-बड़े विद्वान के लिए भी संभव नहीं था। राष्ट्रीय सरकार का ध्यान इस ओर इसलिए आकर्षित हुआ कि इस कठिनाई को दूर किये बिना आम जनता को शिक्षित नहीं किया जा सकता और शिक्षा के बिना जनता का चहुमुखी विकास और प्रगति संभव नहीं है। इस कठिनाई के कारण शार्टहैंड, टाइप राइटर, टेलीप्रिंटर तथा प्रैस की छपाई आदि का विकास भी किया नहीं जा सकता।

उसको दूर करने के लिए कई कदम उठाये गये। एक तो यह कि चित्रों अथवा अक्षरों की रेखाएं सरल बनाकर कुछ मूलभूत रेखाएं स्थिर की गईं, जिनको मिलाकर सब अक्षर अथवा चित्र बनाये जा सकें। बहुत प्रयत्न करने पर भी इन रेखाओं को २१४ से कम नहीं किया जा सकता। इतनी भिन्न-भिन्न रेखाओं को दिमाग़ में बिठा सकना कुछ आसान नहीं है। दूसरा कदम यह उठाया गया कि दैनिक व्यवहार के लिए अत्यंत आवश्यक शब्द चुने गये, परन्तु वे भी ७०० से कम न किये जा सके। तीसरा कदम यह उठाया गया कि पर्यायवाची शब्द समाप्त करके एक ही शब्द काम चलाने के लिए पर्याप्त समझा गया। चौथा कदम उठाया जा रहा है कि उच्चारण-भेद को सारे देश में से समाप्त किया जा रहा है। इसके लिए सैकड़ों अध्यापक पेकिंग विश्वविद्यालय से चारों ओर भेजे गये हैं। उच्चारण का भेद मिटाये बिना भाषा की एकता निरर्थक हो जाती है और लिपि की एकता भी लाभप्रद सिद्ध नहीं होती। रोमन लिपि के अपना लिये जाने पर उच्चारण-भेद रहते हुए काम नहीं चल सकता। इसलिए इस भेद को जल्दी-से-जल्दी मिटा देने का दृढ़ निश्चय कर लिया गया है।

चीनी जनता में अपनी राष्ट्रीय सरकार के प्रति जो विश्वास, श्रद्धा और निष्ठा पाई जाती है उसका परिणाम यह है कि उसके निर्णयों तथा आदेशों को बिना किसी संदेह, आशंका और विवाद के सहसा ही स्वीकार कर लिया जाता है। सारा राष्ट्र एक व्यक्ति की तरह उनको पूरा करने में लग जाता है। इसलिए यह विश्वास किया जा सकता है कि भाषा और लिपि की इस कठिनाई पर विजय प्राप्त करने में चीनी जनता को अधिक समय नहीं लगेगा। हमारे देश में भाषा तथा राज्य पुनर्निर्माण की समस्याओं को लेकर जो वितंडावाद उठ खड़ा हुआ है, उसकी चीन में कल्पना तक नहीं की जा सकती।

(पृष्ठ ३२६ का शेष)

अपरिग्रह को हम गलत न समझें। अपरिग्रह का मतलब अभाव से नहीं है। अपरिग्रह तो एक पहलू है, व्यक्तिगत मालकियत का विसर्जन, और दूसरा पहलू है, भोग परायण जीवन से—संयमी जीवन। यह निगेटिव और पाजिटिव, निषेधात्मक और स्वीकारात्मक, दोनों पहलू मिल कर अपरिग्रह का विचार पूर्ण होता है। समाज समृद्ध हो, पर व्यक्ति के पास संग्रह न हो। समृद्धि और विलास में अंतर है, यह भी समझ लेना चाहिए। इन सब बातों का विवेक और तारतम्य रखकर जो चीज बनेगी वह अपरिग्रह-समाज होगा। इस प्रकार के अपरिग्रह के बिना न तो जीवन उन्नत होगा न शोषण करने की वृत्ति खत्म होगी। अतः व्यक्तिगत मालकियत के विसर्जन और संयमी जीवन इन दोनों कसौटियों पर शिक्षक या सेवक को अपना जीवन निरंतर कसते रहना चाहिए।

हमारा अंतिम ध्येय अहिंसक या प्रेममूलक समाज बनाने का है। अतः कार्यकर्ता के जीवन में उत्तरोत्तर प्रेम का दर्शन होना चाहिए। इसके लिए अध्यात्मक की, या 'अध्यात्म' शब्द से कुछ एतराज हो तो मानवता की, भूमिका आवश्यक है। इसकी साधना भी सेवक को निरंतर करनी है।

इस प्रकार नई तालीम का शिक्षक जो गांव का सेवक बनकर अहिंसक समाज की रचना के लिए गांव में जाएगा और ग्रामदान, ग्रामराज की सिद्धि की जहां कोशिश करेगा, उसे क्रान्ति के नये मूल्यों के अनुरूप अपना जीवन ढालना चाहिये, अन्यथा हमारी क्रांति में से प्रतिक्रांति पैदा होने का खतरा है और जाने-अनजाने हम ही उस प्रति-क्रांति के औजार बनेंगे। अगर हम शोषण-मुक्त समाज की स्थापना करना चाहते हैं, तो शोषण-मुक्ति की प्रक्रिया का आरंभ हमें अपने जीवन से करना होगा।

नशतर

खलील जिब्रान

[खलील जिब्रान का यह 'नशतर' नामक लेख उनका एक वक्तव्य है, जो व्यक्तिगत है । इस लेख में खलील जिब्रान ने अपने उन आलोचकों को जवाब दिया है, जो उसे पागल, उग्रवादी, आतंकवादी, अनीश्वरवादी और धर्महीन आदि कहते थे । ये आलोचक जिब्रान को संहारक, और उसके लेखों को "विष के प्याले" कहा करते थे । इन समालोचकों ने जिब्रान के विरुद्ध ऐसा विषाक्त वातावरण पैदा कर दिया कि लेबनान के शासकों, पादरियों, जागीरदारों और समाज के ठेकेदारों ने मिलकर ज़िब्रान का न केवल जाति और धर्म से बायकाट कराया, वरन उसे देश से भी निकलवा दिया । इन्हीं समालोचकों को जिब्रान ने इस लेख में उत्तर दिया है, जो पढ़ने के योग्य है । इससे जिब्रान के असली व्यक्तित्व की एक झांकी पाठकों को मिल जायगी । --अनुवादक]

"वह अपने सिद्धांतों में पागलपन की हद तक उग्रवादी है ।"

"वह भावुक है और जो कुछ लिखता है, वह प्रचलित रीति-रिवाजों में विषमता पैदा कराने के लिए लिखता हैं ।"

"अगर विवाहित और अविवाहित स्त्री-पुरुष विवाह के मामले में जिब्रान की राय पर चलेंगे, तो सामाजिक जीवन की व्यवस्था बिगड़ जायगी, समाज की नींव टूट जायगी और यह संसार एक नर्क और इसमें रहनेवाले शैतान बन जायंगे ।"

"उसके लेखों के सौंदर्य के धोके से बचो, क्योंकि वह मानवता का शत्रु है ।"

"वह आतंकवादी, अनीश्वरवादी और धर्महीन है । हम पवित्र लेबनान पर्वत के निवासियों को सीख देते है कि वे इसके विश्वासों को ठुकरा दें, इसको रचनाओं को आग में फूंक दें, वरना कहीं ऐसा न हो कि उसके धर्महीन दृष्टिकोण का कोई कुप्रभाव हृदयों पर बाकी रह जाय ।"

"हमने उसके उपन्यास 'टूटे हुए पर' को पढ़ा और उसे विष मिला पानी पाया ।"

× × ×

ऊपर उन विचारों के चंद ऐसे नमूने दिये गये है, जो लोगों ने मेरे बारे में जाहिर किये हैं । यह सच है कि मैं पागलपन की हद तक उग्रवादी हूं और रचना के मुकाबले में संहार की तरफ झुकाव रखता हूं । मेरा दिल उन बातों से घृणा करता है, जिनका संसार आदर करता है । मैं उन बातों से प्रेम करता हूं, जिन्हें संसार ठुकराता है । और अगर आदमी के विश्वास, रीति-रिवाज और उसकी आदतों को उखाड़ फेंकना मेरे बस में होता तो मैं एक क्षण की भी देर न करता । पर कुछ लोगों का यह कहना कि मेरी रचनाएं "विषमिला पानी हैं", एक ऐसी बात है, जो सच बात को जाहिर तो करती है, पर मोटे परदे के पीछे से । पर नग्न सत्य तो यह है, कि मैं जहर को पानी में मिलाकर नहीं, शुद्ध रूप में प्यालों में उडेलता हूं । वह हद दरजे साफ और पारदर्शक होता है ।

रहे वह महानुभाव, जो अपने दिलों में मेरी तरफ से यह आपत्ति पेश करते हैं कि "वह भावुक है और बादलों की दुनिया में उड़ता रहता है", सो ये वे लोग हैं, जो उन पारदर्शक प्यालों की चमक पर अपनी निगाहें जमा देते हैं और उस शराब से आंख फेर लेते हैं, जो उन प्यालों में होती है और जिसे वे विष कहते हैं, क्योंकि उनके कमजोर पेट उसे पचा नहीं सकते ।

यह भूमिका एक अखड्ड प्रकार की धृष्टता सूचित करती है, परंतु क्या गुस्ताखी का अखड्डपन माया-चार और धूर्तता की नरमी से अच्छा नहीं है ? गुस्ताखी स्वयं को अपने असली रूप में जाहिर करती है, परंतु मायाचार मांगे-वस्त्र पहनकर हमारे सामने आता है ।

पूर्व के लोग चाहते हैं कि साहित्यकार उस मधुमक्खी के समान हो जायं, जो छत्ता बनाने के लिए बागों में फूलों का रस इकट्ठी करती फिरती हैं ।

पूर्ववाले शहद (मीठे) पर जान देते हैं और इसके

सिवा उन्हें कोई खाना नहीं भाता। उन्होंने इस अधिकता से मधु इस्तेमाल किया है कि वे स्वयं मधु बनकर रह गये हैं, जो आग के सामने पिघल जाता है और उस वक्त तक नहीं जमता जबतक कि उसे बर्फ पर न रखा जाय।

पूर्ववाले चाहते हैं कि कवि उनके बादशाहों, राजों-महाराजों, शासकों और धर्माचार्यों के सामने अपनी आत्मा को धूप और लोबान की तरह सुलगाएं। यद्यपि पूर्वी देशों का वायुमंडल दरबारों, बलिवेदियों और समाधियों में सुलगाई हुई धूप और लोबान के सुगंधित धुंए से अट गया है, पर वे अब भी संतुष्ट नहीं हैं। यही कारण है कि इस युग में एक-से बढ़कर एक प्रशंसक कवि, शोक कविता लिखने वाले और बड़े से बड़े भांड पाये जाते हैं।

पूर्वी देशों वाले चाहते हैं कि विचारक विद्वान प्राचीन कवियों की कविताएं दुहराते रहें और अपने लेखों में मूर्खोंवाले उपदेश, निरर्थक बातों, उन वाक्यों और व्यवस्थाओं की सीमा से आगे न बढ़ें, जिनपर चल कर आदमी का जीवन शुद्ध घास-फूंस के समान हो जाता है, जो छाया में उगे, और उसकी अंतरआत्मा उस कुनकुने पानी के समान हो जाती है, जिसमें थोड़ी-सी अफीम मिली रहती है।

कहने का सार यह है कि पूर्वी देशोंवाले बीते हुए युग के पवित्र स्थानों में जीवन बिताते हैं और झूठी तसल्लियां देनेवाली और हंसी पैदा करनेवाली लज्जा-पूर्ण बातों से दिलचस्पी रखते हैं, पर उन त्यागपूर्ण और निश्चित सिद्धांतों से दूर भागते हैं, जो डंक मारते हैं और उन्हें सुख-चैन की गहरी नींद से जगा देते हैं।

पूर्वी देश बीमार हैं। उसे सदा रहनेवाली बीमारियों और लगातार दवाओं ने इतना घेर रखा है कि वह बीमारी का अभ्यस्त और तकलीफ से परिचित होकर अपने दुख-दर्द को स्वामाविक गुण ही नहीं, बल्कि एक ऐसा सुंदर और अच्छा समझने लगा है, जो स्वस्थ शरीर और महान आत्मा के लिए खास तौर से नियत है। इन आदमियों की निगाह में वह सब आदमी त्रुटिपूर्ण और प्रकृति के वरदानों और बड़े-बड़े चमत्कारों से खाली हैं, जो उन बीमारियों और तकलीफों से बचे हुए हैं।

पूर्वी देशों के बहुत-से हकीम हैं, जो उसकी नाड़ी देखते हैं और उसके रोग के विषय में आपस में सलाह-मशविरा करते हैं, लेकिन जब इलाज की नौबत आती है, तो वही तेज और नशा लानेवाली औषधियां देते हैं जो रोग की अवधि तो बढ़ा देती हैं, पर उसे जड़ से दूर नहीं करतीं।

इन सुन्न करनेवाली औषधियों के बहुत से भेद हैं, और उसके बहुत-से रूप हैं और ये एक दूसरे से इस तरह पैदा होती हैं, जिस तरह एक बीमारी से दूसरी बीमारी और एक मुसीबत से दूसरी मुसीबत। इसलिए पूर्व में जब कोई नया रोग पैदा होता है, तो उसके लिए पूर्व के हकीम-वैद्य सुन्न करनेवाली किसी नई औषधि का आविष्कार करते हैं।

परंतु वे कारण जिनके परिणामस्वरूप इन सुन्न करनेवाली औषधियों का आविष्कार किया जाता है, अनगिनत हैं। इनमें सबसे बड़ा कारण भाग्य और कर्म-फल के प्रसिद्ध सिद्धांत पर बीमार का विश्वास करना और हकीमों की बुजदिली और उस अवस्था की तीव्रता से भय खाना है, जिसे हरी-भरी वादियां पैदा करती हैं।

अब मैं उन तसल्ली देनेवाली और सुन्न करने वाली दवाइयों के भिन्न-भिन्न उदाहरण पेश करता हूँ, जो पूर्व के हकीमों ने देश, धर्म और समाज से संबंध रखने वाली बीमारियों के लिए आविष्कार किये हैं :—

पति के दिल में पत्नी की तरफ से और पत्नी के दिल में पति की तरफ से कुछ असली और प्राकृतिक घृणा बैठ जाती है और वे दोनों लड़-भिड़कर या मार-पीट करके एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। पर चौबीस घंटे गुजरने नहीं पाते, कि पुरुष के रिश्तेदार उसकी पत्नी के संबंधियों के पास जाते हैं, कुछ देर तक चिकनी-चुपड़ी बातें होती रहती हैं और इसके बाद सब इस बात पर सहमत हो जाते हैं कि पति-पत्नी में मेल करा दिया जाय। इसलिये ये आदमी स्त्री के पास आते हैं और ऐसी सच्ची-झूठी सीखों से उसके भावों को लुभाते हैं, जो उसे लज्जित तो कर देती हैं, पर संतुष्ट नहीं कर

सकतीं। इसके बाद पति को बुलाया जाता है और उस पर उन अच्छी-अच्छी बातों और ऊंचे-ऊंचे उदाहरणों की बौछार शुरू कर दी जाती है, जो उसके विचारों में नरमी तो पैदा कर देती हैं, लेकिन उन्हें बदल नहीं सकती। इस तरह जो पति-पत्नी एक दूसरे को घृणा करते हैं, उनमें मेल-जोल का पवित्र कर्तव्य पूरा कर दिया जाता है। अब वह पति-पत्नी अपनी इच्छा के विरुद्ध फिर एक जगह रहना शुरू कर देते हैं, यहांतक कि मुल्लमा उतर जाता है उस सुन्न कर देनेवाली औषधि का असर खत्म हो जाता है, जो सगे-संबंधियों और अपने प्यारे आदमियों ने इस्तेमाल की थी। इसलिए पुरुष फिर अपनी घृणा और अप्रसन्नता जाहिर करने लगता है और स्त्री फिर अपने दुर्भाग्य का परदा फाड़ देना चाहती है। पर जिन लोगों ने पहले मेल-मिलाप कराया था, दुबारा वे ही लोग यह कर्तव्य पूरा करते हैं। जो मर्द औरत सुन्न करनेवाली दवाई की एक बूंद पी लेते हैं, वे भरे-भरे गिलास पीने से भी इन्कार नहीं करते।

जनता अत्याचारी राज्य या पुरानी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करती है और सुधार-सभा की नींव रखकर उन्नति, आजादी और सुधार की तरफ कदम बढ़ाती है। गरमा-गरम व्याख्यान दिये जाते हैं, बेधड़क लेख लिखे जाते हैं, बजट बनाये जाते हैं, और योजनाएं प्रकाशित होती हैं। शिष्टमंडल और प्रतिनिधि भेजे जाते हैं, पर एक या दो सप्ताह से ज्यादा नहीं गुजरने पाते, कि हम सुनते हैं कि सरकार ने सभा के नेता को पकड़ लिया या इसका वजीफा अर्थात् मासिक वृत्ति नियत कर दी। इसके बाद सुधार-सभा के बारे में कुछ सुनने में नहीं आता, क्योंकि इसके सदस्य सुन्न करनेवाली औषधि की चंद बूंदें पीकर शांति और आज्ञापालन की तरफ दौड़ जाते हैं।

जनता अपने बुनियादी सिद्धांतों को दृष्टि में रखकर अपने धर्मगुरु के विरुद्ध आवाज उठाती है, इसके व्यक्तित्व को अपनी समालोचना का निशाना बनाती है, उसके कामों पर नुक्ताचीनी करती है, उसके चाल-चलन को बुरा-भला कहती है और उसे एक ऐसे नये धर्म को स्वीकार कर लेने के डरावे देती है, जो बुद्धि में आने योग्य और अंधविश्वासियों तथा दोषों से दूर होगा। पर अधिक समय नहीं गुज़रता कि सुनने में आता है कि देश के बुद्धिमान लोगों ने धर्मगुरु और उसके अनुयाइयों का आपसी विरोध दूर कर दिया है और जादू के समान तथा सुन्न करनेवाली औषधियों के प्रभाव से गुरु का व्यक्तित्व पहले के समान वैसा ही आतंक व तेजपूर्ण हो जाता है। अनुयायियों के दिलों में भी वही आज्ञापालन का अंधा-भाव फिर पैदा हो जाता है।

यदि कमजोर और पीड़ित आदमी बलवान अत्याचारी आदमी के अत्याचार की शिकायत करता है, तो पड़ौसी कहते हैं, "चुप रहो, जो आंख तीर का मुकाबला करती है, वह फोड़ दी जाती है।"

यदि गांववाले पादरियों के प्रेम और संयम, त्याग के बारे में संदेह प्रकट करते हैं, तो उनके साथी कहते हैं, "चुप ! धर्म-ग्रन्थों में लिखा है कि उनकी बात सुनो, पर उनके आचरण और कामों का अनुकरण न करो।"

अगर शिष्य बड़े-बड़े वैयाकरणों के व्याकरण संबंधी तर्कों तथा वाद-विवादों को याद करने से बचता है, तो अध्यापक कहता है, "सुस्त और आलसी लोगों ने अपने लिए ऐसे बहाने घड़ लिये हैं. जो पाप से ज्यादा घृणा-योग्य हैं।"

यदि नौजवान लड़की विधवाओं का-सा जीवन व्यतीत करने से बचती है, तो उसकी मां कहती है, "लड़की अपनी मां से श्रेष्ठ नहीं होती, इसलिए जिस रास्ते पर तेरी मां चली है, उसीपर तू भी चल।"

नौजवान लड़का व्यर्थ के धार्मिक क्रिया-कांड और रिवाजों के बारे में प्रश्न करता है, तो पादरी उत्तर देता है, "जो कोई श्रद्धा और विश्वास की आंख से नहीं देखता, उसे दुनिया में अंधकार के सिवा कुछ नजर नहीं आता।"

एक युग इसी तरह गुजर गया, पर पूर्वी देशों का आदमी अपने नरम और गुदगुदे बिस्तर में पड़ा सो रहा है। जब कभी उसे मच्छर काटते हैं, तो एक क्षण के लिए वह जाग उठता है और उसके बाद फिर इन सुन्न करनेवाली औषधियों के असर से सो जाता है, जो उसके शरीर की हर रंग और उसके खून की हर बूंद में अपना

काम कर रही है।

जब कोई आदमी खड़ा होकर सोनेवालों को पुकारता है, उनके घरों, मंदिरों और कचहरियों को अपनी ऊंची आवाजों से भरता है, तो वे अपनी घोर नींद से बोझल आंखें खोलते हैं और जमाइयां ले लेकर कहते हैं, "किस कदर बदतमीज है यह नौजवान कि न आप सोता है और न दूसरों को सोने देता है।"

इसके बाद वे अपनी आंखें फिर बंद कर लेते हैं और अपनी आत्मा से कानाफूसी के तौर पर कहते हैं, "वह अनीश्वरवादी है, धर्महीन है, प्रचलित आचार व्यवहार में गड़बड़ करना चाहता है, राष्ट्र की बुनियादों को ढाता है और मानवता की छाती को अपने बारीक तीरों से छलनी करता है।"

× × ×

जब मैं इन जागृत और बागी लोगों में था, जो नींद लानेवाली और सुन्न करनेवाली औषधियों को इस्तेमाल करने से इंकार करते हैं, तो मैं प्रायः अपनी अंतरात्मा से प्रश्न करता था और मेरी अंतरात्मा संदिग्ध और गोलमाल शब्दों में उत्तर देती थी। परंतु जब मैंने सुना, कि लोग मुझे धिक्कारते हैं और मेरे सिद्धांतों और विचारों पर थू-थू करते हैं, तो मुझे अपनी जागृति की यथार्थता का विश्वास हो गया और मैंने जान लिया, कि मैं उन लोगों में से नहीं हूं, जो मधुर स्वप्नों और मनोहर विचारों के माननेवाले हैं, वरन उन एकांतवासियों में से हूं, जिनका जीवन उन तंग रास्तों में से जाता है, जिनपर फूल और कांटें बिछे हैं और जिनके चारों तरफ शिकारी भेड़िये और चहचहाती हुई बुलबुलें हैं।

अगर जागृति कोई गुण होता, तो मैं लज्जावश उसका दावा करने से जरूर रुकता, पर वह कोई गुण नहीं है, बल्कि एक विचित्र और अनोखी वास्तविकता है, जो एकांतवासी आदमी पर असावधानी और बेखबरी की अवस्था में जाहिर होकर उनके आगे-आगे चलती है। और वे इन गुप्त तारों में बंधे और भयंकर उद्देश्यों पर निगाहें जमाये उसके साथ-साथ हो लेते हैं।

मेरे विचार में व्यक्तिगत सच बातों को प्रकट करने में मलम्मा चढ़ी हुई मक्कारी और मायाचार है। इसे ढोंग भी कह सकते हैं, पर पूर्वी देशों के लोग इसे 'सभ्यता' के सुनने में प्यारे नाम से पुकारते हैं।

कल जब हमारे विचारशील साहित्यकार मेरे इन विचारों को पढ़ेंगे, तो घृणा और अप्रसन्नता के स्वर में कहेंगे, "वह उग्रवादी है, जो जीवन के बुरे पहलू को देखता है और बुराई के सिवा उसे कुछ नजर नहीं आता। यही कारण है, कि वह लगातार हमपर रो रहा है और बराबर हमारी दशा पर रो रहा है।"

मैं उन विचारशील साहित्यकारों के सामने निवेदन करता हूं, "मैं पूर्वी देशों पर रोता हूं, क्योंकि मुरदा लाश के सामने नाचना ऊंचे दरजे का पागलपन है। मैं पूर्वी देशों पर शोक करता हूं, क्योंकि बीमारियों पर हँसना निरी मूर्खता है। मैं उस प्यारे देश की शोक-कविता पढ़ता हूं, क्योंकि अंधी मुसीबत के सामने गाना कोरा अज्ञान है।

"मैं उग्रतावादी हूं, क्योंकि जो कोई वास्तविकता को प्रकट करने में नरमी से काम लेता है, वह उसके आधे हिस्से का वर्णन करता है और अंतिम आधा कहनेवाले के उस भय में छुपा रह जाता है, जो उसे लोगों के संदेहों और अनुमानों से होता है।

"मैं सड़ी हुई लाश देखता हूं, तो मेरा दिल इस कदर घृणा करता है और मेरी आत्मा इतनी बेचैन हो जाती है, कि मैं उसके पास नहीं बैठ सकता, फिर चाहे मेरे दायें हाथ में अमृत का प्याला हो और बायें हाथ में मिठाई की तश्तरी।

"इस आधार पर अगर कोई मेरे रुदन को हँसी से, मेरी घृणा को प्रेम से और मेरे उग्रता-प्रेम को नरमी से बदलना चाहता है, तो मुझे पूर्वी लोगों में कोई ऐसा न्याय-प्रिय शासक दिखायें, जो धर्म का पाबंद हो और सही राह पर चलता हो, मुझे किसी ऐसे धर्माचार्य का पता दे, जिसके ज्ञान और आचरण में समानता हो और मुझे कोई ऐसा पति बताये, जो अपनी पत्नी को भी उसी आंख से देखता हो, जिस आंख से वह अपने-आपको देखता है।

"अगर कोई यह चाहता है, कि मुझे नाचता देखे या ढोल और बांसुरी बजाते सुने, तो उसे चाहिए, कि मुझे विवाह के उत्सव में बुलाये, न कि कब्रिस्तान में खड़ा कर दे।"

अनुवादक—माईदयाल जैन

भूदान से हृदय-परिवर्तन

पूर्णचन्द जैन

तीन प्रसंग हैं।

विनोबा ने पदयात्रा आरंभ ही की थी । भूदान की कल्पना उस समय सामने नहीं आई थी । उपद्रव, आतंक और अस्त-व्यस्तता से भरे तिलंगाना क्षेत्र के एक गांव में घरों की हालत देखते हुए और लोगों के हालचाल जानते हुए, विनोबा अपने पड़ाव-स्थान पर पहुंचे । लोगों की भीड़ साथ लगी ही थी । हरिजन अधिक थे । विनोबा ने हरिजन भाइयों से पूछा "क्यों और कुछ कहना है ?"

हरिजनों में से एक बोला "हम लोगों के पास सिवा मजदूरी के कोई धंधा नहीं है । मजदूरी का मिलना मालिक की मरजी पर रहता है । जिस दिन मजदूरी नहीं मिलती उस दिन फाका करना पड़ता है। हमें खेती के लिए भी अगर कुछ जमीन मिल सके तो ठीक होगा। इज्जत की रोटी कमा सकेंगे।"

विनोबा ने कहा "कितने परिवार हैं ?"

बताया गया है कि तीस परिवार हैं और करीब ८० एकड़ जमीन उनके लिए काफी होगी । उसके साथ कुछ मजदूरी भी कर ली जायगी।

एक भाई ने बताया कि वहां सरकारी जमीन काफी है। विनोबा ने कहा कि दरख्वास्त लिख दें। वे उसे सरकार के पास भेजकर देखेंगे ।

विनोबा शायद सोचने लगे—अर्जी पर विचार कब होगा, इन लोगों को जमीन कब मिलेगी और तबतक इन लोगों का क्या होगा ?

सहसा उन्होंने पूछा "क्या यहां कोई भूमिवान भाई नहीं है ?" और जवाब की राह देखे बिना आगे कहना जारी रखा, "अगर ये लोग भी हमारे भाई हैं, आपमें से कोई इनकी मांग पूरी कर सकता है।"

सभा में क्षणभर के लिए पूर्ण शांति छा गई । फिर एक भाई ने उठकर नम्रतापूर्वक कहा, "विनोबाजी, अपने पिताजी की स्मृति में मैं एक सौ एकड़ जमीन अर्पित करना चाहता हूं । स्वीकार कीजिए।"

और, उन भाई ने एक सौ एकड़ के दान का संकल्प पत्र लेकर विनोबाजी को उसी समय समर्पित कर दिया। दो गवाहों ने गवाही भी करदी । पांच आदमियों की एक कमेटी उस जमीन की व्यवस्था के लिए नियुक्त कर दी गई।

यह गांव पोचमपल्ली था । दाता रामचंद्र रेड्डी थे। और इस प्रकार भूदान की गंगोत्री प्रकट हुई थी।

दूसरा प्रसंग एक छोटे-से गांव का था, लेकिन वहां झगड़ा मोटा था । मूल झगड़ा था दो भाइयों के बीच । इन दोनों का झगड़ा ही सारे गांव में फैल गया और गांव में दो दल बन गये । एक पक्षवाले दूसरे पक्षवालों का मुंह तक देखना भी पसंद नहीं करते थे । कितनों को तो गांव ही छोड़ जाना पड़ा । दो में एक भाई यहीं रहता था । पर दूसरा भाई गांव छोड़कर चला गया था । उस दिन विनोबाजी के कारण ही गांव में आया, क्योंकि उसी के घर डेरा रखना तय हुआ था।

गांववालों से जब विनोबाजी ने पूछा कि गांव की कठिनाई क्या है तो गांववालों ने बताया कि वह झगड़ा ही उन लोगों को खा रहा है। वह मिट जाय तो गांव सुखी हो जाय।

विनोबा ने दोनों भाइयों को प्रेम से समझाया । दोनों अपनी भूल समझ गये । वर्षों के बाद दोनों ने शाम को पदयात्रियों की पंक्ति में बैठकर भोजन किया और प्रार्थना सभा में दोनों भाई गले मिले । दोनों ने पर्याप्त भूदान भी दिया । भीम-जरासंध की तरह रहनेवाले दोनों भाई उस दिन से राम-लक्ष्मण बन गये ।

तीसरा प्रसंग और सुनिए । गया जिले के गांव में विदुषी विमला बहन ठकार रोज पैदल यात्रा कर रही थीं। एक देहात का अनुभव उन्होंने यों सुनाया—

"एक रियासत से हम लोग गुजर रहे थे। बहुत छोटी रियासत थी । साथियों ने कहा इस गांव में जाना बेकार है। राजा बड़ा दुष्ट है, शराबी है, जुआरी है, इनपर कोई असर नहीं होनेवाला । मैंने कहा कि जनता में जनार्दन का दर्शन करने निकले हैं । बगैर दर्शन के मंदिर के

बाहर से ही क्यों लौटा जावें ? विनोबा का आंदोलन महज मजाक नहीं है, मखौल नहीं है। इसके पीछे मानव निष्ठा की बुनियाद है। निष्ठा का अधिष्ठान है। आज मानव-निष्ठा समाज-दर्शन की और मानव-निष्ठा क्रांति की प्रक्रिया की हमें आवश्यकता है।"

"साथी नहीं माने, दूसरे गांव में चले गये। मैं अकेली राजासाहब की ड्योढ़ी पर पहुंची। दोपहर का समय था। वह बरामदे में आराम से लेटे हुए थे। दरवाजा खटखटाया, पूछा गया कि कौन है, मैंने कहा, "आपकी बहन आई है।" जब सुना कि बहन आई, तो चौंक पड़े। आगे बढ़कर इस तरह आने लगे कि कोई पागल तो दरवाजे पर नहीं पहुंच गई। पूछने लगे कि यहांतक कैसे आ पाई। गांववालों ने बताया नहीं कि वह किस प्रकार शैतान आदमी है। भला, उसके पास कोई भले आदमी का काम हो सकता है। नवजवान लड़की है, भलाई इसी में है कि लौट जाय। मैंने कहा, "भाईसाहब, आप दुष्ट हैं या शराबी हैं, या जुआरी इससे मुझको क्या मतलब। एक बात का जवाब दीजिए, आपके कोई मां, बहन हैं या नहीं ? एक संत का संदेश लेकर दरवाजे पर पहुंची हूं। इस तरह लौटने वाली नहीं हूं। भूमिदान-यज्ञ आंदोलन के विचार की राखी यह बहन अपने भाई की कलाई में बांधकर लौटेगी, पहले नहीं।"

"दुनिया ने उन्हें दुष्ट कहा था, दुर्जन कहा था, शैतान कहा था, लेकिन उनकी आंखों में आंसू छलक पड़े। वह आंसू क्या थे, उनकी सोई हुई भलाई जाग पड़ी। हाथ बढ़ाकर उन्होंने अंदर आने के लिए कहा। उन्होंने सभा का आयोजन किया। ५०० एकड़ जेर काश्त जमीन में से १२५ एकड़ जमीन दान में दी। गांववालों ने भी दी। चार घंटे के भीतर २१५ एकड़ जमीन का दान लेकर मैं उस गांव से लौटी।"

ऐसे सैकड़ों प्रसंग दिये जा सकते हैं।

भूदान के प्रसंग से न सिर्फ हजारों, लाखों बेजमीनों को जमीन के रूप में जीवन भर का आजीविका का साधन मिला है बल्कि एक हवा बनी है, जिसके द्वारा आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में अहिंसक रीति से, विषमता के उन्मूलन और समता की स्थापना की संभावनाएं पैदा हो गई हैं। भूदान अपने-आप में दान का लक्ष्य नहीं है, न यह केवल जमीन के देने और बांटने का ही कार्यक्रम है। यह असल में चालू शब्दावली का आंदोलन भी नहीं है। समाज में धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि-आदि क्षेत्रों से संबंधित जो गलत जीवन-मूल्य बन गये हैं उनको जड़-मूल से बदलने की भूदान एक प्रक्रिया है।

समाज में जो गलत जीवन-मूल्य कायम हो जाते हैं और जिनके कारण शोषण, उत्पीड़न, अत्याचार बढ़ने लगते हैं, उन गलत जीवन-मूल्यों को बदलना ही क्रांति कहलाती है। राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों में हिंसक रीति से क्रांति का सफल होना माना जाता है। गांधी ने अहिंसक तरीका बताया है। दुनिया में आज जो हालत है, उसे देखते अब यह सोचना जरूरी लगता है कि जिनको हम हिंसक क्रांति के रूप में इतिहास में देखते हैं, असल में वे क्रांति थी कि नहीं ? क्रांति होना एक बात है और कुछ समय के लिए स्थिति-परिवर्तन दूसरी बात। दबाव, पशु-शक्ति या हिंसा के जरिये कुछ परिवर्तन होता भी है तो, वह गहरा नहीं होता और दबाव की स्थिति किसी कारण कमजोर पड़ जाय या खत्म होजाय तो उसमें से और भी बुरी स्थिति पैदा होने की नौबत आ जाती है। इसीलिए समाज-शास्त्री कहने लगे कि हिंसक क्रांति प्रतिक्रांति को जन्म देती है।

खैर इस बात को छोड़ें कि हिंसक क्रांति असल में क्रांति है कि नहीं। क्रांति के लिए तीन प्रक्रिया जरूरी हैं। पहली हृदय-परिवर्तन, दूसरी विचार-परिवर्तन, और तीसरी हृदय और मस्तिष्क में जिसे स्वीकार करें उसे व्यापक पैमाने पर क्रियान्वित करना। एक नया विचार पहले हृदय को छूता है। पर वह विचार की कसौटी पर खरा उतरता है तो दिमाग भी उसके साथ हो जाता है। भावनाओं को उभारकर या जोश-खरोश पैदा करके जो हिंसक क्रांतियां होती हैं, उनका अक्सर यह परिणाम सामने आता है कि जो व्यक्ति या वर्ग शोषण व अत्याचार के खिलाफ खड़े हुए थे वे ही दूसरे ढंग से शोषण और अत्याचारी बन जाते हैं। अहिंसक क्रांति की प्रक्रिया इसलिए बिल्कुल ही भिन्न प्रकार की और गहराई तक

असर करनेवाली है।

अहिंसक-क्रांति की प्रक्रिया हृदय-परिवर्तन पर आधारित है। हृदय-परिवर्तन और विचार-परिवर्तन का अर्थ बहुत-से यही मानते हैं कि दूसरे या प्रतिपक्षी के हृदय में विचार परिवर्तन हो। हिंसा के साधन में विश्वास रखने वाले तो शायद यही उसका अर्थ मानते होंगे, लेकिन अहिंसक पद्धति में ये जरूरी नहीं है। उभयपक्षता, हृदय परिवर्तन और विचार-परिवर्तन संभव हो सकता है और आवश्यक हो सकता है।

भूदान के विचार और कार्यक्रम को आज देश की लगभग सभी प्रमुख राजनीतिक व अन्य संस्थाओं का समर्थन प्राप्त है और जहां-तहां सहयोग भी मिल रहा है। साम्यवादी भाई शुरू शुरू में थोड़ा विरोध करते थे, फिर तटस्थता की वृत्ति बनी और बाद में तो वे लोग कहने लगे कि भूदान का मूल विचार उनका ही विचार है और वे उससे सहमत हैं। माल्कियत किसीकी न हो, न किसीकी जमीन की हो, बल्कि सभी प्रकार की संपत्ति की माल्कियत न हो, यह बात विनोबा अब कहने लगे हैं। वे भाई कहने लगे हैं कि विनोबा में परिवर्तन हुआ। हृदय-परिवर्तन और विचार-परिवर्तन में यह भी एक सीढ़ी है कि जो लोग आरंभ में किसी विचार के साथ नहीं हुए थे वे एक स्टेज पर कहने लगते हैं कि मूल विचार ही उनका था और अब अमुक लोगों ने उसे अपनाया है। यह असल में भ्रम की स्थिति है। विनोबा ने इस प्रसंग में बहुत सुन्दर ढंग से कहा है कि हृदय-परिवर्तन और विचार-परिवर्तन की प्रक्रिया में ऐसे भ्रम का भी स्थान है।

प्रजा-समाजवादी और कांग्रेसी तो काफी समय से यह कहने लगे हैं। कांग्रेस वाले कहते हैं "यह विचार उत्तम है, हमारा भी यही विचार है।" पहले वे इसपर ऐसे आक्षेप करते रहे हैं कि इससे जमीन के टुकड़े होंगे। लेकिन अब वैसे आक्षेप नहीं उठाये जाते। अब वे इसके साथ एकरूपता का नाता जोड़ते हैं। कभी कहते हैं कि 'यह काम और कांग्रेस का काम एक ही है। यह कांग्रेस का का काम है ऐसा भी वे कहते हैं। विनोबा ने इस प्रसंग में कहा है कि वे इस सबका प्रतिवाद नहीं करते। साम्यवादी, प्रजा-समाजवादी, कांग्रेसी इन सबके उपर्युक्त प्रकार से जो विचार बनने लगे हैं, या बने हैं, उन सबमें कुछ भ्रम है और कुछ सत्य। हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया की एक आस्था में भ्रम और सत्य दोनों का होना जरूरी होता है। ऐसा मनुष्य पहले "केवल भ्रम" में रहता है वहां से उसे "केवल सत्य" में जाना है। केवल भ्रम से केवल सत्य में जाने के लिए रास्ते में ऐसी भूमिका आयेगी जबकि उसके मन में कुछ भ्रम और कुछ सत्य का आभास होगा। उस समय यदि भ्रमवान का खंडन किया जायगा तो उसका स्वर विपरीत हो सकता है। भ्रमवाले व्यक्ति का चित्त चलित होगा और विरोध स्थापित हो जायगा। वह यह समझकर हमारी तरफ आ रहे हैं कि मानो हम ही उनकी तरफ जा रहे हैं। ऐसा मानना उसका अधिकार है भले ही, उसमें कुछ भ्रम हो, पर कुछ सत्यांश भी हो सकता है। इस तरह बीच रास्ते में कुछ भ्रम के लिए मौका रहता है। यदि सत्य के लिहाज से खंडन किया जाता है तो अहिंसा के लिए बाधक होगा।

कभी यह भी होता है कि हम तो मान लेते हैं कि विचार में, हृदय में, परिवर्तन हुआ है और उसीके फलस्वरूप अमुक ने अमुक कार्य किया है। मसलन, भूदान दिया है या किसी क्रांतिकारी दल ने अपना नाम दिया है। लेकिन दरअसल उस व्यक्ति के हृदय या विचार में खास परिवर्तन नहीं हुआ है। दूसरे कुछ लोग तो यहांतक भी कहते हैं कि अपनी स्वार्थ-साधना के लिए अमुक ने यह सब किया है। कुल मिलाकर यह भी भ्रम की स्थिति है। भूदान में कुछ लोगों ने ऐसी जमीन भी दी है जो शायद उनके कुछ काम की नहीं थी और जिससे वे शायद पिण्ड छुड़ाना चाहते थे। विनोबा ने कहा कि किसी भी प्रकार की जमीन दी जाय, वह दी जा सकती है। पहाड़ भी दिया जाय तो वह भी हम लेंगे। अब इसे थोड़ी गहराई से सोचना है। जो व्यक्ति माल्कियत की भावना से चिपटा हुआ था और अपनी जमीन के छोटे-से-छोटे टुकड़े के लिए, दूसरा यदि कोई उसपर कब्जा जमाना चाहे तो, लड़ाई को तैयार होता था, उसने माल्कियत का विसर्जन किया यह अपने आपमें, अहिंसक पद्धति में महत्व का कदम है।

पोचमपल्ली में भूदान की गंगोत्री का उदय हुआ। गंगा में अच्छी जलराशि के साथ कहीं कुछ घटिया किस्म का या गंदे नाले का पानी आ मिलता है तो उससे गंगा का गुण और गौरव कम नहीं होता। भूदान की सारी प्रक्रिया भी चूंकि एक आंदोलन की प्रक्रिया नहीं है और हृदय-परिवर्तन तथा विचार-परिवर्तन ही उसका मूल आधार है, इसलिए पूरे परिवर्तन के बगैर भूदान मिलता है तो उससे भूदान के क्रांतिकारी पहलू पर कोई असर नहीं होता।

हृदय परिवर्तन के प्रसंग तो ऊपर दिये ही हैं। जमीन को लेकर झगड़ा करनेवाले भाई आपस में गले मिल गये, और जो दुष्ट, दुराचारी समझे जाते थे उनके दिल को हिला दिया। जहां ग्रामदान हुए वहां के सारे वातावरण की तो और भी मनोहरता है। गांव के सब लोगों ने अपनी सारी जमीन दे दी। अब जमीन की माल्कियत सारे गांव-समाज की है, किसी व्यक्ति विशेष की नहीं। और जमीन का बंटवारा होने लगा तो जिनके पास एक एकड़ या एक बीघा जमीन नहीं थी उसको, उसके परिवार की संख्या के अनुसार, १०-२० एकड़ जमीन मिली और जिसके पास सौ, सवासौ, दोसौ एकड़ जमीन थी उसे ५-१० एकड़ ही मिली। यह सारी क्रिया किसी बाहरी दबाव अर्थात् दाब-धौंस, राज्य सत्ता होने के दबाव से नहीं बल्कि सभी गांववालों की समझ, सद्भावना और सहयोगवृत्ति से हुई। इसे क्रांति की पहली सीढ़ी, हृदय-परिवर्त्तन नहीं तो क्या माना जाय?

भूदान का विचार जमीन के सष्टांश या छटे हिस्से के दान से जमीन की माल्कियत के संपूर्ण विसर्जन यानी ग्रामदान तक पहुंचा है। भूदान में आर्थिक व सामाजिक क्षेत्र की क्रांति के जो बीज थे उनकी पौध ग्रामदान में साफ दिखाई देने लगी है। ग्रामदानी गांवों के लोगों में हृदय और विचार की स्थिति कुछ और ही दिखाई देती है। वेद में एक जगह कहा है—हजारों हाथ, हजारों मुख और दिल एक। वहां के लोग इस स्थिति को लाने की दिशा में बढ़ रहे हैं, ऐसा लगता है। आज जरूरत है कि भूदान के सारे विचार को गहराई से जाना-समझा जाय और, विरोध की स्थिति तो कहीं नहीं रही, लेकिन दूर खड़े होकर देखने की या तटस्थता की या यह काम तो ये लोग कर ही रहे हैं, ऐसी जो वृत्ति और स्थिति बनी है उसका भी खातमा हो और देश के हर कोने में, गांव-गांव में इस क्रांति की प्रक्रिया को घनीभूत और सफल करने के लिए हरएक का सक्रिय सहयोग मिले।

आकाशवाणी (जयपुर) के सौजन्य से

तिल और मानव

हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'

तिल पिलते हैं। पिल-पिलकर तेल बनते हैं। तेल बन बनकर तृप्त करते हैं, शक्ति देते हैं और फलतः दुनिया की आंख का तारा बन जाते हैं।

मानव भी यदि तिलों की तरह तिल-तिल पिलकर, रोम-रोम से तेल ही की तरह पसीना निकाल कर, दुनिया भर के लिए बिना भेद-भाव अपने को काम में लाता, उसे सशक्त और लक्ष्योन्मुख करके तृप्त करता, तो दुनिया की बात ही क्या, ईश्वर की भी आंख का तारा बन जाता!
——हां कृत-कृत हो जाता जीवन का परम लाभ ले कर-सदा-सदा के लिए।

१८५७ की जन-क्रान्ति के नेता रंगो बापूजी गुप्ते

अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार

१८५७ के लेखक डा. सेन, डा. मजूमदार और मौ. आजाद सरीखे ऐतिहासिक इस बात को नहीं मानते कि १८५७ में सिपाहियों ने जो बलवा किया, वह स्वातन्त्र्य युद्ध था और इस देश से 'अंग्रेजों को निकाल कर स्वराज्य स्थापित करने के उद्देश्य से वह लड़ाई लड़ी गई थी। यह भी वे नहीं मानते कि रंगो बापूजी और अजीमुल्ला खां ने मिल कर अंग्रेजों से लड़ने के लिए कोई योजना बनाई। वे यह मानते हैं कि देश में व्यापक रूप से असन्तोष फैला हुआ था, जनता ब्रिटिश राज से असन्तुष्ट थी, किन्तु यह वे नहीं मानते कि इस असन्तोष को प्रकट करने के लिए कोई संगठित प्रयत्न किया गया। लेकिन इनकी ये धारणायें किस आधार पर बनी हैं, यह कहना कठिन है। डा. सेन का '१८५७' तो ब्रिटिश ऐनक लगा कर लिखा गया लगता है। लेखक यह भूल जाता है कि यह क्रांति या बलवा कलकत्ते से पेशावर तक और दिल्ली से नर्मदा तक ही फैली नहीं थी, यह सह्याद्री को पार कर गयी थी यद्यपि, उत्तर के समान वहां वह प्रबल नहीं थी। डा. सेन मानते हैं कि अयोध्या और शाहाबाद (आरा-कुंवर जगदीश सिंह) जिलों में तो जनता ने बलवाइयों का साथ दिया, पर वे इस का कोई उत्तर न दे सके कि तलवार के धनी, साधन हीन व अर्थहीन भारतीय सैनिक फिर १८५९ तक इस आग को जीवित और सुलगती कैसे रख सके? दूसरी बात डा. सेन यह भूल जाते हैं कि यदि भारतीय सैनिक अंग्रेजों को इस देश से बाहर निकालने में सफल नहीं हुए, तो अंग्रेज भी इस मुल्क को दुबारा तब तक न जीत सके, जब तक अंग्रेजों की नई गोरी फौजें भारत में नहीं आ गईं। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों का सम्बन्ध अपने देश से सदा बना रहा। यही नहीं, क्रांति की योजना बनाने वालों ने जिस अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति को लक्ष्य में रख कर युद्ध-योजना बनाई थी, वह अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति नहीं रही और अंग्रेजों की विपत्ति टल गई। यदि क्रीमिया, मलाया, चीन आदि में ब्रिटिश फौजें फंसी रहती, जैसा कि 'नाना' का अनुमान था, तब क्या होता, यह कल्पना का विषय है। इससे यह कहना कि १८५७ के युद्ध के पीछे स्वराज्य की भावना और कोई संगठन नहीं था, एक भारी भ्रम है, जो कि '१८५७' उत्पन्न कर दिया है। रंगो बापूजी का चरित्र इस विषय में प्रकाश डालता है, अतः क्रान्ति के इस नेता के जीवन पर एक दृष्टिपात करना चाहिए। श्री शिखरे एम.ए ने इन तथ्यों को प्रकट कर के १८५७ के इतिहास को वीर सावरकर के समान नई दिशा दिखाई है। केवल अंग्रेजी ग्रंथों का या अंग्रेजों द्वारा लिखी बातों के आधार पर लिखा इस काल का इतिहास प्रामाणिक नहीं हो सकता। भारतीय भाषाओं में इस विषयक तात्कालिक साहित्य को भी देखना चाहिये।

एक उदाहरण लीजिए। मेरठ के भिक्षुक तक को मालूम था कि सायंकाल मेरठ में बलवा होने वाला है। किन्तु छावनी के गोरे सैनिकों और अधिकारियों को इस की गन्ध तक नहीं मिली। शाम के चार बजे तक वे नहीं जानते थे कि भारतीय सिपाही उन पर हमला करने वाले हैं और उनकी जान खतरे में है। इतनी गुप्तता कैसे रखी जा सकी? १८५७ की क्रांति को जन-क्रांति न मानने वाले क्या इस रहस्य की व्याख्या कर सकते हैं?

गुप्तेजी के जीवन के दो भाग हैं। दोनों उज्वल, उदात्त, और महान् हैं। किन्तु १८५७ की क्रांति से उनका जो संबंध रहा है, उसका ही उल्लेख करना यहां पर्याप्त होगा। जीवन के चौदह वर्ष गुप्तेजी ने इंगलैंड में बिताये, और संवैधानिक लड़ाई लड़ी। १८५४ में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के डाइरेक्टरों ने अपने खर्चे से इनको भारत वापस भेज दिया। आप अंग्रेजों से न्याय पाने की आशा छोड़ कर भारत लौटे और अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई छेड़ने की तैयारी में लग गये।

इस समय वातावरण कैसा था? वायुमंडल में कौन-सा स्वर भरा था।

"ये लोग अपने देश को स्वतन्त्र कर लेंगे और अंग्रेजों से कहेंगे : तुम अपने देश चले जाओ"—'लोक हितवादी'

इन शब्दों में अगस्त १९४२ की "भारत छोड़ो" की गूंज सुनाई देती है। यह आवाज उठी १८४९ में, ठीक आज से १०८ साल पहले।

और देखिए :

"यदि मेरी आखिरी प्रार्थना भी रद्दी की टोकरी में फेंक दी गई, तो तुम्हारे जबरदस्त पंजों के नीचे दबे पड़े व जकड़े हुए, सम्पूर्ण एशिया के राष्ट्रों को जागृत करने के लिए मैं अपने करोड़ों भारतीय बन्धुओं की ओर से उच्च स्वर से यह घोष करूंगा, "बाज हो, उठो-जागो, इन अंग्रेजों को भली प्रकार परख कर इनसे सावधान रहो।)"—रंगो बापू जी

रंगो बापूजी की यह घोषणा आज भी अधूरी ही पड़ी है। एशिया आज भी संघटित नहीं हुआ। किन्तु रंगो बापूजी ने सारे एशिया को एक करने का ध्येय अपने सामने १८५३ में रखा था। क्या इसके बाद भी यह कहना ठीक होगा कि १८५७ का बलवा एक विस्फोट था, वह छुट-पुटा था और उसके पीछे स्वतन्त्र होने की उदात्त भावना नहीं थी ?

बम्बई सरकार ने "स्वातन्त्र्य-युद्ध" का पहला खंड प्रकाशित किया है। इसमें अनेक ऐतिहासिक कागज-पत्र दिए गए हैं। नीचे का वर्णन उससे लिया गया है :

रंगो बापूजी १८५४ में भारत वापिस आया। सारे भारत का उसने दौरा किया। ब्रह्मावर्त्त भी गया और नाना साहेब पेशवा से मिला। राज विहीन की गई सब रियासतें क्रोध से खदखद कर रही थीं। और भारतीय सैनिक धर्मान्तर के भय के कारण, काले और गोरे के बीच व्यवहार में भेद रखने के कारण और आर्थिक भेदभाव के कारण अंग्रेजों से नाराज हैं। यह स्थिति है, यह दोनों को ठीक मालूम दी। अब प्रश्न था काम करने का।

कब, कहां और कैसे करें, यह प्रश्न उठा। आखिर में तुम महाराष्ट्र में क्या करोगे? यह सवाल नाना साहेब ने पूछा। तब रंगो बापूजी ने जो उत्तर दिया वह उन्हीं के शब्दों में पढ़िए :

"उत्तरेला पंचारतीचा गजर झालेला ऐकू येता च दक्षिणेत की नौबदीवर टिपरी हाणतों।"रंगो बापूजी नाना का दक्षिण में एक हाथ था, जैसे उत्तर में उसका अजीमुल्ला खां था।

१८५७ का संग्राम यकायक शुरू नहीं हो गया था। इसके पीछे एक प्रेरणा थी, एक संगठन था और एक इच्छा शक्ति थी। नरगुंद रियासत के दफ्तर में नाना साहेब पेशवा का एक अप्रकाशित जाहिरनामा मिला है। इसमें कहा गया है कि, "दिल्ली के बादशाह के हुक्म से उसके पंच-प्रधान पेशवों ने यह जाहिरनामा प्रसिद्ध किया है। यह जाहिरनामा "सरंजामदार, जागीरदार, देशमुख, देश-पांडे, जमींदार, पाटील, कुलकर्णी और दक्षिण और कर्णाटक की समस्त प्रजाजन के नाम है।" इनको संबोधन कर अंग्रेजों की कुटिल नीति का वर्णन करने के बाद इन सब का युद्ध के लिये आह्वान किया गया है : "वीरो ! परमेश्वर ने मुझे इन काफिर अंग्रेजों का नाश करने की आज्ञा दी है। दुष्ट, जुल्मी व अन्यायी काफिर अंग्रेजों का शासन मिटा कर पहले के समान यहां हिंदू-मुसलमानों का राज्य स्थापित करने और मातृभूमि की रक्षा करने की जिम्मेदारी परमेश्वर ने मुझे सौंपी है। उसके अनुसार नर्मदा नदी का उत्तर का प्रदेश मैंने जीत लिया है। यह जाहिर-नामा बांचते हुए, वीरो ! तुम अपनी बहादुरी दिखाओ और दया माया न दिखा कर अंग्रेजों का कत्तल करो। इस से तुमको पुण्य लाभ होगा, तुम्हारा धैर्य व पराक्रम प्रकट होगा। तुम्हारे पूर्वजों पर व तुम्हारे राजे महाराजों पर अंग्रेजों ने जो अन्याय किया व जो दुष्टता की है, उसका बदला लेने का यह योग्य क्षण है।

"इस समय अंग्रेजों में धर्म सम्बन्धी मतभेद उत्पन्न हो गया है, इस कारण वे आपस में लड़ने-झगड़ने और एक-दूसरे का गला काटने में लगे हुए हैं। फ्रेंच और रशियन दीर्घकाल से अंग्रेजों से द्वेष करते रहे हैं। हिंदुस्तान से अंग्रेजों को निकाल देने का यही ठीक समय है, ऐसा उनको प्रतीत होता है। अतः पिछले तीन महीनों से वे जलमार्ग से अपनी सेना यहां भेज रहे हैं। चीनियों ने भी काफिर अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी है। वहां भेजने के वास्ते अंग्रेजों के पास सेना नहीं है, इस कारण वे हौसला छोड़ बैठे हैं। ईरानी, अफगान व बलूची भी हमारी सेना में आकर हमारी मदद करने को तैयार हैं। इसका अर्थ यह है कि अंग्रेजों का इस भूमि से समूल उच्चाटन करने

की यह सुवर्णसंधि है ।"

नाना साहिब ने एक दूसरा जाहिरनामा १५ सितम्बर १८५७ को निकाला है और इसमें कहा गया है कि कि वे ६ सप्ताहों में पूना आवेंगे :

"सब लोगों को सूचना दी जाती है कि अंग्रेजों से युद्ध कर के बहुत-सा मुल्क हमने जीत लिया है और वहां हमारा अमल चालू है । छः सप्ताहों के ही अन्दर पूना आकर सह्याद्रि के दक्षिण का प्रदेश हम जीत लेंगे और मैं गो-ब्राह्मण का प्रतिपाल करूंगा । प्रत्येक को अपने-अपने धर्म के अनुसार आचरण करने की स्वतंत्रता रहेगी ।"

इस सम्बन्ध में एक और महत्वपूर्ण बात है कि २७ अगस्त से ७ सितम्बर तक तीन खास यूरोपियन जजों के सामने १७ क्रांतिकारियों के विरुद्ध मुकद्दमा चलाया गया । इसका वर्णन बम्बई के 'स्वातन्त्र्य इतिहास' में दिया गया है । इससे मालूम होता कि रंगो बापूजी भोर से बेलगांव तक दिसम्बर १८५६ से ६ माह तक मांग-रामोशी-कोली इन लोगों को विद्रोह करने के लिए संघटित कर रहा था । कराड, वाढार, फलटण, पंढरपुर, बेलगांव, कोल्हापुर आदि स्थान आजादी के सैनिकों की भर्ती के केन्द्र थे । रंगो बापूजी का लड़का सीताराम, व केशव नीलकंठ, उर्फ अण्णा साहब चित्रे, और कराड का दौलतराय पंवार, भोर के शेटे बन्धु, इस काम में उनके सहयोगी और एजेंट थे । ये लोग जगह-जगह घूम कर मनुष्य बल और द्रव्यबल का संग्रह करते थे । इन्होंने बन्दूक की ८०० गोलियां भी तैयार की थीं ।

इस सम्बन्ध में एक पत्र भी उल्लेख योग्य है । यह चिमणाजी रघुनाथ सचिव ने रंगो बापूजी को भेजा है ।

श्री रामचंद्र

राजश्री रंगोबापूजी विशेष । १५ जून को अपने जिन कामों के विषय में सूचना दी है, वह सब समझ लिया । यहां सब काम उसके संकेत के अनुसार ही हम सब करेंगे । हम आपसे बाहर नहीं । इस प्रकार से महाराज से कहें । फिक्र न करें । १० जून १८५७ । यह पत्र भोर के पंत सचिव का है ।

नागरिकों के समान कोल्हापुर, बेलगांव, धारवाड़, व सतारा की अंग्रेजी सेना के भारतीय सैनिकों को भी इस युद्ध में भाग लेने के लिए रंगो बापूजी ने तैयार किया था । आपने अपने सामने चार उद्देश्य रखे थेः—

१. सतारा और महाबलेश्वर के सब अंग्रेजों व यूरोपियनों को पकड़ना;

२. ज़ेलों में बन्द कैदियों की रिहाई करना;

३. सरकारी खजाना लूटना; और

४. प्रतापसिंह के पुत्र को सतारा की गद्दी पर बिठाना ।

सतारा-अभियोग के मुख्य न्यायाधीश ने इस मुकद्दमे का नाम "रंगो बापूजी का षड़यंत्र" दिया है और यह भी लिखा है कि इस षड़यंत्र का मुखिया रंगो बापूजी था ।

सतारा में विद्रोह की अग्नि भड़की, यह एक ऐतिहासिक सत्य है । इसमें रंगो बापूजी का लड़का सीताराम और उनके अन्य सगे संबंधी पेशवा नीलकंठ, चित्रे उर्फ अण्णा माया, कुशावा, बलवन्तराव प्रभु आदि इसमें सम्मिलित थे । ये सतारा-युद्ध के नेता थे । गवाहों ने जो गवाही दी उनका सारांश है :

"दिसम्बर १८५६ से जून, ५७ तक रंगो बापूजी भोर रियासत व बेलगांव जिला व मुल्क में घिरनी के समान फिरता रहता था और अपने कार्य के लिए मांग-रामोशी-कोली लोगों में से मनुष्य बल जमा करता था ।"

सतारा अभियोग में १७ व्यक्ति थे और इन सबको प्राणदंड दिया गया । कुछ को बन्दूक की गोली द्वारा, कुछ को तोप के मुंह के सामने खड़ा कर, और कुछ को फांसी की रस्सी से मारा गया । पर रंगो बापूजी को जो सजा दी गई वह आज भी कायम है । इसके बाद का उनका चरित्र अज्ञात है । जन्म के समान उनकी मृत्यु का भी पता नहीं ।

रंगो बापूजी गुप्ते की स्वामी-निष्ठा, असीम परिश्रम, विलक्षण साहस, अटूट धैर्य, लक्ष्य के प्रति दृढ़ विश्वास और निःस्वार्थ भावना, भारतीय इतिहास में सदा आदर के साथ स्मरण की जायगी । वामनदास वसु ने, 'स्टोरी आफ सतारा' में ठीक ही लिखा है : "इसको प्रथम और अग्र भारतीय आंदोलनकारी मानना चाहिये ।"

इसके बाद भी १८५७ के संग्राम को छुट-पुटा असन्तोष का विस्फोट कहना क्या युक्त होगा ?

जातिभेद और अस्पृश्यता—एक विश्लेषण

विश्वेंद्र मेहता

सामान्यत जाति-भेद का उद्‌गम ऋगवेद के उस पुरुष सूक्त को ही माना जाता है जिसमें कहा गया है कि 'प्रजापति के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उदर से वैश्य और पदों से शूद्र उत्पन्न हुए।' यदि इस कथन के आधार पर ही ऊंच-नीच का अनुमान लगाया जाय तो शूद्र भी सर्व श्रेष्ठ कहे जा सकते हैं क्योंकि वह पैरों से उत्पन्न हुए जिनका कि पूजन होता है। परंतु कालांतर में वर्ण-भेद की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई। कुछ ने वर्णों को कर्म के आधार पर बांटा, जिसमें शिक्षक और ज्ञानी ब्राह्मण या पुरोहित, लड़ाकू और बहादुर क्षत्रिय, व्यापारी वैश्य और श्रमजीवी शूद्र कहाए। तबतक केवल कर्म के अनुसार ही समाज को विभाजित किया गया था। समाज में ऊंच नीच और अस्पृश्यता नाम की वस्तु न थी। शूद्र माता के उत्पन्न होने वाले ऐतरेय को ऐतरेय उपनिषद का प्रणेता और ब्राह्मण के रूप में आज भी स्मरण किया जाता है। इसी प्रकार विश्वामित्र के सौ पुत्रों में से पचास ब्राह्मण और पचास शूद्र थे। वेद बेचने वाला, सूद खानेवाला तथा सदाचरणहीन ब्राह्मण भी शूद्र हो सकता था।

परन्तु कालान्तर में कर्म के आधार पर विभाजित समाज को तहस नहस कर दिया गया। समाज में सत्ता, आदर, धन और ऐश्वर्य की पिपासा में चारों वर्ण जुट गए। कभी किसी ने सत्ता हथिया ली, कभी किसी ने धन पर आधिपत्य जमा लिया। ब्राह्मण तो शिक्षक और बुद्धिजीवी होने के नाते सदैव ही पूज्यनीय बने रहे। या तो उन्होंने राज्य-सत्ता को हथिया लिया अथवा क्षत्रियों द्वारा अपनी इच्छानुसार शासन चलवाया। जिसका उदाहरण स्वयं चाणक्य हैं। दूसरी ओर वैश्य व्यापार और धन-लोलुपता पर ही संतोष कर बैठे। परन्तु शूद्रों को समान अवसर न देने के लिए उन्हें अस्पृश्य करार दे दिया गया।

विदेशी आधिपत्य में समाज की स्थिति और भी बिगड़ गई। एक ओर ब्राह्मण चीख रहे थे कि हम महान् हैं, हममें दैवी शक्ति है और केवल हमारे ही मस्तिष्क में विद्या का अगाध भण्डार है, दूसरी ओर क्षत्रिय अपने भुजदण्ड ठोंककर यह जता रहे थे कि हममें शक्ति है, राज्य करने की क्षमता है, तीसरी ओर वैश्य समाज की सम्पत्ति पर अपना प्रभुत्व जमाकर, चांदी और सोने की झिलमिलाहट में सभी को अपने अधीन बता रहे थे। और चौथी ओर श्रमजीवी शूद्र अपने स्वेद कणों से समाज के अन्य वर्गों की बगिया सींच रहे थे। यह हालत थी हिंदू समाज की! नीचे-से-नीचा, बुरे-से-बुरा, गंदे-से गंदा, काम करना और समाज की जूठन से अपना पेट भरना ही इन शूद्र कहे जाने वाले समाज के वर्ग को हिस्से में मिला था। केवल इतने से ही समाज को संतोष न हुआ और उन्होंने इन शूद्रों को रोटी और बेटी व्यवहार में सम्मिलित रखना तो दूर रहा, उनकी परछाई तक से स्वयं को दूर कर लिया। शूद्र अस्पृश्य होगए। व्यास, बाल्मीकि, विदुर, नंदराम, तुकाराम, कबीर, रैदास, सैना और दादू को जन्म देनेवाली शूद्र जाति को अन्य वर्णों की निकृष्ट सेवा का कार्य दिया गया जिसके बदले में उन्हें दी गई उपेक्षा, घृणा और दुत्कार!

ऊंच-नीच, जाति-भेद, अस्पृश्यता और असमानता ने भारतीय समाज के ढांचे को जर्जर कर दिया। राष्ट्र का जीवन-क्रम अस्त-व्यस्त होगया। प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो गया। भला अनुमान कीजिए कि जहां केवल सारस्वत ब्राह्मणों में ही चार सौ उन्हत्तर शाखाएं, क्षत्रियों में पांच सौ अस्सी शाखाएं और शूद्रों की छः सौ से भी अधिक शाखाएं हों, वहां का जीवन कितना संकुचित और विभाजित होगा।

अस्पृश्यता और जातिभेद के विरुद्ध भारत की महान् विभूतियों ने संघर्ष किया। मानवता को मानवता से अलग करनेवाली इस प्रथा का अंत करने के लिए भगवान बुद्ध, महावीर, कबीर, नानक, चैतन्य, दयानंद, विवेकानंद और अरविंद-जैसी महान् आत्माओं ने मानव समानता के आदर्श को प्रस्तुत किया और अपना सर्वस्व बलिदान कर इस लोक से प्रयाण कर गए। इसके पश्चात् भी इस दानवी का अंत न हुआ और महात्मा गांधी ने जीवन पर्यंत इससे लोहा लिया और आज वह भी हमारे

बीच से उठ गए। परंतु इन महान विभूतियों के प्रयत्न निष्फल न हुए। गांधीजी के अंतिम धक्के ने अस्पृश्यता के जर्जर भवन को धराशायी कर दिया। और अब ऐसा प्रतीत होता है कि मानवता का उपहास करनेवाला या समाज-विरोधी यह नग्न नृत्य और अधिक दिनों तक न चल सकेगा। मानव मानव समान हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार का काम करने वाले व्यक्ति समाज के विभिन्न अंग हैं। यह सिद्धांत सर्वमान्य होता जा रहा है।

अस्पृश्यता व जातिभेद केवल भारत ही में नहीं वरन् भिन्न-भिन्न रूपों में विश्व के अन्य भागों में भी विद्यमान् है। कहीं काले और गोरे के रूप में, कहीं सभ्य और असभ्य के रूप में, वह दिखाई देती है। यदि इस विषय पर लिखने की चेष्टा की जाय तो सैकड़ों पन्ने रंगे जा सकते हैं। परंतु हमें अपने देश के उन दस करोड़ उपेक्षित जनों की ओर देखना है, जिन्हें समाज की चक्की के पाटों के बीच शताब्दियों तक पीसा गया। उनकी आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक स्थिति क्या है, इसपर ध्यान देने की अत्यंत आवश्यकता है।

कुछ दशाब्दियों पूर्व राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने राष्ट्र की एकता और प्रगति के लिए अस्पृश्यता और भेद-भाव निवारण के कार्य को सर्वाधिक महत्व दिया था। उन्होंने समाज से एक जबरदस्त बगावत की और समाज के ठेकेदारों को बता दिया कि यदि तुमने अब भी इन मानवता के अनन्य सेवक अछूतों को गले न लगाया तो तुम्हारे धर्म, संस्कृति और सभ्यता का अंत निश्चित है। उन्होंने इस कार्य को अपने जीवन का प्रमुख अंग बनाकर इसे रचनात्मक-रूप दिया। उन्होंने लोगों के हृदय-परिवर्तन के लिये अनशन किये, दौरे किये और अपनी वाणी और संदेश द्वारा, अछूत कहे जानेवाले लोगों के कार्य की महत्ता की ओर ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने अछूत कहे जाने वाले लोगों के लिए 'हरिजन' नाम से अत्यंत पवित्र शब्द प्रयोग करने की सलाह दी। हरिजनोद्धार को उन्होंने आजादी की लड़ाई का एक अंग बनाया और उसमें उन्हें आशातीत सफलता भी मिली। लाखों और करोड़ों भटके हुए लोगों ने समाज के इस कलुष को धोने का व्रत लिया और दलित तथा शोषित हरिजनों में भी चेतना और स्वाभिमान की एक लहर दौड़ गई।

देश में आजादी आई। गांधीजी की छत्रछाया में कांग्रेस ने देश की बागडोर संभाली। देश की अन्य महत्व-पूर्ण समस्याओं के साथ-साथ हरिजनों की उन्नति और विकास के प्रश्न को भी प्राथमिकता दी गई। भारत के संविधान में अस्पृश्यता को अपराध घोषित किया गया। जहां सभी नागरिकों को समान अधिकार प्रदान किये गये वहीं पिछड़े वर्ग के इन लोगों को कुछ विशेष अधिकार और सुविधाएं प्रदान की गईं। हरिजन और पिछड़ी जातियों को दस वर्ष के लिए पृथक निर्वाचन, शासकीय नौकरियों में उनके हितों का संरक्षण और अन्य आर्थिक सहायताओं में प्राथमिकता देने की सुविधाएं प्रदान की गईं। मंदिरों के द्वार हरिजनों के लिए खुल गये। उन्हें भूमि पर बसाने और आर्थिक सहायता देकर कृषि में लगाने के भी प्रयत्न जारी हैं। हरिजन विद्यार्थियों को भी विशेष सुविधाएं और सहायताएं प्रदान की गईं।

वास्तव में हरिजनों की समस्या के तीन पहलू हैं—राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक। देश में वयस्क मताधिकार ने राजनैतिक समस्या कुछ सीमा तक हल कर दी है। संसद से लेकर एक ग्राम पंचायत तक के लिए होनेवाले चुनावों में हरिजनों के बिना सफल होना अत्यंत कठिन है। जहांतक हरिजनों की सामाजिक स्थिति का प्रश्न है, अभी इस क्षेत्र में काफी काम होना है। राज्य सरकारों तथा केंद्र द्वारा यद्यपि अस्पृश्यता निवारण कानून बना दिये गये हैं, फिर भी अभी जनसाधारण के हृदय-परिवर्तन की आवश्यकता है। प्रसन्नता का विषय है कि अब कट्टरपंथी सवर्ण हिंदुओं और धर्म-धुरंधरों में भी हरिजनों को उनके वैधानिक अधिकारों के प्रयोग करने से रोकने का साहस नहीं है। समय की पुकार और मानवता के नाते जनसाधारण हरिजनों की समान अधिकारों की बात हृदय में मान्यता देता है। परंतु अभी समाज के बंधनों का संगठित रूप में ढीला होना शेष है। उसके पश्चात् ही हरिजन समान स्तर पर आ सकेंगे। जहांतक आर्थिक समस्या का प्रश्न है शासन द्वारा उन्हें पर्याप्त मात्रा में

(शेष पृष्ठ ३४५ पर)

किशोरलाल मशरूवाला के पुण्य संस्मरण

गोपालकृष्ण मल्लिक

गोमतीबहन के इलाज के लिए अपने (श्री किशोर ला. भाई) बंबई जाने और मेरे विहार जाने का एक दिन बढ़ा दिया। मैं तैयार होकर आया तो बोले—"हैदराबाद में सांप्रदायिक उपद्रव बढ़ ही रहा है। परिस्थिति विषम है और हम चुप बैठें! सरकार प्रयत्न कर रही है, तो भी उससे परिस्थिति शांत नहीं हो रही है। और वह अहिंसक समाधान भी तो नहीं है! विनोबाजी करीब महीने भर से पश्चिम-पाकिस्तान के शरणार्थियों के बीच दिल्ली में यहां से दूर हैं। उन्हें समाचारपत्र के सिवा हैदराबाद की सच्ची खबर क्या मिलती होगी। वह परसों से विक्रम (बिहार) में हो रहे अ. भा. बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन में भाग लेने आयंगे। आजतक की हैदराबाद की परिस्थिति की पूरी खबर लेकर कल तुम वहां जाओ। कल भवानी भाई ('महिलाश्रम' के संपादक) भी सम्मेलन में जाने के लिए तुम्हारे साथी हो जायगे। हमारे आज बंबई न जाने की खबर मैंने टेलीफोन से वहां भेज दी है।"

वह गम्भीर होगये और पीछे मसनद की ओर खिसके। कुछ देर आंखें बंद किये रहे और बायें हाथ की अंगुली आंखों पर रखे चिंतन में डूब गये। मैंने अनुमान किया कि उनका अंतर हैदराबाद की सांप्रदायिक खूंरेजी से व्याकुल हो उठा है। कई दिनों से, जब से वहां अशांति की यह आग भभकी है, उनके भीतर हाहाकार मचना शुरू हुआ है और वह बेपीर से दिखाई देते हैं।

वह अपने बिछावन से उठे, उतरे और लाठी के सहारे कमरे में चक्कर लगाने लगे। फिर बरामदे में और तब बजाजवाड़ी के आगे के मैदान में गंभीर मुद्रा में टहलने लगे। गोमतीबहन रसोड़े में थीं। शाम के चौके का वक्त था। करीब ६ बज रहा था। गर्मी की शाम और सूर्यास्त अभी बाकी था।

उस दिन की डाक भेजने के काम से, मिलने वालों से मिलकर और सूत्र-यज्ञ से वह निवृत्त हो चुके थे। मैं उनका सूत परेत कर बरामदे में आया और आंगन के द्वार पर खड़ा होकर उनकी व्याकुलता को पढ़ने की कोशिश करने लगा। मुझे लगा, जो मानव, मानव के ताप से इतना तप सकता है; उसका शरीर उस ताप में सूख जाय यह ठीक ही है। सूख तो क्या, जल भी जाय तो क्या आश्चर्य है! लेकिन ऐसा सूखा शरीर और गिरती सेहत लेकर भी वह कैसे खिलखिलाते और मधुर मुस्कान से भरे रहते हैं, क्या यह आश्चर्य नहीं है। निःसंदेह इसमें रूही करामात है। यह मधुर मुस्कान और खिलखिलाहट आत्मा से स्फुरित होकर प्रसन्नता तथा मधुरता को उनके स्वभाव में घोल देती है। लगा, ये देहातीत हैं, आत्म-विजयी हैं। आत्मा और शरीर से भिन्न हैं? तब उनका एक बार का पत्र याद आया—"आत्मा और शरीर से भिन्न तुम हो क्या?" लेकिन इनकी आत्मा और शरीर की यह भिन्नता क्या? पर यह भिन्नता नहीं, देहातीत और आत्मशक्ति के विकास की कसौटी है।

उस समय वह मानव-ताप में तप रहे साकार मूर्ति मालूम पड़े। मैं कुछ देर वहां यह सब देखता और सोचता रहा। वह कुछ बोले नहीं और मेरी भी हिम्मत टहलने में उनके साथ होने की नहीं हुई। थोड़ी देर बाद "क्यों, आ जाओ" ऐसा बोले पर मुस्करायें नहीं। गहन गंभीरता में भी मुस्कराहट कभी खाली नहीं जाती, लेकिन आज यह क्या! मैं भी टहलते हुए बगल में चलने लगा। अब भी स्तब्धता और मौन का ही साम्राज्य था। सोचा, आज शायद ऐसा ही चले। और चलता रहा।

कोई दस मिनट गये, उन्होंने निःश्वास छोड़ा, उसमें कदाचित मानव-ताप की आह भरी थी। मुझे मुखातिब करके और बहुत ध्यान से सुनने-जैसे धीमी और गंभीर वाणी में बोले, "हैदराबाद की सांप्रदायिक हत्या, लूट, हिंसा और अमानुषिकता के सारे कारनामे बापू के अहिंसा-अस्त्र, अहिंसक प्रयोग, व्यवहार और व्यवस्था के लिए खुली चुनौती हैं। इच्छा तो होती है कि वहां जाकर अहिंसा का कुछ जौहर दिखाऊं और प्राण की बाजी लगाकर भी उस आग को शांत करूं।" कहकर उनका

श्वांस कुछ तेज हो गया और वह मौन पड़ गये। मुझे लगा कि कुछ जप या स्मरण हो रहा है, हरि-स्मरण या बापू-स्मरण। घटना और बापू-स्मरण ताजे थे। हरि स्मरण तो उनके स्वांस के साथ ही जड़ा था। मुझे फिर उनके एक पत्र की बात याद आई जिसमें उन्होंने ब्रह्म, हरि, विष्णु और बापू की शक्ति, महत्ता और मर्यादा का विशद विवेचन मुझे समझाया था। मैंने सोचा उनके लिए सभी एक है। बापू को उन्होंने इतना महान् समझा था और उनकी महिमा अपनी रग-रग में व्याप्त करली थी। उनकी मौन शांति फिर टूटी और —"गोमती का इलाज भी आज ही आया है। यह परिस्थिति भी कितनी गुरुतर है !" कहकर उनका चेहरा सुर्ख होगया। उनके टहलने की चाल सदा से भी धीमी थी।

गंभीरता और बोली की तीव्रता उनके लिए स्वाभाविक थी ! किंतु इतने भावातिरेक और विषम परिस्थिति में भी यह अस्वाभाविक शिथिलता तो विरल थी। मुझे लगा शायद अपनी शारीरिक दैन्यता से इन्हें क्षोभ हुआ है कि ऐसे शरीर को कौन वहां जाने की सलाह देगा। मेरा विश्वास था और वही हुआ भी कि विनोबाजी या दूसरे लोग भी इन्हें वहां जाने की सलाह दे ही नहीं सकते। और सबकी राय के खिलाफ जाने की इनकी मर्यादा नहीं थी। इतना मर्यादित था इनका विचार और आचार। मैंने पूछा—

"गोमतीबहन के इलाज का दिन आगे खिसकाया जा सकता है ?"

—"नहीं, डाक्टर ने इससे बड़े खतरे का अनुमान बताया है।"

"तो ?"

—"तो, जबतक विनोबाजी का कुछ जवाब आ जाय इनका इलाज पूर्व निश्चय के अनुसार ही परसों से बंबई में आरंभ होगा।" कहते हुए कमरे की ओर मुड़े। बिछावन पर से दफ्तर हटा दिया। वही लिखने की टेबुल। और वही विश्रामागार ! वे लेट गये। मुझे २-३ पर पंखे का स्वीच खोल देने को कहा। मैं पास में ही खड़ा होने का उपक्रम करता बोला, "आपका रोग आज की वीहड़ रात्रि, इस व्यथा और व्याकुलता से और भी गहन हो जायगा ! मैं आज रात यहीं आकर सोऊं क्या ?"

"तुम्हें यही चिंता है क्या ?"

"और मैं किस लायक हूं।"

"लेकिन रोग-संकट तुमसे पनाह मांगता है क्या ? तुमसे मौत और यमराज भी डरते हैं क्या ?"

मैं चुप रहा। गोमतीबहन आई, "अभी तक तुम गोपुरी नहीं गये।" मेरे पहले उन्होंने ही कहा, "अभी कौन सी देर हुई है।"

वह फिर अंदर चली गई, संभवतः उनका खाना लाने। मेरा उनसे संकोच ही चलता रहा। नहीं तो अभी-अभी उनके पीछे की अपनी आंखों से देखी किशोरलाल भाई की व्यथा उनको सुनाता और कदाचित अधिक संकट या खतरे के लिए सतर्क रहने की कुछ बात करता। लेकिन उनसे क्या छिपा रह सकता है। उनकी पीड़ा न बढ़े इससे किशोरलाल भाई अपनी बहुत पीड़ा पी जाने की कोशिश करते, लेकिन तब भी उनकी नजरों में वह छिपा नहीं रह सकता था।

मैं चला तो वह रोककर कहने लगे, "देखना, मेरे लिए चिंता का भूत तुमपर सवार न हो जाए।"

क्या जवाब देता, पर उनकी आंखों में देखा, वह चिंता-मुक्त थे। भावों के शिकन को पढ़ने की कोशिश की, कर्तव्य की व्यस्तता उनमें थी।

रात में मेरा ध्यान बरबस उनके जीवन की ओर मुड़ा। वह बंबई के जनाने अस्पताल में गोमतीबहन की सेवा सुश्रषा खुद से करेंगे, जैसे पतिव्रता पत्नी पति की करती है। भारतीय संस्कृति के अनुप्रेरक उनके इस सांस्कृतिक जीवन की ओर किसीने ध्यान न भी दिया हो पर दाम्पत्य-धर्म का पालन एक महान पति की हैसियत से नहीं, साधारण मानव पति के लिए भी जैसा होना चाहिए, अपने अन्य कर्तव्य पालन के साथ वह वैसे ही निबाहते रहे। पत्नि-सेवा के कर्तव्यपालन के साथ समाज और राष्ट्र-सेवा के लिए उन प्रमुख पत्रों का संपादन भी जारी रहेगा। उस वक्त कितने गण्यमान्य मित्र, मंत्री, पत्रकार और कार्यकर्ता तथा नेता भी मिलने आयेंगे। उसमें कोई

विदेशी सज्जन भी हो सकते । तो क्या वे भारतीय शान की मर्यादा में खलल नहीं पहुंचायंगे ? मैंने कहा, "क्यों न शांताक्रुज में की अच्छी व्यवस्था में रहें और वहां से गोमतीबहन की देखभाल हो ?" उन्होंने कहा, "मैं इसे न्यूनतम सेवा समझता हूं और इसीलिए अपने साथ किसी कार्यकर्ता और स्टाफ को नहीं ले जाता ।"

मुझे काका (काका कालेलकर) की बात याद आने लगी, "किशोरलाल भाई तो प्राचीन ऋषि के अवतार ही हैं। तुम उनके साथ उनके बड़प्पन में टिक नहीं सकोगे ।" पर उनके सिर पर प्राचीन ऋषियों जैसी जटायें नहीं थी और उनके-जैसे वह एकांतवासी नहीं थे । शरीर में हड्डी और उस हड्डी पर फैली नस की लताओं के जाल का दर्शन जरूर ऋषि की आकृति जैसा था । पर ऋषि तो योग और तप में सूखे, सच्चे तपस्वी होते थे और ये तो मानव ताप के तप में सूखे तपस्वी थे । उनका रोग भी तो तप का ही वाहन था ।

सवेरे जबतक मैं पहुंचूं वह लिखने बैठ गये थे । कमरे में मेरे प्रवेश करते ही उनकी तेज और जागरूक आंखें देखकर फिर झुक गई। लिखना जारी था और वह बोले,

"विनोबाजी को चिट्ठी लिख रहा हूं । हैदराबाद का विश्वस्त और ताजा, काफी समाचार रात में टेलीफोन पर वहां से मिल चुका था । तुम विनोबाजी के पास चिट्ठी ले जाने के लिए तैयार होकर आये हो न ?"

"हां ।"

गोमतीबहन जाने की तैयारी और सामान के साज-संभाल में व्यस्त-सी थीं । इधर आईं तो चलती-चलती बोली, "आगये जाने के लिए तैयार होकर ?"

और मेरे जवाब की प्रतीक्षा किये बगैर न जाने किधर छिप गई ।

उन्होंने चिट्ठी लिखी, फिर पढ़ी । फिर पढ़ी और चिट्ठी को मुझे थम्हाते हुए कहा, "यह रहा तुम्हारा एक काम ।"

●

(पृष्ठ ३४२ का शेष)

सहायताएं दी जा रही हैं । उनके रीति-रिवाज और रहन-सहन के ढंग को सुधारा जा रहा है, उनमें शिक्षा-प्रसार हो रहा है, और वह भी पुराने रूढ़िवादी रीति रिवाजों की शृंखलाओं को तोड़कर आगे बढ़ रहे हैं ।

गांधीजी कहा करते थे कि आज सबकी एक ही जाति है, वह है 'भंगी' । भंगी से तात्पर्य है, सारी मनुष्य-जाति का सेवक । जो माता से भी महान् है । वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति में बिना भेद-भाव के ऐसे ही सेवा-भाव की आवश्यकता है ।

शताब्दियों तक अत्याचार सहने के बाद अब हरिजन स्वतंत्र हो चुके हैं । स्वतंत्र भारत में उनकी प्रगति का मार्ग प्रशस्त है । ऊंचे स्थान और ऊंची शिक्षा प्राप्त करने में अब केवल ऊंची जातियों की ठेकेदारी समाप्त हो चुकी है । प्रसन्नता का विषय है कि आज भी हमारे देशवासियों को हरिजन सपूत––संविधान के प्रकांड पंडित स्वर्गीय डाक्टर अंबेडकर और राष्ट्रीय नेता श्री जगजीवनराम जैसी महान् प्रतिभाओं पर गर्व हो सकता है ।

इसमें संदेह नहीं कि भारत में अब वह दिन दूर नहीं जब कि संत कबीर का निम्नलिखित दोहा पूर्णतः चरितार्थ होगा :

"जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजियो ज्ञान,
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान ।

●

लोकोक्तियों में कृषि तथा वर्षा-वर्णन

गौरीशंकर गुप्त

भारतवर्ष अति प्राचीन काल से कृषि-प्रधान रहा है और कृषि-कार्य में यहां के कृषक और ग्रामीण अत्यंत कुशल रहे हैं। अन्य शास्त्रों की भांति ही कृषि-शास्त्र का भी अपना साहित्य रहा है और वह उनके लिए विशेष महत्व का है। यों तो इस विषय में अनेक प्राचीन-अर्वाचीन कवियों की रचनाएं उपलब्ध होती हैं; किंतु घाघ और भड्डरी—ये दो हमारे ऐसे पथ-प्रदर्शक और सच्चे मित्र सिद्ध हुए हैं कि आज भी उनकी रचनाएं आबाल-वृद्ध सभी की जबान पर हैं और उनसे हमारे राष्ट्र का महान् उपकार होता है।

जिस प्रकार इस परिवर्तनशील जगत् में समय-समय पर तुलसी, कबीर, नानक आदि भिन्न-भिन्न महापुरुषों का अवतरण हुआ और वे हिंदी-भाषा-भाषी जनता के हृदय पर अपनी छाप छोड़ गए और जिस प्रकार आज हम उनकी रचनाओं को दृष्टांतस्वरूप उपस्थित कर दूसरों पर प्रभाव डालने की चेष्टा करते हैं, उसी प्रकार उत्तर भारत में कृषकों की साधारण बोल-चाल की भाषा में घाघ और भड्डरी की कहावतें प्रायः सुनी जाती हैं। कृषि-शास्त्र के अतिरिक्त नीति, ज्योतिष तथा स्वास्थ्य-संबंधी अनेक कहावतों के प्रणेता भी वे थे। सीधी-सादी, बोलचाल की भाषा में अपना मंतव्य इन कवियों ने कुशलतापूर्वक प्रकट कर 'गागर में सागर' वाली उक्ति चरितार्थ की है और यही कारण है कि वे इतने लोकप्रिय हुए। इसके अतिरिक्त वे कहावतें लाखों व्यक्तियों की जबान पर आज इसलिए हैं कि उनसे असंख्य जनों का उपकार हुआ है और वे कसौटी पर खरी उतरती हैं। भारतीय कृषकों के लिए तो घाघ और भड्डरी की ये कहावतें आलोक का कार्य करती हैं। खेद तो इस बात का है कि अभी तक उन सभी रचनाओं का कोई प्रामाणिक और और पूर्ण संकलन नहीं निकला। कहा जाता है कि केवल घाघ ने एक लाख के लगभग पद्य बनाए थे। उनकी कोई पाण्डुलिपि या लिखित प्रति प्राप्त नहीं हो सकने तथा प्रांत-भेद होने के कारण कुछ पाठ-भेद भी मिलता है और यह स्वाभाविक ही है।

यहां घाघ और भड्डरी की कुछ चुनी हुई सामयिक (कृषि तथा वर्षा-संबंधी) कहावतें उपस्थित हैं।

कृषि और कृषक का क्या संबंध है, यह सभी जानते हैं। आदर्श कृषक कैसा हो यह घाघ के शब्दों में देखें—

बांध कुदारी खुरपी हाथ।
लाठी हंसुवा राखै साथ॥
काटै घास औ' खेत निरावै।
सो पूरा किसान कहलावै॥

अर्थ स्पष्ट ही है कि जो कुदाल और खुरपी हाथ में तथा लाठी और हंसुवा साथ में रखता है, घास काटता और खेत की निराई करता है वही पूरा किसान है।

दूसरी उक्ति भी महत्वपूर्ण है—

खेती ? खसम सेती॥
आधी केकी ? जो देखे तेकी॥
बिगड़ै केकी ? घर बैठे पूछै देकी॥

सत्य ही है कि जो स्वयं खेती करते हैं, वे ही पूरे सफल होते हैं। जो केवल निरानी करते हैं, वे आधी सफलता प्राप्त करते हैं और जो घर-बैठे ही खेती का हाल पूछते हैं, उनकी खेती निष्फल ही होती है।

और एक देखिए—

खेती करै सांझ घर सोवै।
काटै चोर हाथ धरि रोवै॥

घाघ का यह मूलमंत्र है उन कृषकों के लिए जो अपना और अपने परिवार का ही नहीं, अपितु राष्ट्र का हित चाहते हैं। उनका यह कथन तथ्यपूर्ण है कि जो कृषक खेती करके निश्चित हो जाते हैं और रात में रखवाली न कर घर पर खुर्राटे भरते हैं, उनकी खेती चोर या शत्रु नष्ट कर डालते हैं और वे हाथ पर हाथ रखकर रोया करते हैं। संक्षेप में, कृषि और कृषक के संबंध में इतना ही पर्याप्त है।

यों तो प्रायः सभी ऋतुओं का कृषकों से घनिष्ठ संबंध है; किंतु वर्षा ऋतु से सर्वाधिक संबंध है। दूसरे शब्दों में वर्षा ऋतु पर ही कृषि निर्भर है। इस

संबंध में बिना आवश्यक जानकारी प्राप्त हुए कृषि-कार्य में पग-पग पर बाधाएं उपस्थित होती हैं। अतएव घाघ और भड्डरी की वर्षा-विषयक कुछ चुनी हुई कहावतें सभी कृषकों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। अब उनकी कुछ कहावतों का रसास्वादन करें:—

सूकवार की बादली, रही सनीचर छाय।
घाघ कहै सुन घाघिनी, बिन बरसे ना जाय॥

यदि बादल शुक्रवार को दीख पड़ें और शनिवार तक छाये रहें तो वर्षा अवश्य होगी।

माघ के ऊषम जेठ क जाड़।
पहले वरषा भरिगा ताल॥
कहै घाघ हम होब बियोगी।
सावन मास कुंआ धौबै धोबी॥

घाघ कहते हैं कि यदि माघ मास में गर्मी और ज्येष्ठ में जाड़ा पड़े तथा वर्षा पहले ही होने कारण गढ़े जलपूर्ण हो जायं तो श्रावण में वर्षा इतनी कम होगी कि धोबियों को कहीं पानी न मिलेगा और वे कुएं के पानी से काम चलाएंगे।

रोहिनी बरसै मृग तपै,
आर्द्रा कछु टरि जाय।
घाघ कहै सुनु घाघिनी,
स्वान भात नहि खाय॥

यदि रोहिणी नक्षत्र में वृष्टि हो एवं मृगशिरा नक्षत्र खूब तपे—आर्द्रा नक्षत्र भी कई दिन तपे और उसके पश्चात् आर्द्रा में ही वृष्टि हो तो धान की उपज इतनी अधिक होगी कि भात को कुत्ते भी नहीं पूछेंगे, मनुष्य की तो बात ही क्या है?

सावन सुक्ला सत्तमी, गगन स्वच्छ जो होय।
कहै घाघ सुनु घाघिनी, पुहुमी खेती होय॥

घाघिन से घाघ कहते हैं कि यदि श्रावण शुक्ला सप्तमी को आकाश स्वच्छ हो तो वर्षा के अभाव से खेती नष्ट हो जायगी।

सांझै धनुक, बिहानै पानी।
कहैं घाघ सुनु पंडित-ज्ञानी॥

ज्ञानी पंडितों से घाघ कहते हैं कि यदि शाम को इन्द्रधनुष दीखे तो दूसरे दिन वृष्टि अवश्य होगी।

चमके पच्छिम उत्तर जोर।
तब जान्यो पानी है जोर॥

यदि पश्चिम और उत्तर के कोने में बिजली चमकती दीखे तो समझ लेना चाहिए कि काफी वृष्टि होगी।

उलटा बादर जो चढ़ै, विधवा खड़ी नहाय।
घाघ कहैं सुनु भड्डरी, वह बरसै वह जाय॥

घाघ का कथन है कि पूर्वा वायु चलने पर यदि पश्चिम दिशा से घटाएं घिर आएं और वे घटाएं वृष्टि करें तथा उसमें विधवा नहाए तो वह विधवा किसी पुरुष के साथ भाग निकलती है।

अब भड्डरी की कुछ रचनाएं देखिए:—

रात में बोले कागला, दिन में बोले सियार।
तो यों भाखे भड्डरी निश्चय पड़े अकाल॥

यदि रात्रि में कौवे और दिन में सियार बोलें तो अकाल निश्चित है।

सुदि असाढ़ में बुध को उदै भयो जो देख।
सुक्र अस्त सावन लखो, महाकाल अवरेख॥

आषाढ़ के शुक्ल-पक्ष में यदि बुध का उदय हो और श्रावण में शुक्रास्त हो तो भीषण अकाल पड़ता है।

आर्द्रा तो बरसै नहीं, मृगसिर पौन न जोय।
तो जानौ यह भड्डरी, बरखा बूंद न होय॥

भड्डरी का कथन है कि यदि आर्द्रा नक्षत्र में वृष्टि न हो और मृगशिरा नक्षत्र में हवा न चले तो एक बूंद भी जल न बरसेगा।

भड्डरी की इन रचनाओं में अकाल वा अवर्षण का का सुंदर संकेत है। अब वर्षा-विषयक कहावतें भी देखें—

माघ अंधेरी सप्तमी, मेह बिज्जु दमकंत।
मास चारि बरसै सह, मतसोचै तू कंत॥

कृषक से उसकी पत्नी कहती है कि यदि माघ कृष्ण सप्तमी को बादल दीख पड़े और बिजली चमके तो, हे स्वामी! चिंता की बात नहीं है—वर्षा के चातुर्मास में में पर्याप्त वृष्टि होगी।

कातिक सुदी एकादशी, बादल-बिजली होय।
तो असाढ़ में भड्डरी, बरखा चोखी होय॥

भड्डरी का कथन है कि यदि कार्तिक शुक्ला एकादशी को नभ में बादल घिरे हों और बिजली चमके तो

आषाढ़ में अच्छी वर्षा होगी।

माघ सप्तमी ऊजली, बादल मेघ करंत ।
तो असाढ़ में भड्डरी घनो मेघ बरसंत ।।

यदि माघ शुक्ला सप्तमी को आकाश मेघाच्छन्न रहे तो आषाढ़ में पर्याप्त वृष्टि होगी।

पूस अमावस मूल को, सरसै चारों बाय ।
निश्चय बांधो झोंपड़ो, वरषा होय सवाय ।।

यदि पौष की अमावस्या को मूल नक्षत्र पड़े और चारों दिशा की वायु चलने लगे तो अपने घरों की मरम्मत अवश्य कर लेनी चाहिए; क्योंकि वृष्टि खूब होगी।

पूस अंध्यारी सप्तमी, जो पानी नहिं देइ ।
तो अद्रा बरसै सही, जल-थल एक करेइ ।।

यदि पौष कृष्णा सप्तमी को वृष्टि न हो तो आर्द्रा नक्षत्र में घनघोर वृष्टि होगी और उससे जल-थल एक हो जायेंगे।

घाव के नीचे

रावी

देवताओं और असुरों का संग्राम चल रहा था।

असुरों के गुरु शुक्राचार्य के पास वह औषधि थी जिससे वे अपने दल के योद्धाओं के घाव रातभर में अच्छे कर लेते थे।

अंतःस्रवा असुर दल का एक प्रमुख योद्धा था। देव-दल पर सबसे अधिक मार उसीकी पड़ती थी, उसीका आतंक सबसे बड़ा था और वही प्रति सांझ सबसे अधिक व्रण अपने शरीर पर लिये युद्ध-स्थल से लौटता था। शुक्राचार्य का सबसे बड़ा स्नेह-भाजन भी वही बन गया था और प्रति भोर युद्ध-स्थल पर जाते समय उससे अधिक निर्व्रण एवं समर्थ दूसरा योद्धा नहीं होता था।

एक सांझ युद्ध-स्थल से लौटकर अंतःस्रवा गुरु की व्रणोपचार शाला में नहीं पहुंचा। गुरु के पास जाने का साथियों का आग्रह भी उसने अस्वीकृत कर दिया।

अगले प्रातः शुक्राचार्य स्वयं अंतःस्रवा के विश्रामकक्ष में आये। उसके खुले व्रण फूल रहे थे और रक्त-श्राव से उसकी शैया स्नात थी।

शुक्राचार्य बहुत प्रसन्न हुए। अंतःस्रवा के घावों को उन्होंने पैनी अस्थिशालाकाओं से कुरेदा और उन व्रणों के नीचे जीवनामृत के कुछ बूंद उन्हें मिल गये।

पिछली सांझ तक शुक्राचार्य के पास केवल आहतों के व्रणोपचार की ही औषधि थी किंतु अब मृत सैनिकों को भी पुनर्जीवित करने का संजीवनामृत उनके हाथ लग गया। उस रात से युद्ध में मरे हुए असुरों को पुनर्जीवित करने का क्रम भी असुर-गुरु ने प्रारंभ कर दिया। उसकी कथा पुराण-विदित है।

× × ×

आज की भोर अपने एक अनुपचारित व्रण के नीचे मुझे भी उसी अमृत का एक कण मिला है और तभी मेरे परम कृपालु महोपचारक ने इतिहास-पुराण की यह अब-तक अलिखित अति गुह्य किंतु चिर सत्य कथा सुनाई है। कौन जाने जीवन में घटित प्रत्येक व्रण का अभिप्राय ही यह हो कि बाह्यौषधि द्वारा उसका उपचार करने से पहले उसके नीचे के परम जीवन-प्रद अमृत-बिंदु को खोज लिया जाय।

दक्षिण के वैष्णव संत

अवधनंदन

तिरुमल्लिशै आलवार

ये तोण्डमान पल्लव देश के निवासी थे। ये कवि, दार्शनिक और सिद्ध पुरुष थे। इनका पालन-पोषण एक चिड़ीमार के यहां हुआ था। पर इनके पिता कोई भार्गव ऋषि थे। ये संस्कृत और तमिल के बड़े विद्वान थे। इनके पदों से मालूम होता है कि उन्होंने रामायण, महाभारत, विष्णु-पुराण आदि ग्रंथों का बहुत अच्छा अध्ययन किया था। ये शैव, जैन और बौद्ध धर्मों के कट्टर विरोधी और वैष्णव धर्म के पक्के समर्थक थे।

तिरुमल्लिशै आलवार एकेश्वरवादी थे। वह विष्णु को ही परमात्मा मानते थे और शिव और ब्रह्मा को उनकी कृति बतलाते थे। "गुरु-परंपरा" में उनका जन्म द्वापर में लिखा है, पर इतिहासकार उनका समय ईसा की आठवीं सदी मानते हैं। ये प्रसिद्ध शैव भक्त तिरुनावक्करसु और तिरुज्ञान संबंधर के समकालीन माने जाते हैं।

नम्मालवार

नम्मालवार वैष्णव आलवारों में सबसे प्रमुख माने जाते हैं। इनका जन्मकाल ईसा की नौवीं सदी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। इनका जन्म तिरुनेलवेली जिले में "आलवार तिरुनगरी" नामक स्थान में वेल्लाला (अब्राह्मण) परिवार में हुआ था। इनका पहला नाम "मारन" था, पर इनके धर्मगुरु ने इन्हें संस्कृत नाम "शठकोपन" दिया था। वैष्णव संतों में इनका स्थान बहुत ऊंचा है।

कहा जाता है कि जन्म के बाद दस दिन तक इनको भूख-प्यास का अनुभव ही नहीं हुआ। ये योगी थे और बचपन में ही घर-द्वार छोड़कर योग-साधन करने चले गये थे। इन्होंने एक इमली के पेड़ के नीचे सिद्धि प्राप्त की थी। वह इमली का पेड़ आज भी वर्तमान है। इनका विश्वास था कि मोक्ष के सच्चे दाता विष्णु भगवान ही हैं और शिव और ब्रह्मा विष्णु के ही अंश हैं। ये जाति-भेद नहीं मानते थे। इनकी मान्यता थी कि ईश्वर का ज्ञान या अज्ञान ही मनुष्य को समाज में ऊंचा या नीचा स्थान दिला सकता है। कथा है कि भगवान नारायण ने प्रकट होकर इन्हें नारायण मंत्र का उपदेश दिया जो "ऊं नमो नारायणाय" नाम से प्रसिद्ध है। वैष्णव संप्रदायों में यह मूल मंत्र माना जाता है।

नम्मालवार ने चार ग्रंथ रचे : तिरुविरुत्तम्, तिरुवाशिरियम, तिरुवंदादी और तिरुवायमोली। ये चारों ग्रंथ वैष्णवों के बीच चार वेदों की तरह समादृत हैं। तिरुवायमोली ग्रंथ इनका सबसे बड़ा एवं प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें एक हजार पद्य हैं और "दिक प्रबंधम्" का एक चौथा भाग है। इसमें भगवान नारायण के द्रव्य गुणों और उनके रूप के वर्णन हैं। तिरुवायमोली और तिरुविरुत्तम में भगवान के प्रति प्रेम और तन्मय भाव के संबंध में विस्तृत रूप से कहा गया है। कवि ने अपनेको नायिका मानकर अपने प्रियतम नारायण के साथ माधुर्य भाव से भक्ति की है। वैष्णव भक्तों में सर्व प्रथम नम्मालवार ने ही श्रीमद्भागवत के 'माधुर्य भाव' के आधार पर भक्ति साधना की थी।

नम्मालवार के दो शिष्य थे, श्री नाथमुनि और मधुर कवि। श्री नाथमुनि वैष्णवों के प्रथम आचार्य हुए और श्री मधुर कवि भक्तों की श्रेणी में माने गये।

नम्मालवार का समय ईसा की नवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। गुरुपरंपरा के अनुसार इनका काल ई. सन् पूर्व ३१०२ होता है। ये आलवारों की परंपरा में प्रधान थे। इन्होंने अनेक वैष्णव क्षेत्रों की यात्रा की थी और वहां के स्थल-देवता पर छंद रचे थे। इनकी भाषा में संस्कृत शब्दों की प्रचुरता पाई जाती है।

मधुर कवि आलवार

ये दक्षिण आरकाट जिले में तिरुकोइलूर के निवासी और ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने अयोध्या में जाकर अध्ययन किया था और नम्मालवार के जन्म का समाचार पाकर आलवार तिरुनगरी को वापस आगये थे। वहां पहुंचकर वह नम्मालवार के शिष्य बन गये।

जब नम्मालवार ने तिरुवायमोली की रचना की तब उन्होंने उनके मुखारविंद से सुनकर समस्त ग्रंथ को ताड़पत्र पर लिख लिया।

कुलशेखर आलवार

ये मदुरा के पांडिय वंश में पैदा हुए थे। इन्हें चेर देश का राजा बनाया गया था। बाल्यकाल ही में इन्होंने पुराण और इतिहास का अच्छा अध्ययन किया था। इनके समय में "मापिल्ला" (मलबार के मुसलमान) लोगों का उपद्रव बहुत ज्यादा था जिसे इन्होंने शांत किया था।

कुलशेखर संस्कृत तथा तमिल के अच्छे विद्वान थे। इन्होंने संस्कृत में "मुकुंदमाला" नामक काव्य लिखा और तमिल में १०५ पद्य रचे। ये पद्य "पेरुमाल तिरुमोलि" (भगवान के पवित्र वचन) के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने जो पद्य श्रीरंगम् के भगवान रंगनाथ की प्रशंसा में गाये हैं, वे करुण-रस से ओत-प्रोत हैं।

कुलशेखर बड़े भावुक थे। इनके संबंध में एक कथा प्रचलित है कि एक बार इनके दरबार में एक पंडित रामायण की कथा सुना रहे थे। खर-दूषण-वधवाला प्रसंग था। सुनते-सुनते कुलशेखर आवेश में आगये और राम की मदद के लिए अपनी सेना को फौरन तैयार हो जाने की आज्ञा दी। उसी तरह राम-रावण-युद्ध का प्रसंग आने पर भी हुआ था। इससे उनकी भावुकता का पता चलता है। इनका समय ईसा की नवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।

पेरिय आलवार

इनका दूसरा नाम 'विष्णुचित्तन' था। उस समय के प्रायः सभी वैष्णव भक्तों के दो-दो नाम थे। एक शुद्ध तमिल नाम, दूसरा संस्कृत नाम। ये पांडियों के देश में श्री विल्लपुत्तूर नामक स्थान में पैदा हुए थे। ये यहां के मंदिर के सेवकों के मुखिया और बड़े विद्वान थे। एक बार मदुरा के पांडिय राजा के राजगुरु "शेल्वनंबी" ने देश के समस्त धार्मिक नेताओं की एक सभा बुलाई। उस सभा में पेरिय आलवार ने सभी धर्मावलंबियों के सामने वैष्णव धर्म की श्रेष्ठता स्थापित की। तभी से उस देश में वैष्णव धर्म का प्रभाव बढ़ने लगा। पेरिय आलवार ने सूरदास की तरह कृष्ण-चरित्र तथा उनकी लीलाओं के पद गाये हैं। इन पदों की संख्या ४१६ है। इनकी शैली सरल थी पर इनकी भाषा में संस्कृत के अनेक तत्भव शब्द मिलते हैं, जिनका प्रयोग इन्होंने बड़ी कुशलता से किया है। इनकी रचनाओं का प्रधान अंश वात्सल्य रस है। इन्होंने अपनेको यशोदा मानकर बालक कृष्ण के साथ अपना प्रेममय संबंध स्थापित किया है। इन्होंने जैन तथा बौद्ध धर्मावलंबियों के विरुद्ध एक भी कटु शब्द का प्रयोग नहीं किया है। संभव है, तबतक देश से ये दोनों धर्म विदा हो चुके थे। उन्होंने शैव धर्म के विरुद्ध भी कुछ नहीं कहा। इससे ज्ञात होता है कि उनके समय में शैव और वैष्णव दोनों मत देश में पूर्ण रूप से स्थापित हो चुके थे और इनका आपस का विरोध दूर हो गया था। इनका समय ८४० और ९१५ ईस्वी के बीच माना जाता है।

तमिल की एक शैली है जिसे "पिल्लै तमिल" कहते हैं। इसमें बच्चों के खेल, उनकी क्रीड़ा तथा उनका पालन-पोषण का रोचक वर्णन किया जाता है। पेरिय आलवार ने इस शैली में भगवान कृष्ण के बाल-चरित्र का वर्णन किया है।

तिरुप्पाण आलवार

ये तिरुच्चिरापल्ली के पास एक गांव में किसी "पानन' परिवार में जन्मे थे। यह पानन जाति उस जमाने में अस्पृश्य समझी जाती थी। तिरुप्पाण शैव भक्त नंदन की तरह विष्णु के अनन्य भक्त थे, पर अस्पृश्य होने के कारण श्रीरंगम् के मंदिर में उनको प्रवेश नहीं मिलता था। उसी समय "लोकसारंगन" नाम के एक साधु श्रीरंगम में रहते थे। श्री रंगनाथ ने उन्हें दर्शन देकर आदेश दिया कि तिरुप्पाण को अपने कंधों पर बिठाकर मंदिर में ले आओ। इसी समय से तिरुप्पण का दूसरा नाम "मुनिवाहन" पड़ गया। ये ईसा की नौवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रहते थे।

तिरुमंगै आलवार

तिरुमंगै आलवार तंजाऊर जिले में शियाली के आस-पास पैदा हुए थे। ये "कल्लर" जाति के थे। यह जाति अबतक जरायम पेशा जातियों में गिनी जाती थी। किसी जमाने में इस जाति के लोग राज्य भी करते थे। तिरुमंगै के पिता चोल राजा के सेनापति थे और एक छोटी जागीर के स्वामी थे। इसलिए तिरुमंगै को भी युद्ध की शिक्षा मिली और वह योद्धा बने। इनका विवाह कुमुदवल्ली नाम की

एक कन्या से हुआ जो विष्णु की परम भक्त थी। उसीके प्रभाव में आकर ये भी वैष्णव होगये।

तिरुमंगै आलवार बड़े दानशील थे। जागीर से जो आय होती थी, सब दान कर देते थे। राजा को कर तक अदा नहीं करते थे। जब दान देते-देते इनके पास कुछ न बचा तब ये डाका डालने लगे। डकैती से प्राप्त धन गरीब-दुखियों को बांट देते थे। भगवान विष्णु ने इनकी सच्चाई से प्रसन्न होकर इनको दर्शन दिया।

चोल राजा से मतभेद हो जाने के कारण इन्होंने राज्य की नौकरी छोड़ दी और सारे देश में घूम-घूमकर वैष्णव धर्म का प्रचार करने लगे। इस जमाने में यात्रा की कठिनाइयों के होते हुए भी इन्होंने कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक की यात्रा की और भारत के समस्त तीर्थ क्षेत्रों के दर्शन किये। इन्होंने श्रीरंगम् के मंदिर का तीसरा प्राकार (चहारदीवारी) बनवाया। कहते हैं कि इन्होंने इस कार्य के लिए नागपटिनम् में स्थित भगवान बुद्ध की स्वर्ण मूर्त्ति को तोड़ डाला, उसीसे प्राप्त धनसे श्री रंगनाथ के मंदिर का प्राकार बनवाने में उपयोग किया।

तिरुमंगै आलवार अद्वितीय विद्वान थे। इन्होंने भगवान विष्णु को प्रियतम परमात्मा मानकर उनकी उपासना की है। उनके पद दार्शनिक विचार से भरे हैं। इन्होंने छः ग्रंथ रचे जो वैष्णवों के बीच "वेदांग" के नाम से प्रसिद्ध हैं और बड़ी भक्ति से गाये जाते हैं। नम्मालवार और तिरुमंगै आलवार ये दोनों वैष्णव संप्रदाय के प्रमुख भक्त-कवि माने जाते हैं। इनके मत के अनुसार शुष्क तपस्या व्यर्थ और नवधा भक्ति ही मोक्षदायिनी है। इनके संबंध में एक आलोचक का कहना है कि तिरुमंगै आलवार ऐसे भक्त थे जो "आत्मा को सूरज की धूप में सुखाना और शरीर को छाया की ठंडक में पालना चाहते थे।"

ये ईसा की नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वर्तमान थे।

तोंडरडि पोडी आलवार

ये शोलिय (दक्षिण में ब्राह्मणों का एक वर्ग) के घर में उत्पन्न हुए थे और इनका नाम विप्रनारायण था। इन्होंने सभी शास्त्रों का अध्ययन किया था। ये श्रीरंगम् भगवान के मंदिर के समीप तुलसी का एक बगीचा लगा कर नित्यप्रति भगवान पर चढ़ाने के लिए अपने बगीचे से फूल एवं तुलसीदल दिया करते थे। किंतु दुर्भाग्यवश ये एक अत्यंत रूपवती वेश्या के प्रेम में फँसकर पूजा-पाठ सब भूल गये। जब ये दरिद्र होगये, तब उस वेश्या ने इनका परित्याग कर दिया। इनकी दयनीय दशा देखकर भगवान रंगनाथ ने इनपर दया की और फिर इन्हें अपनी भक्ति देकर इनका त्राण किया। इन्होंने भगवान की प्रशंसा में तमिल में दो ग्रंथ लिखे: (१) तिरुमालै और (२) तिरुप्पल्लि-एलुच्चि।

आण्डाल

श्रीविल्लिपुत्तूर (रामनाद जिले में वैष्णवों का एक प्रधान क्षेत्र) में भगवान विष्णु के परम भक्त पेरिय आलवार रहते थे जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। आंडाल इन्हींकी पुत्री थीं। परंतु इनके संबंध में यह भी कथा प्रचलित है कि एक दिन जब पेरिय आलवार नंदवन (मंदिरसे लगी हुई पुष्पवाटिका) में भगवान पर चढ़ाने के लिए फूल चुन रहे थे, तब वहां उन्हें एक बच्ची पड़ी मिली। वे उसको घर लाये और "कौदे" नाम देकर उसका पालन-पोषण करने लगे। कौदे शब्द का अर्थ है "फूल का गुच्छा"। कौदे पुष्पवाटिका में प्राप्त हुई थी, इसीलिए उसको आलवार ने ऐसा नाम दिया। वह जब बड़ी हुई तो उसका भी मन भगवान पर रम गया और वह भगवान की भक्ति में तल्लीन हो गई।

पेरियालवार रोज भगवान विष्णु को फूल की माला चढ़ाते थे। माला बनाने का कार्य कौदे को सौंपा गया था। वह नित्य फूल चुनकर माला गूंथती थी और पहले स्वयं उसे अपने गले में धारणकर यह देख लेती थी कि माला कैसी बनी है। जब उसको माला पसंद आती तब उसको भगवान पर चढ़ाने के लिए अपने पिता को दे देती। पेरियालवार को इस बात का पता न था। वह अनजाने ही प्रतिदिन कौदे की पहनी हुई जूठी माला भगवान पर चढ़ाया करते थे। एक दिन संयोग से उन्होंने देख लिया कि कौदे अपने गले में माला डाले खड़ी है। इसपर वह बहुत नाराज हुए और कौदे को बहुत डांटा-डपटा। फिर दूसरी माला बनाकर भगवान पर चढ़ाई। कौदे की पहनी हुई माला वह भगवान पर कैसे चढ़ाते?

उसी दिन रात को भगवान ने स्वप्न में आकर पेरियाल-

वार से कहा कि मुझे कौदे की पहनी हुई माला ही प्रिय है। तब से कौदे का नाम "शूडिकोडुत्त नाचियार" (पहनी हुई माला अर्पण करनेवाली देवी) पड़ गया।

धीरे-धीरे कौदे की भक्ति इतनी तीव्र होगई कि उसने श्री रंगनाथ को ही अपना पति बनाने का निश्चय किया : श्रीकृष्ण भगवान की लीलाओं के गीत गाती हुई वह श्रीरंगम् पहुंची और श्री रंगनाथजी में लीन होगई।

आण्डाल के पद "तिरुप्पावै मुप्पदु" और "नाच्चियार तिरुमोली" के नाम से संग्रहीत हैं। आण्डाल भगवान विष्णु को अपना पति मानकर प्रेम करती थी। वह भगवान को उसका पति बनने के लिए अनेक तरह के मधुर शब्दों में उनकी विनय और आह्वान करती थी। तिरुप्पावै में इन्हीं गीतों का संग्रह है। आजकल भी कुमारी लड़कियां योग्य पति पाने के लिए "गौरी व्रत" की तरह "पावै नोन्बू" नामक व्रत रखती हैं और उस अवसर पर आण्डाल के रचे पद गाती हैं।

"तिरुमोली" में भगवान विष्णु को अपना प्रियतम और अपनेको उनकी प्रियतमा मानकर आण्डाल ने पद रचे हैं। विरह-वर्णन, स्वप्न में भगवान से मिलन, विवाह-वर्णन आदि पद्य बड़े रोचक हैं। आलवारों के भक्ति-साहित्य में आण्डाल की रचनाओं को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। आण्डाल को दक्षिण की मीरा कहते हैं। उनकी रचनाओं में मीरा के पदों के समान ही भक्ति और प्रेम की तीव्रता है।

आण्डाल का जन्म ईसा की नवीं शताब्दी के अंत में हुआ था।

कवि से

सुधेश

अगर गा सको गीत गाओ तो ऐसा
धरा झूम जाए, गगन गुनगुनाए।

अरे छोड़ दो गीत लिखना, सुनाना
अगर दिल तड़पता नहीं वेदना से,
अरे त्याग दो व्यर्थ का स्वांग भरना
अगर स्वर मचलता नहीं चेतना से;

अगर कर सको स्नेह–बरसात कर दो
कि दुनिया युगों की जलन भूल जाए।

अगर जिंदगी से तनिक प्यार तुमको
स्वयं को मिटाकर जगत को बनाओ,
अरे मरघटों का करुण-राग छोड़ो
नई चेतना के अमर गीत गाओ,

अरे फूंक दो दर्द, आंसू जला दो
कि हर द्वार पर जिंदगी मुसकराए।

अरे क्या भटकते रहोगे सदा यों
तिमिर की डगर पर, प्रलय के नगर में?
अरे क्या सजाते रहोगे सुमन-सेज
कांटों भरे जिंदगी के सफर में?

अगर चल सको तो चलो चाल एसी
कदम रूठ जाए तो मंजिल मनाए।

नैतिकता एवं अणुव्रत आंदोलन

लक्ष्मीनारायण भारतीय

अहिंसा के सूक्ष्म विवेचन की उज्ज्वल परंपरा जैन-धर्म में जैसी दीख पड़ती है, अन्यत्र वह कम दीखती है। व्यक्तिगत अहिंसा के क्षेत्र में जैन-अहिंसा का बड़ा उज्ज्वल हृविर्भाग रहा है और जीव-जंतुओं के साथ आत्मौपम्य भाव का स्पर्श भी बड़ा प्रेरक रहा है। यह अहिंसा व्यक्तिगत क्षेत्र तक ही सीमित रही, पशु-पक्षियों का ध्यान करते-करते मानव को भुला ही दिया गया है, अहिंसा को युग सापेक्ष्य न बनाकर अभावात्मक–नगैटिव–ही बनाया जा रहा है, इत्यादि, इस विचार के दूसरे पहलू भी कम चिंतनीय नहीं हैं, तथापि तुलनात्मक प्रक्रिया छोड़कर वस्तुनिष्ठ दृष्टि से विचार करने पर यह महसूस हुए बगैर नहीं रहेगा कि अहिंसा के दूरगामी विकास के क्षेत्र में जैन-धर्म का योग बड़ा गहरा रहा है!

ऐसी उज्ज्वल परंपरा का पाथेय लेकर आचार्य श्री तुलसी का अणुव्रत-आंदोलन प्रकट हुआ और लोक-मानस में बहुत शीघ्र काफी हद तक स्थान भी उसने पा लिया। वस्तुतः जैन-सम्प्रदाय में "अणुव्रत" एवं "महाव्रत" ये दो ऐसी जीवन-दीक्षाएं हैं, जो व्यक्ति साधना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योग देनेवाली रही हैं। महाव्रत के संमुख अणुव्रत बहुत छोटी साधना मानी गई है, परंतु लोक-जीवन के लिए यही साधना युगानुसार महत्वपूर्ण भी बन जाती है। आज जबकि चारों ओर चोर-बाजारी, स्वार्थ, लालच, झूठ, हिंसादि का बोलबाला हो रहा है, इसकी उग्रता को कम करके ईमानदारी आदि को बढ़ाने की प्रेरणा देनेवाले गुण अधिक महत्वपूर्ण साबित होते हैं! जब सत्ययुग हो, तो सत्यवादी सामान्य ही रहता है, पर जब असत्य का वातावरण हो, तो उसमें सत्यपालन असामान्य बन जाता है। इसी तरह आज कुछ गुण अनमोल एवं असाधारण बन गये हैं।

अणुव्रत-आंदोलन ऐसे ही गुणों की साधना का मार्ग लेकर सामने आया और पाप पंक में डूबे हुओं को धीरे-धीरे हाथ देकर बाहर निकालने का प्रयास करने लगा। इसकी जो तत्व-दृष्टि है, वह एक मर्यादित मात्रा तक ही भौतिक परिस्थितियों को कारण रूप मानती है। छल, गरीबी, बेईमानी, असत्य आदि के मूल में जो आर्थिक-सामाजिकादि कारण छिपे हुए हैं, उनकी जड़ पर आघात करने की मर्यादा उसे स्वीकार नहीं है। जैसे चुनाव के मामले में ये नहीं मानते हैं कि मौजूदा पार्लमेंटरी चुनाव-पद्धति ही ऐसी सदोष और घातक है कि वह लोकतंत्र की जड़ें ही खोदती है। पर भूदान-यज्ञ जड़ में जाकर कहता है कि यह "बहुमत" "अल्पमत" वाली डेमोक्रैसी ही जनता में नैतिक शक्ति जागृत कर, बदल देनी है ताकि वास्तव में 'सर्व-जनहित' सध सके। लेकिन जो जड़ में नहीं जा सकते वे आज की स्थिति की ओर दुर्लक्ष्य भी नहीं कर सकते। अतः जबतक चुनाव पद्धति मौजूदा पार्लमेंटरी पद्धति है, उसका पालन ईमानदारी, सचाई और प्रामाणिकता के साथ हो, ऐसा कहना जनता की नैतिकता को उठाने के प्रयत्नों का ही अंग माना जायगा। अणुव्रत-आंदोलन, जैसाकि हमने समझा है, मौजूदा बुराइयों को ऐसी साधना द्वारा दूर करना चाहता है। इसका भी अपने-आपमें एक विशेष महत्व तो है ही। नैतिक उत्थान की दिशा में, ईमानदारी के साथ अपनी राह पर चलकर, प्रयत्न करना इसलिए कम महत्व का नहीं हो जाता, कि वह जड़ में हाथ नहीं डालता। वह कार्य दूसरों के लिए, जो शांति-पथ के अनुगामी हैं, हो सकता है। जो इस तरह के क्रांति-पथ पर नहीं जा सकते, फिर उसके कारण चाहे तात्विक हों या व्यावहारिक, वे अपने पथ पर चलने के पूरे हकदार हैं और जनता के उत्थान में सहायक भी।

कुछ दिन पूर्व हम तेरा-पंथियों के महान् मर्यादा-महोत्सव में शामिल होने सरदारशहर गये थे। जैनी तेरा-पंथियों का यह समारोह था, पर अणुव्रत-आंदोलन की हवा से भरा हुआ। इसलिए एक नई जिंदगी का स्पर्श उन साधकों में तीव्रता से दृष्टिगोचर हो रहा था। "महाव्रत" का पालन अपने जीवन में करके, 'अणुव्रत' के लिए जन-समाज में फैल जाने का जो उत्साह सर्वत्र प्रतीत हो रहा था, वह

इस बात की ओर इंगित कर रहा था कि जैन धर्म के तत्वों को व्यापक एवं जनग्राही बनाने की आकांक्षा कैसी तीव्रता से जग रही है। यह तो स्वीकार करना ही होगा कि जैन-समाज तक ही जो धर्म सीमित था, वह जैनेतर समाज में भी अणुव्रत द्वारा अब प्रवेश पा रहा है, जिसका श्रेय श्री आचार्य तुलसी को है। हमें ऐसे अनेक नाम मालूम हैं, जो जैन-समाज व जैन-धर्म से संबंधित नहीं हैं, पर अणुव्रत से पूर्ण संबंधित हैं और प्रेरित हैं। स्वयं जैन-समाज में जो अणुव्रति हैं, वे भी किस श्रद्धा एवं ईमानदारी से उसका पालन करते हैं, यह हमने स्वयं देखा है। राह में हमसे पूर्ण अपरिचित एक भाई बता रहे थे कि कैसे वह अपना माल बिना लगेज के हमेशा ले जाते रहे और कैसे अब २४ सेर के लिए भी लगेज किये बिना नहीं रहते, क्योंकि वे 'अणुव्रति' हैं !

सरदारशहर में करीब ५००-५२५ साधु-साध्वी इकट्ठा हुए थे। अपने ढंग का अनोखा महोत्सव था वह। अनेक मुनियों एवं साधुओं से गहराई से चर्चा करने एवं निरखने-परखने का मौका हमें मिला। अविचल श्रद्धा के साथ-साथ ज्ञान-साधन एवं समय की समस्याओं से परिचय रखने की हवा का भी दर्शन हमने उनमें पाया और सूक्ष्म चिंतन भी। जहांतक उसके सांप्रदायिक स्वरूप का प्रश्न है, उसपर हमें कुछ नहीं कहना है, क्योंकि हम "तेरा-पंथियों' के अध्ययन के लिए नहीं, "अणुव्रत" के अध्ययन के लिए गये थे। और यद्यपि तेरा-पंथ के आचार्य एवं मुनिगण इस आंदोलन के प्रेरक हैं, परंतु तेरा-पंथ के सम्प्रदाय की ही यह चीज न रहे, सर्व-स्पर्शी बने, इसी प्रकार की इच्छा एवं प्रयत्न हमने वहां पाया। स्वयं आचार्य श्री का गंभीर एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व, अहिंसा का सूक्ष्मतम चिंतन और जनहित की अक्षुण्ण आकांक्षा स्पर्श किये बिना नहीं रहती। तीव्र निष्ठा का संबल लेकर वे अपने साधु-साध्वियों के साथ आगे बढ़ना चाहते हैं। व्यक्तिगत साधना में रत साधु-साध्वी आचार्य श्री के मार्ग-दर्शन में परिव्राजक-जीवन की साधना द्वारा अणुव्रत आंदोलन को आगे बढ़ाना चाहते हैं।

साहित्य का, काव्य-शास्त्र-संगीत का, संशोधन कार्य का, तत्व-चर्चा का अनुराग भी साथ-साथ चलता है और कर्म-प्रधान परिव्राजक जीवन का आदर्श प्रत्यक्ष रूप में प्रतिबिंबत होते हुए दीखता है।

सांप्रदायिकता एवं व्यक्ति-पूजा से हर आंदोलन को खतरा होता है और हर आंदोलन न्यूनाधिक परिमाण में इससे स्वर्थित भी होता है। यह आंदोलन भी यदि अपने को इस चीज से बचा सका, तो उसका महत्व सर्व-व्याप्त हुए बिना नहीं रहेगा, क्योंकि वह मानव-हित का संबल लिये हुए है। नैतिकता का आवाहन सदा मानव-हितकारी ही होता है। और किसी आंदोलन के साथ उसकी तुलना न करके उसके अपने मूल्यों से उसे तौलकर उसका महत्व आंकने में ही औचित्य रखता है।

खोज में

रामनारायण उपाध्याय

एक बार मनुष्य ने इच्छित वर-प्राप्ति के लिए परमेश्वर से प्रार्थना की।
परमेश्वर ने उसकी प्रार्थना से प्रसन्न होकर उसे वर मांगने के लिए कहा।
लेकिन स्वयं परमेश्वर को अपने सम्मुख पाकर वह भूल गया कि उसे क्या मांगना है।
अतएव वह घबराकर बोला, "प्रभो मुझे क्या मांगना है यह जानने के लिए कुछ समय दीजिए।"
परमेश्वर 'एवमस्तु' कहकर अंतर्ध्यान होगए।
तबसे मनुष्य "उसे क्या चाहिए" यह खोजने में व्यस्त है।

कसौटी पर

स्टीफेन ज्वीग की महान कहानियां : अनुवादक— शिवदानसिंह चौहान, विजय चौहान; प्रकाशक—रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स : पृष्ठ २५०; सजिल्द : मूल्य ४.५०।

स्टीफेन ज्वीग का परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। वह विश्व के महानतम कहानीकारों में प्रमुख हैं। वह मानव चरित्र के सूक्ष्म चितेरे और मानवीय संवेदना के कुशल सम्वाहक हैं। वह परिस्थितियों को इस प्रकार उभार लाते हैं कि देखते ही बनता है। 'शाही खेल' में किस प्रकार एक व्यक्ति (कैदी) ने शून्यता के खूंख्वार पंजों से बचने के लिए अपने व्यक्तित्व को सफेद और काले मोहरों में बांट दिया था। "लेकिन जब एक ही व्यक्ति सफेद और काले दोनों रंगों के मोहरे चलता है तब उसके मन की स्थिति क्या होगी जरा इसका अनुमान लगाइए।" इसी अनुमान को यह मार्मिक कहानी चित्रित करती है। 'आतंक' में उस नारी की यंत्रणा का, जो पति को छोड़कर प्रेमी के चंगुल में फंस जाती है, और उस पति का जो सबकुछ जानकर भी क्षमा करना जानता है, बड़ा सुन्दर रूप उभरा है। 'लैपोरेल्ला' में एक पतिता की वासना, ईर्ष्या और सबसे बढ़कर उसके नारीत्व का अद्भुत चित्रण है। 'विक्षिप्त' को मैं ज्वीग की सर्वश्रेष्ठ कहानी मानता हूं। मानवीय संवेदना, मानवीय चरित्र का इससे सूक्ष्म, इससे विराट अध्ययन शायद ही देखा हो। इसी प्रकार "एक अज्ञात स्त्री का पत्र" भी मानव के गूढ़ अंतर की वह झांकी है जो विरले ही देख पाते हैं। यह अमर प्रेम की अमर कहानी है। 'अदृश्य संग्रह' और "गवर्नेस" भी मार्मिक कहानियां हैं। ज्वीग मार्मिक न हों तो क्या हो। मानव-जीवन के इस कुशल चितेरे की कहानियों का अनुवाद भी उतना ही सुंदर और प्रभावपूर्ण है। यह संग्रह प्रत्येक कहानी-प्रेमी के घर में न हो तो अचरज ही होगा।

सूना मंदिर : ले० वि० स० खांडेकर : अनु० उपाध्याय और माणिकलाल परदेशी; प्रकाशक : रा० ज० देशमुख, देशमुख आणि कंपनी, २२ कसबा, पूना २; पृष्ठ १६२; सजिल्द : मूल्य ४)।

खाण्डेकर मराठी के प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। प्रस्तुत उपन्यास में उन्होंने मध्यवर्ग के बदलते जीवन को चित्रित किया है। कहानी में कोई विशेषता नहीं है। युवा पुत्र के रहते प्रौढ़ विवाह पर आक्षेप है। ४५ वर्ष के पुरुष का २०-२२ वर्ष की कन्या से विवाह असंगत तो है पर उसका परिणाम वही होगा जो उपन्यास में हुआ यह विचारणीय है। इससे बढ़कर विचारणीय बात तो प्रौढ़ पति का उसे संतान-प्राप्ति के लिए साधुओं के पास भेजना और इतने वर्ष तक पुत्र का मुंह न देखना है। आज के वातावरण में ये सब बातें अद्भुत लगती हैं। हां, सुशीला ने जिस प्रकार की परिस्थितियों में विवाह किया वे अब भी मिलती हैं। पुष्पा का चरित्र भी स्वाभाविक ही है पर कुल मिलाकर उपन्यासकार न तो पात्रों के साथ और न परिस्थितियों के साथ न्याय कर पाया है। अंत तो बहुत ही शीघ्रता में हो गया है। क्रौंच-वध के लेखक से हम इससे प्रौढ़ रचना की आशा करते हैं। अनुवाद में अटपटापन है।

जहरे इश्क : ले० नवाब मिर्जा शौक लखनवी : प्रकाशक : अदबी पब्लिशर्स : पृष्ठ १०० : मूल्य २.२५।

आलमे ख़याल : ले० शौक किदबई; प्रकाशक : वही; पृष्ठ ६०; मूल्य १.८७।

इन दोनों पुस्तकों का हम इस दृष्टि से स्वागत करते हैं कि उर्दू साहित्य की कुछ सुंदर पुस्तकें देवनागरी लिपि में प्रकाशित की जा रही हैं। यह प्रयास निस्संदेह दो भाषाओं को (यदि वे दो हैं) पास लायगा। **'जहरे इश्क'**, जैसा कि नाम से जाहिर है, एक दुखांत प्रेम कहानी है। वर्णन बहुत ही सरस और सहल भाषा में है। लखनऊ की टकसाली भाषा की रवानी तो प्रसिद्ध ही है। क्या ही अच्छा

होता कि कठिन शब्दों के अर्थ फुटनोट में दे दिये जाते। 'आलमे खयाल' की कथा एक उस औरत की कथा है जिस का पति परदेस गया हुआ है, लेकिन आखिर में आ जाता है। उसी के दर्द और आनंद को लेखक ने सरल, पर प्रवाहमयी भाषा में चित्रित किया है। वर्णन मनोरंजक पर गहरा है। नाटकीयता भी है। अंत देखिए :

ऐलो "हुजूर" आ गये, बंदी संवरती ही रही।
वन न पड़ा सिंगार कुछ, हौसला करती ही रही॥

गांधीजी के पावन प्रसंग : ले० लल्लुभाई मकनजी; पृष्ठ ४४; मूल्य ६ आने।

सुसंवाद : संग्राहक : नी० ई० मशरुवाला; पृष्ठ ७२ मूल्य नौ आने।

ये दोनों पुस्तकें नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद की हैं। छपाई, सफाई, मूल्य और सामग्री सभी दृष्टियों से ये लघु पुस्तिकाएं सुरुचि का परिचय देती हैं। पहली पुस्तिका में गांधीजी के संबंध में कुछ संस्मरण संग्रहीत किये गये हैं। वे मार्मिक तो होने ही थे उनका वर्णन भी सरस है। इन संस्मरणों में गांधीजी की मानव-संवेदना विशेष रूप से उभरी है।

'सुसंवाद' में स्व. श्री किशोरलाल मशरुवाला के भतीजे श्री नीलकंठ मशरूवाला की डायरी में से सन् १९२१-२५ के बीच लिखे गये संवाद संग्रहीत हैं। ये उनके और सुप्रसिद्ध विचारक श्री केदारनाथ (नाथजी) के बीच हुए थे। ये संवाद मानव-जीवन को सुगंध से भरनेवाले सरल व स्वस्थ विचारों से ओतप्रोत हैं। देखिए—"आत्म विचार हृदय के भीतर से स्फुरित होना चाहिए। यह प्रश्न दूसरों के सुझाने का नहीं है।" "जो मनुष्य उन्नति की इच्छा करता है उसे अनुकूल परिस्थिति सदा ही प्राप्त होती है।" "पूर्ण विचार किये बिना केवल क्षणिक आवेश में आकर मनुष्य को किसी श्रेष्ठ कार्य में नहीं लगना चाहिए।" "जीवन में सुख-दुख के प्रसंग अनिवार्य रूप से आते ही हैं। उनमें चित्त की समानता कायम रखने की कला हमें हस्तगत करनी चाहिए" **"कोई मनुष्य कितना ही क्रूर और अन्यायी क्यों न हो, उसे भी दयालु और न्यायी कहलाने में गौरव का अनुभव होता है।"** इत्यादि इत्यादि गागर में सागर के समान इन अमृत बिंदुओं को कौन संग्रहीत करना न चाहेगा।

वाल्मीकि रामायण : रूपांतरकार आनंदकुमार : प्रकाशक : राजपाल एंड संस, दिल्ली; पृष्ट २२४; मूल्य ३)।

सुप्रसिद्ध वाल्मीकि रामायण के इस सुगम हिंदी रूपांतर का हम स्वागत करते हैं। अत्यंत सरल और सरस भाषा में इस महाकाव्य का रूपान्तर करके लेखक और प्रकाशक दोनों ने भारतीय जनता का उपकार किया है। संस्कृत सब नहीं जानते। वे अपने महान काव्यों का रसास्वादन कर सके यही प्रयत्न इस माला का है। रूपांतर पढ़ने पर मूल का-सा रस आता है। परिशिष्टों में रामायण के प्रक्षिप्त भाग का तथा वाल्मीकि मुनि के जीवन का परिचय और अंत में सूक्तियां दे देने से पुस्तक का मूल्य और भी बढ़ गया है।

ऐतिहासिक दृश्य : ले० श्यामलाल, प्रिंसिपल हरकोर्ट बटलर हायर सैकेंडरी स्कूल, नई दिल्ली; प्रकाशक : आत्माराम एंड संस, दिल्ली; पृष्ठ : १००; सजिल्द : मूल्य १॥)।

इस पुस्तक में ३३ दृश्य प्रस्तुत किये गये हैं। लेखक का उद्देश्य यह है कि छोटी कक्षाओं में इतिहास की जो लंबी लंबी कहानियां पढ़ाई जाती हैं उन्हें सरल भाषा में, संक्षेप में, प्रस्तुत किया जाय। बड़ी कहानियां बच्चों को याद नहीं रहती हैं। छोटे दृश्य याद रह जाते हैं। इस पर यदि वे खेले भी जा सकें तो और भी सुन्दर है। इस दृष्टि से यह पुस्तक एक सफल प्रयास है भले ही नाटकीय दृष्टि से यह कसौटी पर खरी न उतरे। कुछ और बड़ा करके ऐसा भी किया जा सकता था। फिर भी प्रयत्न सुन्दर है। विद्यार्थी इसका स्वागत करेंगे।

भारत के बौद्ध तीर्थ : प्रकाशक—पब्लिकेशंस डिवीजन, सूचना व प्रसार मंत्रालय, भारत सरकार; पृष्ठ : ११०; मूल्य २)।

बढ़िया कागज पर, सुंदर चित्रों से सुसज्जित, भारत सरकार की यह पुस्तक निश्चय ही उपयोगी सिद्ध होगी। यद्यपि परिचय बहुत संक्षिप्त है तो भी यात्रियों की दृष्टि से काफी है। पुस्तक का उद्देश्य ही यात्रियों को आकृष्ट करना है। इसलिए उनके योग्य सामग्री अंत में दे दी गई है। यद्यपि बुद्ध-जयंती बीत गई है, फिर भी यह पुस्तिका उपयोगी बनी रहेगी।

—'सुशील'

क्या व कैसे ?

हमारी राय

स्व० देवदास भाई

मृत्यु अनिवार्य है । उसका आना शोक का कारण नहीं होना चाहिए; लेकिन पिछले मास २ अगस्त की रात में, ३ बज कर ५ मिनिट पर, महात्मा गांधी के सबसे छोटे पुत्र और हिन्दुस्तान टाइम्स लिमिटेड के प्रबन्ध निर्देशक का ५७ वर्ष की आयु में अचानक हृदय रोग से जो देहान्त हो गया उससे किसे दुःख न होगा। वह अचानक ही चले गये । यही अपने आप में कितना निर्दय आघात है, फिर उनकी आयु क्या जाने की थी । लेकिन ईश्वर की योजना बलवती है। धैर्य हमें रखना ही होगा। वह 'मंडल' की संचालक-समिति के सम्मानित सदस्य ही नहीं थे बल्कि एक परम हितैषी परामर्शदाता तथा मार्ग-दर्शक भी थे। जीवन-साहित्य के लेखक भी थे।

देवदास भाई क्या थे और क्या नहीं थे । वह महान पिता के सुयोग्य पुत्र थे, वह महान देशभक्त थे, वह तेजस्वी पत्रकार थे, समाज सुधारक थे, दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार सभा की जड़ जमाने वालों में वे प्रथम थे लेकिन सबसे बढ़कर वे आदर्श-मानव थे । अपने पूरे गृहस्थ जीवन में वे एक बार भी अपनी पत्नी से या सन्तान से जोर से नहीं बोले । वाणी का ऐसा संयम क्या आश्चर्य-जनक गुण नहीं है ? वह सचमुच जोर-शोर से बोलना और लम्बी-चौड़ी बातें करना जानते ही नहीं थे । वह तो अनवरत कार्य-रत मौनसाधक थे । इसीलिए वह चुपचाप, बिना शोर मचाये चले भी गये । जो उनके सम्पर्क में रहे हैं वे जानते हैं कि उन्होंने काम करते-करते अपने को थका लिया था । उन्हें आराम की आवश्यकता थी, लेकिन आराम करना तो उनका स्वभाव नहीं था इसीलिए यह वज्रपात हुआ।

वेदना के इन क्षणों में जीवन-साहित्य परिवार की ओर से हम उनके परिवार के प्रति गहरी समवेदना प्रगट करते हैं और प्रार्थना करते है कि जहां भी हों उनकी दिवंगत आत्मा को शांति मिले।

पुण्य-स्मरण

९ सितम्बर को श्रद्धेय किशोरलाल मशरूवाला की पुण्य-तिथि पड़ती है इसलिए उनका स्मरण हो आना स्वाभाविक ही है । गांधी-दर्शन के व्याख्याता के रूप में उनका स्थान सुरक्षित है । चिर रोगी होते हुए भी उन्होंने जिस प्रकार गांधीजी के साथ और फिर उनके बाद इस नये दर्शन को जीने की चेष्टा की और दूसरे को जीने की प्रेरणा दी वह अनुकरणीय है । वह सक्रिय राजनीति से दूर रह कर रचनात्मक कार्यों में रस लेने वाले तत्वनिष्ठ व्यक्ति थे । गांधी-विचार-धारा के प्रसारण के लिए आज उन जैसे ही सादा जीवन और उच्च विचार के कर्मठ व्यक्तियों की आवश्यकता है । धीरे-धीरे ऐसे सब व्यक्ति हमसे बिछुड़ते जा रहे हैं । क्या हम उनके जीवन से प्रेरणा लेकर अपना पथ-प्रशस्त्र नहीं कर सकते ?

विनोबा जन्म-दिवस

११ सितम्बर को देश भरमें विनोबा जन्म-दिवस बड़े उत्साह से मनाया जाने वाला है । इस बारे में अब दो मत नहीं रहे कि नवभारत का निर्माण करने में उनका अन्यतम योग रहा है । भूदान-आन्दोलन का सूत्रपात करके उन्होंने देश का ध्यान भूमि-समस्या पर केन्द्रित कर दिया है । वह उसका कोई तैयार शुदा हल प्रस्तुत करने का दावा नहीं करते परन्तु उनका यह दावा अवश्य है कि इस जटिल समस्या को हल करने का प्रयत्न नहीं किया गया तो स्वराज्य व्यर्थ हो जायगा । उन्हें सभी राजनैतिक दलों का समर्थन प्राप्त है और शीघ्र ही भूमि समस्या पर विचार करने के लिए उनकी देखरेख में एक सर्वदलीय सम्मेलन मैसूर में होने जा रहा है। कांग्रेस भी अब बड़ी तेजी से इस समस्या को सुलझाने के लिए उत्सुक हो उठी है। क्या यही कम सफलता है ? क्या इस बात की कल्पना नहीं की जा सकती कि यदि विनोबा ने इस समस्या को सुलझाने के लिए यह नूतन मार्ग न अपनाया होता तो कितना उत्पात खड़ा हो गया होता।

उनके पास कोई मंत्र नहीं है पर एक मार्ग अवश्य है, जो एकमात्र भले ही न हो पर एक प्रशस्त मार्ग अवश्य है।

भूमिदान से ग्रामदान तक—कितनी सीढ़ियां यह आन्दोलन चढ़ चुका है, कितनी प्रेरणा इसने दी है, कितनी आशा इसने जगा दी है, लक्ष्य पहुंचा न हो पर दिखाई तो देने ही लगा है। एक समय था जब लोग विनोबा के नाम से चिढ़ते थे, दान की खिल्ली उड़ाते थे पर आज विनोबा ने दान का वास्तविक अर्थ हमारे सामने स्पष्ट कर दिया है। **दान अर्थात् सम्यक विभाजन**। करुणा को जगा कर भूमि की भीख नहीं मांगी जाती, वह मांगी जाती है सम्यक् विभाजन के आधार पर। हां, उस मांग के पीछे हथियारों का बल नहीं है, चेतना का बल है और है आत्मिक शक्ति।

अभी उन्होंने केरल प्रान्त का दौरा पूरा किया है। वहां उन्हें २२४ दाताओं से १५७१ एकड़ भूमि प्राप्त हुई। लगभग ३०० ग्राम दान प्राप्त हुए और १३३७ दाताओं ने सम्पत्ति दान के रूप में ५१,४०५) रुपये दिये। १५,५८९) रुपये के मूल्य का साहित्य बेचा गया। ये अंक देखने में आकर्षक न हों लेकिन उसे छोटे से प्रान्त की विशेष स्थिति को देखते हुए प्रेरणादायक है। वहां भूमि ही कहां है फिर आज वहां कम्यूनिस्ट दल का शासन है लेकिन उन्होंने जिस प्रकार विनोबा का स्वागत किया वह इस आन्दोलन की उपादेयता का प्रमाण है।

इस आन्दोलन का भविष्य उज्ज्वल है। यह देश की समृद्धि का मार्ग प्रशस्त करने वाला है, व्यक्तिगत मालिकी को समाप्त करके साम्य युग को लाने वाला है—ऐसे आन्दोलन के जन्मदाता और संचालक के जन्म दिवस के अवसर पर करोड़ों देशवासियों के अन्तकरण से यही आवाज उठ रही है कि वे सौ वर्ष तक जीते रह कर हमारा मार्ग प्रशस्त करते रहें। जीवन-साहित्य परिवार भी इस आवाज में अपनी आवाज मिलाता है और उन करोड़ों देशवासियों से प्रार्थना करता है कि विनोबा के हाथ सशक्त करने के लिए वे जी-जान से इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न कर वाणी से, शब्द से, कर्म से जैसे भी हो अपना योगदान दें।

१४ सितम्बर

१४ सितम्बर १९४९ को स्वतन्त्र भारत ने नागरी लिपि में लिखी जाने वाली 'हिन्दी' को भारत संघ की राजभाषा स्वीकार किया और १५ वर्ष की अवधि इस लिये निश्चित की तब तक अहिन्दी-भाषा-भाषी लोग सरकारी काम चलाने योग्य योग्यता प्राप्त कर लें। हिन्दी राजभाषा इसलिए नहीं स्वीकार की गई थी कि वह अन्य भाषाओं से श्रेष्ठ है। वह तो इसलिए स्वीकार की गई थी कि उसकी सरलता के कारण उसके समझने वाले बहुत हैं। इससे भी अधिक वह इसलिए स्वीकार की गई थी कि एक शताब्दी पूर्व दूसरी भाषाओं के विद्वानों, सन्तों और मनीषियों ने स्वतः ही इसे परस्पर आदान-प्रदान की भाषा स्वीकार कर लिया था। हिन्दी वाले तो उनके चिर कृतज्ञ हैं। हिन्दी अब उनकी नहीं, समूचे देश की, राष्ट्र की है। उसका प्रचार-प्रसार अब उनका दायित्व है। जिस उदारता से उन्होंने हिन्दी को स्वीकार किया, उसी उदारता से वे उसे सीख रहे हैं। हमें विश्वास है कि १५ वर्ष की अवधि में ही वे उसे अपना लेंगे। राजनीति के इस युग में उतार-चढ़ाव आते ही है पर हिन्दी को उस उतार-चढ़ाव से कुछ लेना देना नहीं है। यदि दुर्भाग्य से हम उतार-चढ़ाव की इस तू-तू, मैं-मैं की भाषा से प्रभावित हो गये तो एकता का यह सूत्र छिन्न-भिन्न हो जायगा। फिर अंग्रेजी ही हमारी स्वामिनी बनेगी। क्या यह शुभ होगा? नहीं, ऐसा कोई नहीं चाहता। मानसिक दासता कैसी भी हो स्वतंत्र राष्ट्रों के लिए खतरा है।

इस राष्ट्रीय दिवस के शुभ अवसर पर हम आशा करते हैं कि १५ वर्ष की निश्चित अवधि के बाद हिन्दी पूर्ण रूप से राजभाषा बनेगी और हिन्दी-भाषा-भाषी तबतक दक्षिण प्रदेश की एक न एक भाषा सीख लेंगे। भारत की एक राष्ट्रीयता के लिए बहु-भाषा-भाषी होना अनिवार्य है।

हम आशा करते हैं कि सीमावर्ती पंजाब प्रदेश के वीर लोग समय की गति को पहचानेंगे और सत्याग्रह का मार्ग छोड़ कर विचार विनिमय का मार्ग अपनायेंगे। उनके इस आन्दोलन से, जिसे वे हिन्दी भाषा के नाम पर चला रहे हैं, हिन्दी का अहित हो रहा है। हिन्दी वालों पर साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का जो दोषारोपण किया जाता है उसको इस आन्दोलन से बल मिल रहा है। यह स्थिति जितनी जल्दी दूर हो सके उतना ही अच्छा है।

—सु०

'मंडल' की ओर से

नवीन प्रकाशन

अठारहसौ सत्तावन——अठारहसौ सत्तावन के भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के प्रथम शताब्दि-समारोह के ऐतिहासिक अवसर पर एक विशेष पुस्तक 'अठारहसौ सत्तावन' प्रकाशित की है। इसमें १८५७ की महान क्रांति का बड़ा ही रोचक और रोमांचकारी विस्तृत इतिहास है। इसके लेखक श्रीनिवास बालाजी हर्डीकर हैं। इसमें अनेक प्रामाणिक तथा मौलिक चित्र भी दिये गये हैं, जिनमें से कई तो पहली बार ही प्रकाशित हो रहे हैं। हमें सूचना देते हुए हर्ष होता है कि यह पुस्तक हाथों-हाथ बिक रही है। अनेकों ने शुभ सम्मतियां भेजी हैं और इसकी मांग की है।

एक क्रांतिकारी के संस्मरण——रूस के महान् चिंतक कोपाटकिन के जेल से भागने का बड़ा ही रोमांचकारी वर्णन है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य सामग्री भी दी है, जो क्रोपॉटकिन के जीवन पर प्रकाश डालती है। पुस्तक बड़ी ही प्रेरणादायक और जीवन-निर्माणकारी है। लेखक हैं श्री बनारसीदास चतुर्वेदी।

यों भी तो देखिए——श्री वियोगी हरि के रोचक निबंध जो प्रत्येक पाठक को सोचने के लिए बाध्य करते हैं।

जापान की सैर——हमारे यात्रा-साहित्य में नई वृद्धि। इस पुस्तक में श्री रामकृष्ण बजाज ने अपने जापान-प्रवास का बड़ा ही सुंदर विवरण उपस्थित किया है। दर्जनों चित्र। तिरंगा आकर्षक कवर। वहां जानेवाले यात्रियों के लिए बड़ी उपयोगी पुस्तक है।

कुंदमाला——अबतक संस्कृत-साहित्य-सौरभ माला में २८ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। २९ वीं पुस्तक कुंदमाला है। इस माला की ३०वीं पुस्तक यशस्तिलक भी शीघ्र ही पाठकों के हाथों में पहुंचेगी।

साधना के पथ पर——श्री हरिभाऊ उपाध्याय लिखित यह पुस्तक काफी दिनों से अप्राप्य थी। पाठकों की ओर से इस की मांग अधिकाधिक होने के कारण इसका पुनर्मुद्रण करवाना पड़ा। अब इसका नया संस्करण तैयार है।

आगामी प्रकाशन

प्राकृतिक चिकित्सा के चमत्कार——हम स्वस्थ और रोग-मुक्त कैसे हो सकते हैं इसकी बड़ी ही सरल-सुबोध जानकारी श्री महाबीरप्रसादजी पोद्दार ने इस पुस्तक में दी है। साथ ही रोगियों के अनुभव भी।

स्मरणांजलि——इस पुस्तक में स्व. जमनालाल बजाज के विषय में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखे गये संस्मरण संग्रहीत किये गये हैं। अनेक संस्मरण अत्यंत भावपूर्ण व हृदयस्पर्शी हैं।

नवीन यात्रा——बंगला के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्री मनोज बसु के लोकप्रिय उपन्यास का हिंदी-रूपांतर हिंदी के लिए अपने ढंग की एक विशेष देन है। बड़ी ही रोचक और शिक्षाप्रद कृति है।

बहुमूल्य फसलों की खेती——'कृषि-ज्ञान-कोष', 'साग-भाजी की खेती', 'फलों की खेती', 'अन्नों की खेती', 'दलहन की खेती' और 'तिलहन की खेती' के बाद अब कपास, गन्ना, जूट, तम्बाकू आदि के उत्पादन की विस्तृत जानकारी देने वाली यह पुस्तक भी प्रेस में दे दी गई है। लेखक हैं डा० नारायण दुलीचंद व्यास।

गांधी-डायरी——(१९५८) अन्य वर्षों की भांति इस वर्ष २ अक्तूबर (गांधी जयंती) के अवसर पर गांधी-डायरी प्रकाशित हो जायगी। पाठकों से निवेदन है कि शीघ्र ही अपना आर्डर भेज दें अन्यथा उन्हें निराश होना पड़ेगा।

इनके अतिरिक्त और कई पुस्तकें प्रेस में दी जा रही हैं। नई पुस्तकें पाठकों को शीघ्र ही प्राप्त होंगी।

पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे हमारे प्रकाशनों की मांग अपने यहां के पुस्तक-विक्रेताओं से करें यदि उनके यहां न मिले तो उनसे आग्रह करें कि वे इन पुस्तकों को अवश्य मंगाकर रखें।

—मंत्री

हमारे यहां से प्रकाशित
विनोबा-साहित्य

विनोबा के विचार (दो भाग)--विनोबाजी के निबंधों व व्याख्यानों का संग्रह। प्रति भाग १।।)

शांतियात्रा--गांधीजी के देहावसान के बाद उत्तर भारत की शांति-यात्राओं में दिये गये भाषणों का संकलन १।।)

स्थितप्रज्ञ-दर्शन--स्थितप्रज्ञ के लक्षणों की व्याख्या १)

ईशावास्यवृत्ति--ईशोपनिषद् की विस्तृत टीका ।।।)

ईशावास्योपनिषद्--मूल श्लोकोंसहित ईशोपनिषद् का सरल अनुवाद =)

सर्वोदय-विचार--सर्वोदय-विषयक लेखों व प्रवचनों का संग्रह १=)

स्वराज्य-शास्त्र--स्वराज्य की व्याख्या अहिंसात्मक राज्य-पद्धति एवं आदर्श राज्य-व्यवस्था का शास्त्रीय विवेचन ।।।)

भूदान-यज्ञ--देश के भूमिहीनों की दुर्दशा से प्रभावित होकर भूमि के समवितरणार्थ दिये गये मूल्यवान प्रवचन ।)

राजघाट की संनिधि में--भूदान-यज्ञ के सिलसिले में दिल्ली में दिये गये प्रवचन ।।=)

गांधीजी को श्रद्धांजलि--गांधीजी के प्रति विनोबाजी की सर्वोत्तम श्रद्धांजलि ।=)

जीवन और शिक्षण--युवकोपयोगी लेखों तथा भाषणों का संग्रह २)

सर्वोदय का घोषणापत्र--चांडिल-सर्वोदय-सम्मेलन में दिये गये भाषण ।)

विचार-पोथी--विनोबाजी के चुने हुए मूल्यवान विचारों का संग्रह १)

गांव सुखी, हम सुखी--गांव को समृद्धशाली बनाने के उपाय ।=)

विनोबा के साथ सात दिन--श्रीमन्नारायण द्वारा लिखित भूदान विषयक विनोबा जी के विचार ।।)

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

रजिस्टर्ड नं०
डी. २२८

बनारसीदास चतुर्वेदी

हमारा
नवीनतम
प्रकाशन

सत्साहित्य प्रकाशन

रूस के महान् चिंतक क्रोपाटकिन के प्रारंभिक जीवन तथा जेल से भागने का बड़ा ही रोमांचकारी वृत्तांत

आकर्षक कवर : सुंदर छपाई : पृष्ठ संख्या ८८ मूल्य ॥।)

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, दिल्ली में छपाकर प्रकाशित।

अक्तूबर, १९५७ अहिंसक समाजरचना का मासिक

जीवन साहित्य

अंदर पढ़िए

सम्पादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन

सस्ता साहित्य प्रकाशन

मूल्य
वार्षिक ४) एक प्रति ।=)

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली तथा बिहार राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों, कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

जीवन साहित्य

वर्ष १८] अक्तूबर, १९५७ [अंक १०

अहिंसक क्रांति की परंपरा में 'भू-दान' यज्ञ

विनोबा

भारत में प्राचीन काल से ज्ञान की अखंड परंपरा चली आई है। शायद चीन को छोड़कर दुनिया में ऐसा दूसरा कोई देश नहीं है, जहां इस तरह से इतिहास-परंपरा अखंड चली आई हो। आज के ग्रीस, रोम, मिस्र, प्राचीन नहीं रहे, नये ही बन गये हैं। अन्य प्राचीन देशों की भी यही हालत हुई है। परंतु हिंदुस्तान में ज्ञान की अखंड परंपरा चली आई हुई दीखती है।

ऋग्वेद दुनिया का शायद पहला ग्रंथ है। इसमें शंका हो, तो भी हिंदुस्तान का तो वह प्रथम ग्रंथ है ही। उसके सैकडों शब्द आज की हमारी भाषाओं में हैं। जैसे **"अग्निमीले पुरोहितम्"** के **'अग्नि'** और **'पुरोहितम्'**, **"यज्ञस्य देवमृत्विजम्"** के **'यज्ञ'** और **'देव'**, **"होतारं रत्नधातमम्"** के **'होतृ'** और **'रत्न'**, ये शब्द आज भी हमारी भाषाओं में घुले-मिले हुए हैं। हमने ऊपर 'सैकड़ों' कहा, परंतु ऐसे शब्द हजार तक निकल आयेंगे। मैं दूसरे किसी देश की ऐसी भाषा नहीं जानता, जिसमें पांच हजार साल पहले के शब्द आज भी प्रचलित हों।

इसका अर्थ यह है कि इस देश में एक ज्ञान-विचार प्रकट हुआ और वह प्रवाहित होता रहा। पुराने शब्द टूटे नहीं, उनमें नया अर्थ भर दिया गया। इसका नाम है प्रवाह। 'लाउड स्पीकर'-जैसी चीज तब नहीं थी, तो ऐसे शब्द भी उस समय नहीं थे। परंतु इनका ज्ञान से कोई संबंध नहीं है। यह भौतिक वस्तु है। जिसको 'मानव-मन' कहते हैं, उससे इनका संबंध नहीं है। **"मानसिक शब्द"** तो संस्कार और सभ्यता के सूचक होते हैं। जहां ज्ञान-परंपरा अखंड नहीं रहती, जहां एक जमाने का प्रभाव दूसरे जमाने के प्रभाव के सामने एकदम क्षीण हो जाता है, वहां ऐसी परंपरा नहीं चलती। अंग्रेजों के आने से भी यहां के विचार-प्रभाव में खंड नहीं पड़ा, पूर्ति ही हुई। यदि विचार-प्रवाह खंडित हो जाता, तो शब्द भी खंडित हो जाते। लेकिन मानसिक शब्द वैसे ही चले आये हैं। **"यज्ञ"** शब्द को ही लीजिए। एक जमाने में यज्ञ में बकरों का बलिदान होकर ब्राह्मण भी उसका प्रसाद-सेवन करते थे, परंतु मांसाहार परित्याग का जमाना जब आया, तो करोड़ों लोगों ने मांसाहार छोड़ा। अब ५०-६० साल से, भारत के इस महान् विचार के प्रभाव-स्वरूप, पाश्चात्य देशों में भी मांसाहार-परित्याग का आरंभ हुआ। लेकिन यहां बकरे का बलिदान रुका, तो भी 'यज्ञ' शब्द खंडित नहीं हुआ! एक नया विचार उसमें आया, जिसने पुराने अर्थ को तोड़कर समाज को आगे बढ़ाया। पर अगर यह शब्द ही खंडित हो जाता, तो ज्ञान-परंपरा ही खत्म हो जाती! लेकिन इसी परंपरा ने मांसाहार का परित्याग कराकर भी 'यज्ञ' शब्द का विस्तार ही किया कि "समाज-सेवा के लिए जो त्याग करना पड़ता है, वह यज्ञ है।"

मनुष्य में कुछ पशु-अंश भी रहता है। 'काम-क्रोध-लोभ-मोह' यह मानवता नहीं, पशुत्व है। इस 'पशुत्व'

का बलिदान ही सच्चा बलिदान है। 'यज्ञ' में 'पशु' के बदले इसी 'पशुत्व' का बलिदान स्वीकार हुआ। यह आध्यात्मिक क्रांति है कि समाज आगे बढ़ा, लेकिन पुराने शब्दों को तोड़कर नहीं। अगर वह वैसा करता, तो जीवन का यह प्राणरस भी खंडित हो जाता।

वृक्ष के साथ चिपके रहने से ही शाखाएं सजीव बनी रह सकती हैं। वृक्ष हैं—प्राचीन परंपरा और शाखाएं हैं—नये संस्कार! हम नये संस्कार ग्रहण करें, लेकिन प्राचीन परंपरा से टूटकर नहीं! परिणामस्वरूप एकरसता भी बनी रहेगी और प्राचीन परंपरा भी खंडित नहीं होगी।

आम की गुठली बोते हैं, जो शुरू में पत्थर की-सी कठोर होती है, लेकिन उसीमें से कोमल अंकुर फूट निकलता है। गुठली से ही वह रस लेता है। फिर एक बड़ा 'स्कंध' होता है, लेकिन वह खाने लायक नहीं होता, उसकी लकड़ी, रसोई, मकान आदि बनाने के काम आती है। इस प्रकार नया रूप वह लेता जाता है और एकरसता में बाधा नहीं आती। फिर शाखाएं, पत्ते, बौर, आम आदि के रूप में वह वृक्ष फलता-फूलता है और हरएक का अलग-अलग उपयोग होता है। कच्चे आम का भी फिर अचार बनता है और पका आम बनने पर मधुर फल के रूप में लोग उसे खाते हैं। बकरी पत्ते खायेगी, लेकिन स्कंध नहीं। अचार कच्चे आम का बनेगा, लेकिन पत्तों का नहीं। इस तरह फर्क तो है, लेकिन प्रारंभ से अंत तक एकरसता कायम रहती है और आम्र-रस लकड़ी को यह नहीं कहता कि तू पुराना समाज है, तेरा-मेरा कोई संबंध नहीं! वह यही कहता है कि तू मेरा पिता है। इस तरह वह स्नेह-संबंध कायम रखता है। जहां समाज का अखंडित विकास होता है, वहां भी इसी तरह प्राचीन काल से आधुनिक काल तक 'अनुसंधान" (पूर्वापर संबंध) बना रहता है। पुरानी परंपरा समाप्त करके नये सुधार करते हैं, तो उससे ताकत नहीं बढती और जड़ें गहरी न रहने से स्थिर बुद्धि के बदले मानसिक चंचलता पैदा होती है। पुरानी परम्परा का स्पर्श शक्ति प्रदान करता है, नया विचार माधुर्य उत्पन्न करता है। भारत में दोनों एकत्र हुए हैं। पुराने शब्दों में नये अर्थ भरकर उनका विकास हम करते रहते हैं। यह अहिंसक क्रांति की क्रिया भारत में चली आई है।

'भूदान' के **'दान'** शब्द को लेकर लोग कहने लगे, "बाबा तो भिक्षा मांगने निकला है।" लेकिन हमने कहा, "नहीं, हम सबका हक मांग रहे हैं। जरा शंकराचार्य का भाष्य तो खोलकर देखो! उन्होंने कहा कि दान याने सम्यक् विभाजन!

शरीर का खून केंद्रित हो जाने से शरीर को खतरा है, उसी तरह संपत्ति समाज में रुधिराभिसरणवत् चलनी चाहिए। समवेदना और अनुबंध जीवित शरीर के लक्षण हैं। उसी तरह समाज भी जीवित होता है, जो संपत्ति का केंद्रीकरण नहीं होता। शरीर में खून बढ़ गया, तो भी खतरा है और खून कम हुआ, तो भी खतरा है। इसलिये उसका सुव्यवस्थित अभिसरण होना चाहिए। यही बात समाज के लिए शंकराचार्य के **'दानं संविभागः'** में है। यहां दान 'भीख' नहीं है! शंकराचार्य ने ही नहीं, बुद्ध ने तक कहा है "यमाहु दानं परमं अनुत्तरं। ये संविभागं भगवा अवण्णयी।"

इस तरह हजार-डेढ़ हजार साल में एक ऐसा विचार सामने आया, जिसने दान का पुराना अर्थ नहीं माना। "दान देने से पुण्य-प्राप्ति होती है, अर्ध इंद्रासन मिलता है; गोदान से चंद्रलोक, स्वर्णदान से इंद्रलोक, भूदान से पुण्य प्राप्त होता है," इस तरह की पुरानी दान-पद्धति उन्हें स्वीकार नहीं हुई, न उससे अहिंसक क्रांति बन सकती थी। ऐसे दानों से तो देनेवाला अहंकारी और लेनेवाला दीन ही बनता है। इसलिए ऐसा दान काम का नहीं है, यह क्रांतिकारी विचार सामने आया।

लेकिन आधुनिक, पाश्चात्य विद्या पाये हुए लोग उस जमाने में होते, तो वे इस शब्द की निंदा करते हुए इस शब्द को ही तोड़ डालते। परिणामतः दान की स्तुति करने वाली गीता, उपनिषद् और वेद भी निकम्मे मान लिये जाते! परंतु गीता, उपनिषद् वेदादि द्वारा प्रशंसित 'दान' शब्द को न तोड़कर उन्होंने उसमें **'दानं संविभागः'** का नया अर्थ भर दिया। यह अर्थ समझकर आप गीता, उपनिषद् आदि पढ़िये, तब उन्हीं पुराने शब्दों से नया प्रकाश मिलेगा। इसी तरह **'यज्ञ'** याने मनुष्य में के पशुत्व का छेद, जो स्वाध्याय-जप-तप सेवादि से होगा इसमें

'यज्ञ' शब्द तो कायम रहा, लेकिन नया अर्थ उसको मिल गया। 'तपश्चर्या' के रूप में कोई उलटे खड़े होते थे, ठंडे पानी में रहते थे, अग्नि जलाकर बीच मे पड़े रहते थे। इस तरह 'तप' का एक अर्थ चला। लेकिन गीता ने 'सत्य, प्रेम और स्वाध्याय' को वाणी का तप बताकर एवं वृद्ध और ज्ञानी की सेवा, ब्रह्मचर्य-पालन आदि को देह की तपस्या बताकर पुराने शब्द के आदर को कायम रखा!

परंतु आज पुराने शब्द छोड़कर नये शब्द बाहर से 'इंपोर्ट' करते हैं और उनका ठीक अर्थ प्रकट करने के लिये यहां प्रतिशब्द नहीं मिलते। 'रॅशनलाईजेशन' (Rationalisation) शब्द ही लीजिए। इसका हमारी भाषा में क्या प्रतिशब्द होगा, लगे ये सोचने! 'रॅशन' पर से 'रॅशनल', फिर 'रॅशनलाइज!' और फिर 'रॅशनलाईजेशन!' पर एक इंच लंबा शब्द बनाकर भी कोई उपयोग नहीं! 'रॅशनलाइजेशन' याने कारखाने में हजार मजदूरों की जगह पांचसौ मजदूरों द्वारा उतना ही काम कराना! यह 'रॅशनलाईजेशन' नहीं, मोस्ट इरॅशनल (अति बुद्धि-विरोधी) है! वस्तुतः यह कल्पना ही यहां के लिए त्याज्य और अशोभनीय है। यहां तो पुराने शब्दों से ही कल्पना का विकास होगा——जैसे कि हम पुराने समाज से सर्वथा भिन्न, ऐसा नया सर्वोदय-समाज कायम तो करना चाहते हैं लेकिन फिर भी, आम्रफल-जैसा परिपक्व और मधुर होते हुए भी वह पुरानी परंपरा को तोड़नेवाला कतई नहीं है। क्रांतिकारी विचार की यह खूबी होती है कि वह पुराने विचार में से नव विचार में कुशलतापूर्वक प्रवेश कराता है, जैसे कुशल इंजीनियर हमको ऊपर-ऊपर चढ़ाकर भी उसका भान नहीं होने देता! यहां 'शब्द' कायम रखने की स्थूल कल्पना नहीं है, 'अर्थ' बदलने की ही सारी प्रक्रिया है।

समाज में दो तरह की विचारधाराएं होती हैं: एक पुरानी, दूसरी नई। ऐसा भेद न रहा, तो समाज की प्रगति खत्म हो जायगी। परंतु बाप की विचार-धारा से बेटा दो कदम आगे है, इसलिए वह बाप को पसंद नहीं और बाप पीछे है, यह बेटे को पसंद नहीं, तो दोनों का झगड़ा होता है। राम और परशुराम, दोनों ही नारायण के अवतार थे, लेकिन पहले परशुराम ने राम को नहीं पहचाना, बाद में उसका पराक्रम देखकर पहचाना। इसलिए नये-पुराने के बीच का झगड़ा तो कुशलता से मिटाना चाहिए और भूदान द्वारा यही हो रहा है।

यहां कम्युनिस्ट भी मानते हैं कि मालकियत कानून से नहीं मिट सकती। इसलिए वे सीलिंग की बात करते हैं! लेकिन सीलिंग याने जो निजी मालकियत ढीली हुई, उसको फिर एकदम मजबूत बनाना! और, लोग भी कानून के पहले आपस में जमीन बांट चुके हैं! 'प्रत्युत्पन्नमति' और 'अनागत विधाता', ये दो प्रकार होते हैं। 'अनागत विधाता' को आगे की बात पहले से मालूम हो जाती है और 'प्रत्युत्पन्नमति' को चीज बनते हुए पता चल जाता है। इस तरह यहां दोनों ने अपनी तैयारी कर ली है। जो थोड़े-से मूर्ख बचे होंगे, उनकी ही कुछ जमीन सरकार को सीलिंग के द्वारा मिल जायगी! यह तथ्य पहचान लेने के कारण ही आज कम्युनिस्ट बाबा के काम को प्रेम से देखते हैं। हमारे काम में इसी तरह राइटिस्ट और लेफ्टिस्ट एक होते हैं।

सारांश, हमें समाज में सुधार नहीं, क्रांति करना है, लेकिन वह इस तरह कि सबका सहयोग मिले। यह सहयोग पुराने शब्द तोड़ने से नहीं, उनमें नया अर्थ भरने से मिलेगा और बुद्धिभेद भी नहीं होगा! दान मांगने जाते हैं, तो लोगों के हृदय में प्रवेश होता है। हम उनके घर में दरवाज़े के द्वारा प्रवेश चाहते हैं। इसलिए जहां का दरवाजा खुला है, वहीं से प्रवेश करना होगा। अगर दीवार से होकर प्रवेश करेंगे, तो टक्कर होगी! क्रांति तो ऐसी कुशलता से पूरी करनी है कि प्राचीन काल की ज्ञानधारा और विचारधारा कुंठित न हो और न यह खयाल हो कि कोई हमारे जीवन के खिलाफ बात कर रहा है! इस तरह हम सर्वोदय का कार्य कर रहे हैं।

(कण्णनूर, केरल, १०-८-'५७)

गृहपति गांधीजी

काका कालेलकर

(पू० बापूजी के अनोखे व्यक्तित्त्व की एक झांकी दिखलाने वाला पुराने पत्र में से लिया हुआ यह हिस्सा पाठकों को दिलचस्प मालूम होगा।)

"आजकल पूज्य बापूजी आश्रम में गृहपति का काम पुरजोश से चला रहे हैं। परिणामस्वरूप आश्रम के आदर्शों की वहां खूब चर्चा चलती है। यह चर्चा शाब्दिक नहीं होती, बल्कि जीवनमय होती है। यहां का आश्रम-जीवन आश्रम-नियमावलि पर का महाभाष्य है। आज हिन्दुस्तान में सर्वोत्तम छात्रालय अगर कोई हो, तो वह साबरमती का आश्रम है। हमेशा के लिए तो मैं नहीं कह सकता, लेकिन बापूजी खुद वहां के गृहपति (छात्रालय प्रमुख) बने हुए हैं, इसलिए कहता हूँ। महादेव भाई से लेकर उनके बाबू और पूज्य बा से लेकर उत्पाती लक्ष्मी तक सभी वहां के छात्र हैं। आश्रम-नियमावलि हिन्दुस्तान के लिए और सारी दुनिया के लिए बापूजी की बनायी हुई धार्मिक शिक्षा की योजना है और हिन्दू-धर्म संस्करण में उनका इस जमाने के लिए सबसे बड़ा हिस्सा है। हमारे छात्रालयों के व्यवस्थापक अगर इस नियमावलि का गहरा अध्ययन करेंगे तो उनको आवश्यक छात्रालय-शास्त्र उसी में से मिल जायेगा। इंडियन सोशल रिफार्मर के श्री नटराजन ने उसका महत्त्व जान लिया है और यह सारी 'नियमावलि' उन्होंने अपने अखबार में एक ही अंक में छापी है। अपने वाचकों को यह अंक संभाल कर रखने की भी उन्होंने सिफारिश की है।

"आश्रम में अब लगभग सभी एक रसोईघर में भोजन करते हैं। सबसे छोटे बच्चे क्या खायें, कितना खायें, कौन से क्रम से खायें, यह सब बापूजी खुद ही देखते हैं। खुराक अच्छी तरह से चबायी जाती है या नहीं, उस तरफ भी बापूजी का ध्यान रहता ही है। अमुक लड़के तो बापूजी के पास ही सोते हैं। लड़कियां बापूजी के साथ ही घूमने जाती हैं। अतिथि सेवा के पाठ भी विद्यार्थियों को बापूजी खुद ही देते हैं। पाठशाला और गोशाला आश्रम के राष्ट्रीय मन्दिर के मुख्य विभाग हैं। कुछ विषयों में तो विद्यार्थी अध्यापकों को भी पीछे छोड़ते हैं।

मैंने थोड़ा लोभ करके बापूजी का एक वर्ग हर शनिवार को यहां विद्यापीठ में प्रारम्भ किया है। पिछली दफा एक छोटे विद्यार्थी के सवाल में से बुद्धि और श्रद्धा का सवाल पैदा हुआ, और एक घंटे तक बापूजी का अद्भुत प्रवचन चला। आजकल की शिक्षा में जो कुछ भली बुरी कोशिश होती है, वह सब बुद्धि का विकास करने में ही समाप्त होती है। हृदय के विकास की ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता, इस बात की ओर बापूजी ने ध्यान खींचा। मुख्य शिक्षा तो हृदय की ही होनी चाहिए, इस बात पर उन्होंने भार पूर्वक विवेचन किया। बाद में श्रद्धा और बुद्धि के स्वरूप और संबंध के बारे में दिलचस्प चर्चा चली। बापूजी जब विद्यार्थियों के बीच बैठ कर बोलते हैं, तब वे हमेशा के जैसे 'स्थित प्रज्ञ' नहीं दीखते। कुछ पिघले हुए हों, अपनी विरासत देश के युवकों के हाथ सौंप देने के लिए उत्सुक हों, और इसीलिए अपना संपूर्ण हृदय उनके सामने खोल कर रखते हों, अपनी देशभक्ति, धर्म निष्ठा और अखंड जागृत कर्मयोग विद्यार्थियों में प्रेरित करना चाहते हों, ऐसा ही दिखायी देता है। विद्यार्थियों में उनका विश्वास, उनके जरिये देश का भवितव्य बनाने की उनकी अभिलाषा, यह सब देख कर उस क्षण तो प्रतीत होता है कि यह कोई लोकोत्तर राजनीतिज्ञ नहीं है, बल्कि विद्यार्थियों पर उत्कट प्रेम करने वाला कोई शिक्षा शास्त्री ही है।

आश्रम में तो विद्यार्थियों से भी विद्यार्थिनियों की ही संख्या अधिक रही है, इसलिए सह-शिक्षण के लिए आदर्श वातावरण कैसा हो, यह सवाल उत्तम रीति से हल हो गया है। मुझे तो लगता है कि बापूजी ने यह वर्ष खास स्त्रियों की उन्नति का रास्ता ढूढ़ निकालने के लिए ही अलग रखा हुआ है। संत जनाबाई की पंढरपुर के पांडुरंग के प्रति जो भक्ति थी, वैसी भक्ति हिन्दुस्तान की बहनें बापूजी के प्रति महसूस करने लगें, तो मुझे आश्चर्य नहीं होगा।"

'गुजराती से अनूदित'

गांधी-भवन, कुण्डेश्वर (टीकमगढ़)

बेसिक ट्रैनिंग या बुनियादी शिक्षा का केंद्र

बनारसीदास चतुर्वेदी

हमारे मध्य प्रदेश में बीसियों स्थल ऐसे हैं, जो प्राकृतिक सौंदर्य की दृष्टि से अत्यंत आकर्षक हैं और ऊपर हिमालय तथा नीचे केरल प्रदेश के कुछ स्थलों को छोड़ कर जो इस संपूर्ण देश में दुर्लभ हैं। कविवर श्रीधर पाठक के शब्दों में :—

प्रकृति जहां एकांत बैठि,
निज रूप संवारति।
पल पल पलटति भेष,
छनिक छवि छिन छिन धारति ।।

जमडार नदी के तट पर स्थित कुंडेश्वर ऐसे ही रमणीक स्थानों में से है, और उसके निकट ही खैरई नामक वन ने उसके महत्व को चार चांद लगा दिये हैं। डेढ़ वर्गमील के उस मधुवन ने, जिसमें जमडार तथा जामनेर इन दोनों नदियों का संगम हुआ है, निस्संदेह इस स्थल को एक ऐसी मनोहर पृष्ठभूमि प्रदान की है जो बहुत कम शिक्षण-संस्थाओं को प्राप्त होगी।

सुदृढ़ चट्टान पर स्थित उस राजमहल को, जिसका निर्माण स्वर्गीय महाराज प्रतापसिंह जू देव ने किया था, और जिसे उनके सुयोग्य पौत्र महाराज वीरसिंह जू देव ने सार्वजनिक कार्यों के लिए अर्पित कर दिया, अब गांधी भवन के नाम से पुकारते हैं।

अभी उस दिन जब प्रिंसिपल अमरनाथ कौल ने हमें वतलाया कि अबतक करीब ६०० विद्यार्थी बुनियादी शिक्षक बनकर वहां से निकल चुके हैं और इस वर्ष सौ से ऊपर विद्यार्थियों को भर्त्ती किया गया है, तो हमें बीस वर्ष पहले की याद आ गई, जबकि १८ अक्तूबर, सन् १९३७ को हमें उस राजमहल के प्रथम दर्शन करने और तत्पश्चात् उसमें रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वह दिन हमें कभी नहीं भूलने का। जो भी व्यक्ति पहले ही पहले उस कोठी से जल-प्रपात तथा निकटस्थ वन को देखता है, वह उसके सौंदर्य से अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता।

आचार्य विनोबाजी, श्रद्धेय राष्ट्रपति बाबू राजद्रप्रसादजी, आचार्य क्षितिमोहन सेन, काका कालेलकर, पं. झाबरमल्ल जी शर्मा, श्री वियोगी हरि, पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र, दादा धर्माधिकारी, मिस मार्जोरी साइक्स, स्व. रफी अहमद किदवाई प्रभृति जिन देशी-विदेशी सज्जनों ने कुण्डेश्वर को देखा है, उन्होंने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। स्वर्गीय हरिजी गोविल तो उस स्थल पर मुग्ध हो गये थे और उनकी अमरीकन पत्नी को वह जगह बहुत पसंद आई थी। एक कनैडियन दर्शक ने उसे देखकर कहा था : "यह तो हमें अपनी जन्मभूमि कनाडा की याद दिलाता है"। अमर शहीद चंद्रशेखर आजाद की पूज्य माताजी को भी वह स्थान बहुत प्रिय था और दो बार वे वहां पधारी थीं।

साहित्यक परंपरा:

कुण्डेश्वर में जो साहित्यिक कार्य हो सका, उसका श्रेय सर्वांश में स्वर्गीय महाराज वीरसिंह देव को मिलना चाहिए। जिनके पूर्वजों ने हिंदी के प्रथम आचार्य केशवदास को संरक्षण प्रदान किया था और जिनके वंश की यह प्राचीन परंपरा ही रही थी; उनसे यही आशा की जा सकती थी।

प्रेमी-अभिनंदन ग्रंथ, और संपूर्णानंद-अभिनंदन-ग्रंथ का संपादन यहीं कुण्डेश्वर से किया गया। स्व. बालमुकुन्द गुप्त की ग्रंथावली के संपादन में यहीं से सहायता पहुँचाई गई। वर्णी ग्रंथ के बुंदेलखंड विभाग का कार्य यहीं हुआ। 'मधुकर' और 'लोकवार्त्ता' यहीं से निकले और विंध्य-वाणी का संचालन यहीं से हुआ। प्रांत-निर्माण आंदोलन का सूत्रपात यहीं किया गया था। दीनबंधु सी. एफ. एण्ड्रूज के अंग्रेजी जीवन-चरित का एक अच्छा भाग मिस मार्जोरी साइक्स ने यहीं लिखा। इस स्थल को संयुक्त प्रांतीय तथा अखिल भारतीय हिंदी-पत्रकार-संघ के कार्यालय रखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और जनपदीय

आंदोलन यहीं से संचालित हुआ। अनेक साहित्य-सेवी यहां पधारते रहे और बीसियों कवियों की मधुर वाणी से यहां का आकाश गुंजायमान रहा। जिन महाराज वीरसिंह जू देव की कृपा से यह सब संभव हुआ, वह यद्यपि इस लोक में नहीं हैं, तथापि उनकी कीर्त्ति अमर है और वस्तुतः राजकीय बेसिक-शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालय उन्हीं की कृपा तथा उदारता का साक्षात् रूप है। कुंडेश्वर के साहित्यिक यज्ञों में बंधुवर सर्वश्री यशपाल जैन, कृष्णानंद गुप्त, जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी तथा प्रयागनारायण त्रिपाठी और रामसेवक रावत ने भरपूर सहयोग दिया था। उनकी मदद के बिना ये यज्ञ अधूरे ही रह जाते।

विस्तृत मध्य प्रदेश में ऐसे कितने विद्यालय होंगे, जिन्हें ऐसी प्राकृतिक पृष्ठभूमि तथा साहित्यिक परंपरा प्राप्त हो?

यद्यपि इस महाविद्यालय को चालू हुए कुल पांच वर्ष ही हुए हैं, पर इस बीच इसने काफी उन्नति कर ली है और मध्य प्रदेश की बुनियादी तालीम देनेवाली संस्थाओं में इसका नाम अग्रगण्य है।

इस महाविद्यालय की शिक्षा के पांच विभाग हैं:—

(१) सामाजिक शिक्षण एवं समाज-सेवा
(२) स्वस्थ और स्वच्छ जीवन
(३) सांस्कृतिक और कला-संबंधी कार्य
(४) शिक्षकीय प्रशिक्षण
(५) मूलोद्योग और स्वावलंबन

यद्यपि हम कोई शिक्षा विशेषज्ञ नहीं हैं और बुनियादी तालीम के बारे में हमारा ज्ञान नगण्य है, तथापि विद्यार्थियों की रहन-सहन, अध्यापकों के वर्ताव, विद्यालय के वातावरण इत्यादि के बारे में तो हम अपने व्यक्तिगत अनुभव से कुछ कह ही सकते हैं। स्वयं हमें ११ वर्ष तक भिन्न-भिन्न प्रकार के विद्यालयों में अध्यापक रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। कुण्डेश्वर के महाविद्यालय में पारस्परिक सद्भावना और प्रेमपूर्ण बंधुत्व का जो वायुमंडल हमने देखा, वह अन्यत्र दुर्लभ है। पिछली मई में जब विद्यार्थी अपने अध्यापकों से विदा हो रहे थे, उस समय का दृश्य हमने अपनी आंखों से देखा था। प्रायः सभी के नेत्र सजल थे और कुछके तो आंसू रुकते ही न थे। साधारण विद्यालयों में इस प्रकार का दृश्य असंभव है।

इस घरेलू वातावरण के लिए स्वयं बुनियादी शिक्षा का सिद्धांत जितने अंशों में जिम्मेवार है, उतने ही अंशों में प्रिंसिपल अमरनाथजी कौल का व्यक्तित्व भी। इसके सिवाय प्रकृति माता की गोद से विछोह होना भी कम कष्टदायक नहीं।

भगवान् वेदव्यास ने महाभारत में लिखा है कि जिनके हाथ हैं, वे क्या नहीं कर सकते? शारीरिक श्रम की महिमा में लिखे गये उन श्लोकों को पाणिवाद के नाम से पुकारा जाता है। कुण्डेश्वर महाविद्यालय में दोसौ-ढाईसौ हाथ नित्य प्रति तीन-तीन घंटे श्रम करते हैं। कितने ही लोगों का कथन है कि बुनियादी शिक्षा-संसार की सभ्यता के लिए महात्मा गांधी की सबसे बड़ी देन है। इस दृष्टि से जो कार्य आज कुंडेश्वर के महाविद्यालय में हो रहा है, उसका महत्त्व यदि संपूर्ण मध्य प्रदेश के लिए नहीं तो बुंदेलखंड जनपद के लिए तो है ही। मिस मार्जोरी साइक्स ने, जो दो बार कुंडेश्वर पधार चुकी हैं, और जिन्होंने स्वयं सेवाग्राम में बुनियादी शिक्षा का अध्यापन कार्य किया है, हमें एक पत्र में लिखा था: "प्राकृतिक साधनों के खयाल से कुण्डेश्वर बुनियादी शिक्षा के लिए लगभग पूर्ण आदर्श स्थल है।"

संस्थाएं वृक्षों की तरह धीरे-धीरे ही बढ़ती हैं। स्वयं कुंडेश्वर में मौलश्री का एक पेड़ है जो डेढ़सौ वर्ष का होगा। इसलिए पांच छः वर्ष की संस्था से अधिक आशा नहीं की जा सकती।

पिछले बीस वर्षों में हमने कुंडेश्वर में बैठे हुए अनेक राजनीतिक परिवर्तन देखे। स्वर्गीय महाराज का शासन, ओरछा की जिम्मेवार सरकार, नौगांव का बुंदेलखंडी शासन, विंध्य प्रदेश की दो सरकारें और अब मध्यप्रदेश का शासन। इन परिवर्तनों की मानों उपेक्षा करती हुई जमडार नदी अपनी जगह बह रही है और जामनेर अपने स्थल पर और आगे आनेवाले सहस्रों वर्षों तक वे ज्यों की-त्यों बहती रहेंगी।

हमारे यहां प्राचीन काल से नदियों को माता के नाम से पुकारा जाता है। वास्तव में कुंडेश्वर का महाविद्यालय

जमडार तथा जामनेर नदियों को अर्पित किया हुआ अर्घ्य है—उनकी पूजा है। वह महाविद्यालय चट्टान पर स्थित है और अपने इस छोटे से जीवन में उसने कई तूफानों का सफलतापूर्वक मुकावला किया है और यह आशा की जाती है कि भविष्य में भी वह दृढ़तापूर्वक ऐसा करता रहेगा। सौभाग्य से अब उसकी उन्नति का मार्ग निष्कंटक होगा क्योंकि मध्यप्रदेश के शिक्षा-विभाग की सहानुभूति उसे प्राप्त है।

कुंडेश्वर में अब प्रकृति और पुरुष का कल्याणकारी सम्मिलन हुआ है। मानसिक शिक्षा की सगाई शारीरिक श्रम से कर दी गई है और जब विश्व-वंद्य महात्मा गांधी के शुभ नाम तथा उनके अखंड सिद्धांतों का मेल उसके साथ हो चुका है तो फिर उसके स्थायित्व में किसीको शंका नहीं हो सकती। इसके सिवाय सबसे अधिक सौभाग्य की बात यह है कि प्रारंभ से ही उसे सभी राजनैतिक दलों की सद्भावना प्राप्त रही है। इस संस्था ने अपनी सेवा से आसपास के ग्रामों में काफी लोकप्रियता प्राप्त कर ली है।

यद्यपि कुण्डेश्वर के साहित्यिक रूप का अब प्रायः लोप हो चुका है, क्योंकि उसके लिए वहां अब साधन नहीं, तथापि यदि मध्यप्रदेश का शिक्षा-विभाग या महाविद्यालय के शिक्षक चाहें तो उसकी कुछ झलक वहां विद्यमान रह सकती है। यदि वहां एक अच्छे पुस्तकालय का निर्माण कर दिया जाय और एक कमरा विशेष रूप से साहित्य के लिए ही सुरक्षित हो, तो महाविद्यालय के विद्यार्थियों में साहित्यिक रुचि जाग्रत की जा सकती है।

प्रकृति की गोद में बसी हुई वह वनस्थली—वह मधुवन, जमडार का वह जल प्रपात षड़ानन, और दोनों नदी बहनों का वह संगम, और आसपास के वे सुंदर उपवन और तैरने के लिए वह सुंदर सरोवर और सर्वोपरि चट्टान पर स्थित गांधी-भवन, इन सबने मिलकर कुंडेश्वर को एक नवीन तीर्थ का रूप दे दिया है और भगवान् शिव का एक हजार वर्ष पुराना मंदिर वहां धार्मिक जनता को निरंतर आकर्षित करता रहा है। प्राचीन और नवीन तीर्थों का यह सम्मिलन अमर हो, यही कामना है।

●

राष्ट्र-निर्माण

परमेश्वर द्विरेफ

नूतन इतिहास बनाना है

कंटक तो दूर हुए पथ के
पर, जीर्ण-शीर्ण पहिए रथ के
नूतन निर्माण चिरंतन कर
पथ पर रथ को दौड़ाना है

नूतन इतिहास बनाना है

आयेंगे जो नव पथ ऊपर
झर, सरिता, चट्टानें, भू-धर
उनको मारुत-गति से छूकर
हेमाचल-शृंग दिखाना है

नूतन इतिहास बनाना है

हम हैं अपने, रथ भी अपना
गति भी अपनी, पथ भी अपना
साहस की मंजुल वीणा पर
पल-प्रतिपल यह ही गाना है

नूतन इतिहास बनाना है

●

तीन पावन प्रसंग

काशिनाथ त्रिवेदी

: १ :

सन् '३८-'३९ की बात है। बापू तब सेवाग्राम आश्रम में रहते थे। उन्होंने उन दिनों सेवाग्राम से वर्धा और वर्धा से सेवाग्राम आने-जाने के लिए पैदल चलने का नियम रखा था। सब साथियों को भी पैदल ही जाने-आने की हिदायत दे रखी थी। वर्धा या मगनवाड़ी में किसीसे मिलना होता, किसी बीमार साथी को देखना होता या कांग्रेस की वर्किंग कमेटी की बैठक के लिए बजाजवाड़ी आना होता, तो बापू सेवाग्राम से पैदल ही निकलते थे और वापस सेवाग्राम भी पैदल ही जाते थे।

एक दिन की बात है। शाम का समय था। दिन में किसी काम से बापू वर्धा आये थे, और दिन डूबने से पहले उन्हें सेवाग्राम पहुंचना था। वर्धा से सेवाग्राम जाते हुए वह अक्सर महिलाश्रम के रास्ते आने-जाने का आग्रह रखते थे। इससे अनायास ही आश्रम के कार्यकर्ताओं और विद्यार्थिनी बहनों को बापू के दर्शन हो जाते, और दस-पांच मिनट के लिए ही क्यों न हो, उनके पावन तथा प्रेरणा-प्रद संपर्क और सान्निध्य का लाभ मिल जाता था। उस दिन अचानक ही बापू वर्धा की ओर से पैदल महिलाश्रम में आये। उनके साथ दो बहनें थीं। उनमें एक डाक्टर सुशीला नायर थीं। आश्रम की बहनें उस समय भोजन कर रही थीं। कुछ, जो भोजन कर चुकी थीं, अपने बरतन मांज कर अपने-अपने कमरों की ओर जा रही थीं। इसी बीच कुछ बहनों ने बापू को दूर से आते देख लिया। बापू को सेवाग्राम लौटने की जल्दी थी। सांझ हो जाने के कारण महिलाश्रम का फाटक बंद हो चुका था, और उसमें ताला पड़ चुका था। बापू को आते देखा, तो एक बहन दौड़कर ताले की चाबी लाने गई। इतने में बापू कदम बढ़ाते हुए फाटक के पास आ पहुंचे। उन्हें अचानक अपने बीच पाकर आश्रम की बहनें हर्ष-विभोर होगईं। बापू का आना सुनकर जो जहां थीं वे वहां से दौड़कर बापू के पास आ पहुंचीं। हम कुछ कार्यकर्ता भी पहुंच गये। बापू के पास रुकने को समय नहीं था। उनके साथ की दोनों बहनें इस बात को जानती थीं। सामने फाटक था, पर उसपर ताला पड़ा था। अगल-बगल कांटेदार तार खिंचे थे। जो बहन चाबी लेने गई थी, वह अभी लौटी नहीं थी। एक मिनट की देर भी असह्य हो रही थी। बापू के साथ की बहनें कांटेदार तारों की ओर बढ़ीं। एक बहन नीचे झुककर तारों के बीच से निकली और उस पार सड़क पर खड़ी हो गई। उसने दूसरी को भी निकलने में मदद की। बापू भी उन्हीं की तरफ बढ़े। इतने में चाबी आ गई। फाटक खुल गया। हमने सोचा अब बापू फाटक के रास्ते ही बाहर निकलेंगे। पर हमारा सोचना गलत रहा। बापू के पैर फाटक की ओर मुड़े ही नहीं। वे कांटेदार तारों की तरफ बढ़े और जिस तरह उनके साथ की दो बहनें अपना अंग सिकोड़कर और बदन को दुहराकर के कंटीले तारों के बीच से निकली थीं; उसी तरह बापू भी निकलने लगे। हम सब हैरान थे। बात हमारी समझ में नहीं आ रही थी। हममें से किसीने आगे बढ़कर बापू से कहा, "बापूजी, फाटक खुल गया है। आप फाटक के रास्ते जाइए न।" फिर भी बापू तो कंटीले तारों के बीच में से ही निकले और अपने साथ की बहनों के पास पहुंच गये। हम सबने विस्मय और कुतूहल से बापू को कंटीले तारों के बीच से निकलते देखा। जब बापू सेवाग्राम के लिए चलने लगे, तो किसी बहन ने बापू से पूछा, "बापूजी, हमें एक बात समझा दीजिए। खुला फाटक छोड़कर आपने इन कंटीले तारों के बीच में से निकलना क्यों पसंद किया ?"

बापू बोले, "नहीं तो मैं और क्या करता ? मेरे साथ की लड़कियां कंटीले तारों में से निकलें, और मैं खुले फाटक से जाऊं, यह कैसे हो सकता है ? मैं ऐसा करूं, तो मेरा बुढ़ापा लाजे न ?" कहकर बापू खिलखिलाकर हँस पड़े और उनकी उस हँसी में हम सबकी हँसी भी मिल गई। बापू सेवाग्राम के लिए चल दिये, और हम सब तेज कदमों से बढ़ती हुई उनकी मूर्ति को देर तक टक लगाकर देखते रहे। बापू आये क्या, गये क्या। पर बीच के इन चार-छह मिनटों में ही वह हमें जीवन का एक अनूठा और

ऊंचा पाठ पढ़ा गये। "मेरा बुढ़ापा लाजे न?" उनके ये शब्द आज भी कानों में गूंज रहे हैं, और उनकी उस समय की वह छवि आंखों में बसी हुई है।

मामूली-सी बात है। सहज-सा प्रसंग। पर बापू की सजग अहिंसा और सत्यनिष्ठा ने उसे महान बना दिया। महापुरुषों की यही रीति होती है। उनके लिए कोई बात छोटी नहीं होती। कोई क्षण व्यर्थ नहीं होता। बापू एक ऐसे ही अद्वितीय महापुरुष थे।

सारे विश्व को अपना कुटुंब माननेवाले बापू ने देश-विदेश के हजारों लाखों भाई-बहनों को इसी तरह अपनी ओर खींचा था, और उन्हें सदा के लिए अपना बना लिया था।

नहीं तो कहां बापू और कहां उनके साथ की वे दो बहनें? हममें कौन है, जो अपने से छोटे की भावना का इतनी कोमलता और सजगता के साथ ध्यान रखता है? बापू तो हमारे लिए अपनी यह अनमोल विरासत छोड़ गये हैं, पर हम हैं, कि उसे भुलाये बैठे हैं, और उसकी कौड़ी कीमत नहीं कर पाते। उस दिन की घटना ने मेरे दिल पर अमिट प्रभाव डाला। जितना इसपर सोचता हूं, उतना ही बापू की अद्भुत महानता के प्रति नत मस्तक हो जाता हूं।

: २ :

महिलाश्रम का ही एक और प्रसंग है। थोड़ा व्यक्तिगत है, पर अत्यंत पावन और मेरे लिए तो चिरस्मरणीय है। सन् '४० का जमाना था। मुझे महिलाश्रम में काम करते हुए लगभग चार साल हो गये थे। पीर, बबर्ची, भिश्ती, खर की तरह संयोग से उन दिनों आश्रम की छोटी-बड़ी सब जिम्मेदारी मेरे दुर्बल कंधों पर आ गई थीं। मैंने अपनी शक्ति भर उसे निभाने की कोशिश की। मेरे लिए आश्रम की बहनों की सेवा दुःखिनी भारत माता की सेवा ही थी। महिला आश्रम की बहनों में सभी प्रांतों की, सभी वर्गों की सधवा, विधवा, परित्यक्ता और कुमारी बहनें थीं। हिंदू नारी के सारे सुख-दुःख आश्रम के वातावरण में मूर्तिमंत हो गये थे। मुझे यह सेवा बहुत प्रिय थी। मैं इसमें इतना रम गया था कि दिनरात काम करने पर भी न कभी मन थकता था, न शरीर। मैं निश्शंक भाव से अपना कर्तव्य करने में लगा था। किंतु किसीके सब दिन एक सरीखे नहीं जाते। अचानक परिस्थिति बदली। वातावरण में एक क्षोभ पैदा हुआ। मेरा पीर-बबर्ची-भिश्ती-खर वाला रूप ही बाधक बना, और एक दिन मुझे अत्यन्त विकलता के बीच आश्रम की सेवा से मुक्ति लेनी पड़ी। एक स्वप्न भंग-सा हुआ। मेरे दिल को कड़ी चोट पहुंची। सेवा की आसक्ति ने मुझे बहुत विकल बना दिया। वर्धा छोड़ने से पहले मैं बापूजी के दर्शनों के लिए पैदल सेवाग्राम पहुंचा। रास्ते भर न सिर्फ दिल रोता रहा, बल्कि आंखें भी दिल का साथ देती रहीं। मन में एक ही इच्छा थी, बापू के सामने अपना दुःख रख दूं और उनके आशीर्वाद लेकर वर्धा छोड़ूं।

मैं सेवाग्राम पहुंचा। सवेरे का समय था। बापू हवाखोरी के लिए निकलने की तैयारी में थे। मुझे उसी समय उनसे मिलने और चर्चा करने का समय दिया गया था। बापू अपनी कुटिया से निकले। साथ में डा. सुशीला नायर थीं। मैं उनके पीछे हो लिया। बापू ने कहा, "काशिनाथ, सुनाओ क्या मामला है।" मेरा दिल भरा हुआ था। कहानी लँबी थी। बापू के पास समय की तो सदा ही कमी रहती थी। उनसे मिलनेवालों को नपा-तुला ही समय मिलता था। फिर भी उस दिन बापू ने मेरे दुःख को अपना दुःख समझा। जितनी देर टहलते हुए सुनते बना उतनी देर उस तरह मुझे सुना। फिर खुले मैदान में इमारत के लिए लाये गये पत्थरों में से एक पत्थर पर बापू बैठ गये, पास में सुशीला बहन बैठीं, सामने मैं बैठा और मैंने बापू के सम्मुख अपने दिल का सारा दुःख रख दिया। बापू ने बड़ी देर तक अत्यंत शांति और सहानुभूति से मुझे सुना। वह समझ गये, कि मेरा सारा दुःख सेवा की आसक्ति का दुःख है। उन्होंने मुझे गीता के स्थितप्रज्ञ की याद दिलाई, और अपनी आसक्ति के बंधन को अनासक्ति के शस्त्र से काटने की सलाह दी। उन्होंने कहा, "हम यह क्यों समझें कि हम ही सेवा कर सकते हैं, हमारी जगह दूसरा होगा, तो वह वैसी सेवा न कर सकेगा? 'हूं करूं, हूं करूं, एज अज्ञानता, शकट नो भार जेम श्वान ताणे।" बापू ने इस प्रसंग में गाड़ी के नीचे चलनेवाले कुत्ते की बात कही और समझाया कि जैसे गाड़ी के नीचे चलने-भर से कुत्ता

गाड़ी चलानेवाला नहीं हो सकता, वैसे ही किसी संस्था में उसके अंग बनकर काम करने भर से हम उसके चालक नहीं बन जाते । चलानेवाली शक्ति तो कोई और होती है । इसलिए कार्यकर्ता को इस श्वानवृत्ति से ऊपर उठना चाहिए, और अनासक्त होकर काम करने का अभ्यास डालना चाहिए ।

लगभग सत्रह साल पहले का यह पुण्य-स्मरण मेरे लिए तो आज भी ताजा ही है । आज भी वह चित्र मेरी आंखों के सामने है । खुले मैदान में एक पत्थर पर बापू बैठे हैं और मेरी दुःख गाथा सुन रहे हैं । उनका चेहरा गंभीर है । आंखों वात्सल्य झर रहा है, और वह एकाग्र भाव से मुझे सुनते चले जा रहे हैं । मेरे लिए तो बापू की यह छवि अमिट है, और मुझे चिरकाल तक प्रेरणा देनेवाली है ।

: ३ :

'३९ की ही एक और पुण्य-स्मृति है । अक्तूबर का महीना था । २ अक्तूबर के दिन बापू की जयंती थी । बापू की एक साथिन और भक्त स्वर्गीया श्री अवंतिका बाई गोखले ने बापू को मार्मिक व्यथा से भरा एक पत्र लिखा था । पत्र के साथ उन्होंने हर साल की तरह इस साल भी बापू के लिए अपने हाथ के कते सूत की धोतियां भेंट स्वरूप भेजी थीं । अपने पत्र में उन्होंने बापू को अपने अंतर की एक गहरी व्यथा लिखी थी, और विनती की थी कि वह रास्ता सुझावें । बात यह थी कि उन दिनों महाराष्ट्र में पत्रकारों और सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं का एक ऐसा दल खड़ा हो गया था, जिसने बापू को हर तरह बदनाम करने का बीड़ा-सा उठा लिया था । इस दल के लोग अपने पत्रों और भाषणों आदि में बापू की कार्य-पद्धति और रीति-नीति की कड़ी टीका करते थे, और बापू पर ऐसे-ऐसे अनर्गल आरोप लगाते थे कि बापू को बहुत निकट से जाननेवाले उनके साथियों और मित्रों को बड़ी वेदना होती थी । पर वह स्वयं इस विरोधी प्रचार का उत्तर दे सकें, ऐसी स्थिति नहीं थी । साथ ही, इस निराधार, गलत और द्वेषवश किये जाने वाले प्रचार को चुपचाप सहन कर लेना भी उनके लिए संभव न था । वे सब बापू की ओर देखते थे, और आशा रखते थे कि बापू स्वयं इसका कोई उपाय करेंगे । बापू ने अपनी ओर से इस संबंध में संपूर्ण मौन रखा । न किसीसे कुछ कहा, न कहीं लिखा । वह जानते थे कि महाराष्ट्र में जहां एक ओर उनकी कड़ी-से-कड़ी टीका करने वाले और उन्हें जनता के सामने बिल्कुल गलत रूप से पेश करनेवाले लोग थे, वहां उसी महाराष्ट्र में उनके भक्तों, प्रशंसकों और पुजारियों की भी कमी नहीं थी । बापू क्रोध को प्रेम से, असत्य को सत्य से और लोभ को त्याग से जीतने के पक्षपाती थे । वह अपने निंदकों और विरोधियों का भी सदा हित ही चाहते थे, और उनके प्रति मन में किसी प्रकार का द्वेष या तिरस्कार नहीं रखते थे । बापू की अहिंसा ने उन्हें विरोधियों और निंदकों के साथ भी मित्रता और आत्मीयता का व्यवहार करना सिखाया था । बापू को मनुष्य की मूलभूत अच्छाइयों में अटूट श्रद्धा थी । इसलिए वे बुरों की बुराई का निषेध करते हुए भी उनके साथ संपूर्ण आदर, स्नेह और सहृदयता का व्यवहार किया करते थे । इसीमें बापू की अपनी विशिष्टता थी ।

यही कारण है कि जब बापू को स्वर्गीया श्री अवंतिका-बाई गोखले का मार्मिक व्यथा से परिपूर्ण पत्र मिला, तो उन्होंने गिनती के शब्दों में उसका अत्यंत भावपूर्ण उत्तर दिया । संयोग से जिस दिन बापू ने श्री अवंतिका-बाई गोखले को उक्त पत्र लिखा था, उस दिन मैं वर्धा से कार्यवश सेवाग्राम गया हुआ था, और लौटते समय मुझे बापू का वह पत्र, जो एक कार्ड था, वर्धा पहुंचकर डाक में डालने के लिये दिया गया था । उस पत्र की प्रतिलिपि तो इस समय मेरे सामने नहीं है, पर बापू ने अवंतिकाबाई को जो कुछ लिखा था, उसका आशय मेरे ध्यान में आज भी बना हुआ है । पत्र का आशय कुछ इस प्रकार था——

"तुम्हारा पत्र मिला है । महाराष्ट्र के कुछ पत्रों में मेरे विरुद्ध जो प्रचार किया जा रहा है, उससे मैं बेखबर नहीं हूं । मैं जानता हूं कि जहां एक ओर इस प्रकार की मेरी अतिश्योक्तिपूर्ण निन्दा होती है वहां दूसरी ओर मेरी वैसी ही स्तुति करनेवाले लोग भी इस देश में मौजूद हैं । निंदकों की निंदा से मैं रज भर घटता नहीं और प्रशंसकों की प्रशंसा से मैं रज भर बढ़ता नहीं । इसलिये न मैं निंदा से दुःखी होता हूं और न प्रशंसा से फूल उठता हूं । जैसा हूं,

अपने सिरजनहार के सामने वैसा ही बना रहूं, तो बस है। सार्वजनिक सेवक का यही धर्म है। उसे तो निंदा-स्तुति से परे रहकर अपना काम नम्रतापूर्वक करते रहना चाहिए।"

महापुरुषों को जीवन में विषपान के जिन अनेक प्रसंगों का सामना करना पड़ता है, बापू के जीवन का यह एक ऐसा ही विकट प्रसंग था। बापू ने अत्यंत धीर-गंभीर भाव से इसका सामना किया, और एक क्षण के लिये भी मर्यादा का लोप न होने दिया। बापू कहा करते थे कि सार्वजनिक सेवकों के भाग्य में निंदा, स्तुति दोनों के प्रसंग लिखे रहते हैं। जो सार्वजनिक सेवक निंदा से घबरा जाते हैं और स्तुति पाकर फूल उठते हैं, वे अपने सेवा-धर्म का ठीक से पालन नहीं कर सकते। बापू का यह विचार एक सत्य विचार है और सार्वजनिक सेवकों के लिए घोर निराशा की घड़ियों में भी आशा का संचार करनेवाला है।

बापू के पुण्य-स्वरूप की ये तीन झाकियां हम सबको उनके महान् पथ पर चलने की प्रेरणा दें, यही आंतरिक कामना तथा प्रार्थना है।*

---

*आकाशवाणी के सौजन्य से

लघु कथा

कीलित और गतिशील

रावी

दीक्षांत विसर्जन के समय महास्थविर ने भिक्षुओं के उस वर्ग को उपदेश दिया :

"निकटतम गृहस्थ से उसकी सुविधानुसार जो कुछ उपलब्ध हो उसीसे अपनी उदर-पूर्ति करना। भिक्षा के लिए दूराटन लोक-सुविधा के प्रतिकूल एवं अश्रेयस्कर होगा।"

लोक मंगल की साधना के निमित्त सभी भिक्षु व्यवस्थानुसार विरित होकर अलग-अलग पुरियों में बस गये। महास्थविर की प्रेरणा थी, समृद्ध नागरिकों ने यत्र-तत्र उनके निवास के लिए पर्ण-विहार अपने भवनों के समीप बनवा दिये।

लोक-चेतना के उन्नायक ये भिक्षु जन-गृहस्थों के सम्मान्य थे। उनका भोजन सत्कार उनके लिए अति सुगम एवं प्रिय था। दैनिक अन्नदान के बदले भिक्षु से दैनिक उपदेश लाभ उनके लिये चिर-स्वीकार्य था। सभी भिक्षुओं के नाते इस प्रकार अपने समीप के एक या अधिक गृहों से जुड़ गये। महास्थविर का आदेश भी ऐसा ही कुछ था और उसीका उन्होंने पालन किया था।

जिस प्रदेश में यह भिक्षु वर्ग वितरित था उनमें महास्थविर का पदार्पण हुआ। सभी भिक्षु मध्यवर्गी नगर के मठ में उनके दर्शनों के निमित्त एकत्र हुए। केवल एक भिक्षु नहीं आया। सूचना थी कि उसने एक पुरी में अपने निवास के हेतु निर्मित कुटीर में एक रात आग लगा दी थी और दूराटन के लिए निकल गया था।

कुछ भिक्षुओं ने उस अनुपस्थित भिक्षु की भी महास्थविर के सम्मुख चर्चा की। उन्होंने अपने इस वियुक्त बंधु के प्रति दयार्द्र सहानुभूति प्रकट करते हुए बताया कि वह महास्थविर के आदेश का पालन करने में समर्थ नहीं हुआ।

महास्थविर मुस्कराये। बोले :

"मेरे आदेश का पालन उसने भी किया है। सदैव अपने आवास के निकटतम गृहस्थ से ही उसने भिक्षा ली है। अंतर इतना है कि उसका आवास उसके साथ ही निरंतर गतिशील है और तुम्हारी गति तुम्हारे कीलित आवास में बंधगई है।

बापू के संस्मरण

इंदिरा गांधी

यह कहना कठिन है कि मैं गांधीजी के संपर्क में सर्व प्रथम कब आई। बापू मेरी बचपन की प्रथम स्मृतियों में हैं। जब मैं एक छोटी बच्ची ही थी, मैं उन्हें एक महान् नेता की बजाय अपने परिवार के एक बुजुर्ग के रूप में अधिक देखा करती थी और अपनी कठिनाइयां और समस्याएं लेकर उनके पास जाया करती थी। इन कठिनाइयों और समस्याओं पर गंभीरता से विचार किया करते थे, शायद मेरे बड़े नेत्रों तथा गंभीर स्वभाव के कारण। बाद में मैं उनके बहुत-से विचारों का विरोध कर दिया करती थी तथा तरुणों की स्वाभाविक हठधर्मी से लंबी लंबी बहस किया करती थी, जो यह समझते हैं कि उन्हें सब समस्याओं का हल आता है। यह तो अधिक अनुभव और ज्ञान के प्राप्त होने पर और दृष्टिकोण के विस्तृत हो जाने पर ही पता चलता है कि ज्ञान का क्षेत्र कितना असीम और अजेय है और कितने ऐसे शिखर हैं जो हमारी पहुंच तथा समझ से बाहर हैं।

फिर भी जब कभी मैं उनसे इस प्रकार बहस किया करती थी, मैं उनका धीरज, उनकी हर मामले में दिलचस्पी और तह तक पहुँचने की क्षमता तथा पीड़ितों के प्रति उनके दिल में जो वास्तविक दुख होता था, उसे देखकर चकित रह जाती थी।

ज्यों-ज्यों मैं बड़ी होती गई, मैं उन्हें और अच्छी तरह पहचानने लगी और अनुभव करने लगी कि वह इस देश के लोगों के, उनकी विचारधारा तथा महत्त्वाकांक्षाओं के कितने निकट हैं। यह उनकी महानता का एक मुख्य कारण है।

वास्तव में उनके निकट संपर्क में तो मैं उन आखिरी दिनों में ही आ पाई, जब स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद शरणार्थियों से भरी गाड़ियां पाकिस्तान से आने लगीं और उन लोगों ने कतल, बलात्कार और लूट की दर्दनाक घटनाओं का वर्णन किया, जिसके फलस्वरूप दिल्ली और पंजाब में बदला लेने की भावना जाग्रत हो उठी। उस समय दिल्ली में नई-नई ही आई थी और मेरी गोद में एक नन्हा बालक था तथा मैं स्वस्थ भी न थी। परंतु गांधीजी ने मुझे शहर के भयभीत मुसलमानों की बस्तियों में काम करने का आदेश दिया। यह एक खतरनाक कार्य था, एक ऐसा कार्य जिससे लोगों में अप्रिय होने की अधिक संभावना थी। फिर भी ऐसा कहे जाने पर कौन अस्वीकृति प्रकट कर सकता था? "मुझे विश्वास है कि तुम इस कार्य को पूर्ण करोगी। मैंने बहुत से अन्य लोगों से भी कहा है और उन्होंने 'अच्छा बापू' भी कह दिया है परंतु मैं जानता हूं कि उनको इस काम के करने में अभी तक हिचकिचाहट है," बापू ने कहा। कई महीनों तक मैंने प्रतिदिन बारह घंटों से भी ऊपर सबसे अधिक उपद्रवी बस्तियों में गुजारे। जब कभी संभव होता था, मैं बापू को रिपोर्ट देने के लिए जाया करती थी। और उन मुलाकातों से मुझमें नई शक्ति का संचार होता था। परंतु कई बार तो इसके लिए भी समय नहीं मिलता था। ऐसी स्थिति में वह मेरे लिए अपना संदेश अथवा एक फूल भेज दिया करते थे। आखिरकार हर गली और कूचे में पुनः शांति स्थापित हुई और हिंदू-मुसलमान पड़ौसी आपस में मिलने लगे और एक दूसरे के घरों में आने-जाने लगे। मुझमें अत्यंत थकान के कारण कतई जान न रह गई थी। गांधीजी ने यह अनोखे शब्द कहते हुए कि मैं अब समझा हूं कि तुम्हारी विद्या और विदेशों का निवास निरर्थक नहीं रहा, मुझे विश्राम के लिए लखनऊ भिजवा दिया।

गांधीजी राजनीति को सदा ऊंचे स्तर पर ले जाने का प्रयत्न किया करते थे। और हमें यह सिखाया करते थे कि धर्म और राजनीति कोई ऐसे सिद्धांत नहीं जो केवल प्रचार के लिए हों, वे तो अपने दैनिक और सामान्य विचारधारा में समावेश कर प्रयोग में लाने की वस्तुएं हैं।

भारतवर्ष में गांधी जी अब भी एक जीती जागती शक्ति हैं क्योंकि उनका व्यक्तित्व हमारे दिलों में समाया हुआ है और क्योंकि नेहरूजी एक ऐसे रास्ते का अनुसरण कर रहे हैं जो गांधीजी के आदर्शों पर आधारित हैं।

ज्यों-ज्यों नई समस्याएं खड़ी होती जायंगी, हमें इस रास्ते को चौड़ा करना होगा, जिससे उन नई समस्याओं के हल मिल सकें, तथा ऐसा न करना पड़े कि सीमित दायरे में बैठाने के लिए उन समस्याओं को ही तबदील या सीमित कर दिया जाय। मुझे आशा है कि हम इस रास्ते से विचलित नहीं होंगे। कुछ लोगों में अब भी गांधीजी के सिद्धांतों के बाहरी रूप खादी, नशाबंदी आदि पर ही जोर देने की प्रवृत्ति दिखाई दे रही है और वह उस महान् व्यक्ति की मौलिक विचारधारा, सहिष्णुता तथा व्यापक दृष्टि-कोण को नजर अंदाज करते दिखाई देते हैं।

गांधीजी के जीवन-काल में गांधीवाद में वैसी ही गति-शीलता थी जैसी कि सभी बड़े मजहबों की उनके बानियों के जीवन-काल में रही है। यह एक जीती-जागती, पनपती और विकासोन्मुख विचारधारा थी। पहले से निर्धारित कोई मार्ग या नियम नहीं थे और इसीलिए उनके भिन्न भिन्न अर्थ लगाने का कोई प्रश्न नहीं उठता था। हर नीति हालात के मुताबिक अपनाई जाती थी। गांधीजी की विचारधारा धर्म तथा हमारी पुरानी परंपराओं के अनुकूल होती थी पर ऐसा होते हुए भी उनके विचारों तथा कार्यों में तंगदिली नाम को भी नहीं आती थी। वे सभी धर्मों की मूलभूत एकता में विश्वास करते थे और कहा करते थे, मैं नहीं चाहता कि मेरा घर चारों ओर से बंद रहे और उसमें बाहर की हवा न घुसने पावे। मैं तो यह चाहता हूं कि मेरे घर में सभी देशों की सभ्यता का पूर्ण स्वतंत्रता से संचार हो। हां, उनमें से यदि कोई मुझे अपने पथ से विचलित करना चाहते हैं तो इसे मैं स्वीकार नहीं करूंगा। मेरा धर्म जेलखाने-सा सीमित नहीं। इसमें भगवान की सृष्टि के छोटे-से-छोटे प्राणी के लिए भी जगह है, किंतु यह जातिभेद, धर्म-भेद या रंग-भेद के मिथ्याभिमान से रहित है।

गांधीजी से मेरी आखिरी मुलाकात उनकी हत्या से एक दिन पूर्व हुई थी। उस दिन उन्होंने मुझे कहला भेजा था कि वह खाली हैं, और हमसे मिलना चाहते हैं। मैं मोटर में बैठने को थी कि माली ने मेरे बालों के लिए एक चमेली की वेणी मेरे हाथ में दी। वह इतनी ताजा और खुशबूदार थी कि मैंने उसे अपने बालों में लगाने की बजाय गांधीजी के पलंग के पास पड़ी मेज पर रख दिया। जितनी देर हम बातों में संलग्न रहे, मेरा लड़का राजीव, जो उस समय साढ़े तीन साल का था, फूलों से खेलता रहा तथा उनसे गांधीजी को सजाता रहा। कभी तो वह इस वेणी को उनके पांव में खीसका देता था, मानों वह पायल हो और कभी उसे उनके अँगूठे में लटका देता था। बापूजी आराम की एक विशेष प्रसन्नचित्त मुद्रा में थे और हमने बहुत से मामलों पर बातचीत की, जिनमें से एक उस फिल्म के बारे में था जो कि हमने पिछली रात देखी थी और जिसे देखने के लिए उन्होंने अपने आश्रम की बालिकाओं को अनुमति नहीं दी थी। हमें वह फिल्म कुछ अच्छी नहीं लगी। गांधीजी ने हमें बताया कि उन्हें उस व्यक्ति का नाम मालूम होने पर ही जिसने कि उस फिल्म का निर्माण किया था, पता चल गया था कि वह किस किस्म की होगी। उन्होंने उस वक्त बताया कि किस भांति प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्त्व उसके दिन-प्रति-दिन के विचारों और कामों द्वारा अनायास बनता रहता है। और किस भांति इनका उसके कार्य पर असर पड़ता है। वह उस समय मौन में थे और खूब हँसते और मजाक करते रहे। हमें क्या खबर थी कि हम उस दंतरहित व्यापक हास्य का पुनः अवलोकन न कर सकेंगे और न ही हम उनकी शांतिमयी छत्रछाया का पुनः अनुभव कर सकेंगे।

हमें स्वतंत्रता तक पहुंचाने का उनका कार्य समाप्त हो चुका था। वे ऐसे अचानक हमसे विदा हुए कि हमने अपने आपको घने जंगल में फंसे बच्चों की तरह अकेला और आश्रयरहित पाया। परंतु उनकी आत्मा हमारे साथ थी और एक परंपरा, जिसमें विश्वास, साहस और कर्तव्य पालन तथा भारतवर्ष की जनता की सेवा करने का वह दृढ़ निश्चय था, जो बापू को इतना प्रिय था।

बापू के आशीर्वाद

रामनारायण उपाध्याय

जिन्होंने भी बापू को स्नेह से पत्र लिखा, बापू के आशीर्वाद सदा उनके साथ रहे । आज भी उनके पत्रों में, "महात्मा या महापुरुष" से भिन्न एक मनुष्य के, मनुष्य के प्रति प्यार के दर्शन किये जा सकते हैं।

जिन्होंने अपने जीवन में अनेक समस्याओं को सुलझाया उन्हींके सामने जब कोई दुविधा आई तो उन्होंने उसे पैसे को चितपट करने के रूप में, ईश्वर के हाथों सौंप कर सुलझाया है । यह उनकी अडिग ईश्वर-भक्ति का प्रतीक है।

यही बात एक बार आपने श्री जमनालालजी बजाज से भी कही थी। कहा था—

"यह करना या यह न करना इस बारे में मन शंकित हो तो "ढ़क नाखवो" पैसा चितपट डालना या किसी छोटे बालक की तरफ से ईश्वर को याद कर चिट्ठी निकालना। श्रद्धा रखकर इस मुताबिक काम करना।"

जिस विषय में उनका प्रवेश नहीं होता था वहां वह वैसा जाहिर करने में भी हिचकते नहीं थे।

एक बार जब श्रीमन्नारायणजी अग्रवाल ने अपने "नये युग का राग" नामक कविता-संग्रह पर आपकी सम्मति चाही तो आपने लिखा था—"कविताएं मुझे अच्छी लगी हैं। हेतु स्पष्ट और निर्मल है। काव्य की दृष्टि से मैं कुछ भी अभिप्राय देने योग्य अपनेको नहीं मानता हूं। तुम्हारी कृति को प्रकट करने के बारे में तो कवि लोग ही अभिप्राय दे सकते हैं।"

अपने कार्य-व्यस्त जीवन के बावजूद भी वह दूसरों के स्वास्थ्य की बराबर खबरदारी रखने के और साथ ही किसीके अस्वस्थ होने पर वह मीठी चुटकी लेने से भी नहीं चूकते थे।

एक बार श्रीमन्नजी को लिखा—

"कल ही सुना कि तुमको चार दिन से अविच्छिन्न बुखार आ रहा है। क्या शादी की इसलिए ?

लेकिन अपनी अस्वस्थता की बात को वह उतनी ही सरलता से मजाक में उड़ा जाते थे।

एक बार एक पत्र के जवाब म अपने स्वास्थ्य के बारे में लिखा था—

"मेरी सर्दी की बात निकम्मी समझो। थोड़ी भी। लेकिन मैं "महात्मा" हूं न ?"

ओम (श्री जमनालालजीकी तीसरी पुत्री) से आपका अत्यंत ही मीठा मजाक चलता था। उसे आप "सोती सुंदरी" कहा करते थे। जिनके पत्र पाने के लिए सारा जगत उत्सुक रहता था, वही अपने से छोटों का पत्र पाने के लिए किस तरह मधुर उलाहना दिया करते थे। इसका आनंद भी लीजिए।

अपने एक पत्र में ओम को आपने लिखा था—

चि. ओम उर्फ़ सोती सुंदरी

"खत लिखकर बड़ी मेहरबानी की। मेरे नाम से भी नन्दादेवी को प्रणाम करना! अब तो तू पहाडों में रहने वाली बनी। हम लोगों की याद करती है यह कुछ छोटी बात नहीं है। तुम सब खुश रहो।

बापू के आशीर्वाद

दूसरे पत्र में लिखा है :—

"चाहे जैसे अक्षर बनाकर केवल वचन का पालन करने के खातिर बेगार टालने को तुम पत्र लिखो तो मुझे तुम्हारे पत्र नहीं चाहिए। मैंने क्या यह नहीं सिखाया कि जो करो वह ठीक से करो और सुंदरता से करो।

पत्रों में भी वह लिखावट का, छोटी-से-छोटी, बातों का कितना बारीकी से खयाल रखते थे, इसका उदाहरण, श्री कमलनयनजी को लिखे एक पत्र में देखिए। लिखा है—

चि. कमलनयन,

तेरे अक्षर सुंदर तो लगते हैं। लेकिन स्पष्ट नहीं हैं। "द" और "ह" एक-जैसे होते हैं। "अच्छा" में "अ" अधूरा है और "च्छा" में "च" अलग लगाया है। "छा" "ध्य" पढ़ा जाता है।

बड़ी-से-बड़ी राजनैतिक समस्याओं के बीच भी आदमी के दुःख-दर्द की बात को वह भूल नहीं पाते थे। यही उनकी

सबसे बड़ी महानता थी।

देखिए ओम को अपने एक पत्र में आपने लिखा था—

चि. ओम,

"यह खाते-खाते लिख रहा हूं, इस कारण पेंसिल से। खाते-खाते लिखना कुटेव है। पेंसिल से लिखना भी कुटेव है। इसकी नकल मत करना। अभी भी तेरा कान दुखता लगता है। तुम्हें बंबई जाना चाहिए।"

—बापू के आशीर्वाद

अपने से छोटों की ऐसी खोज-खबर लेनेवाला ऐसा मसीहा अब धरती पर कहां मिलेगा।

मंजिल पर मंजिल पार किये जाता हूं

सुधेश

बंधन पर बंधन बांध रहे मुझको,
मंजिल पर मंजिल पार किये जाता हूं।

यह जर्जर तन तो बंदी है
दुनिया के बंदीखाने में,
उन्मुक्त सदा मन तो उड़ता
नभ से ऊपर अनजाने में;

अधरों पर कंपन भरी तिमिर की रेखा,
हँस हँसकर विष की धार पिये जाता हूँ।

शत शत बंधन, उलझन आयें
निज फंदे में उलझाने को,
झपटे आंधी शत ज्वालाएं
मन की कलिका मुरझाने को;

कंपित कर में विश्वास-ज्योति लेकर,
यह तम का सागर पार किये जाता हूं।

झाड़ी झंकाड़ न आते हैं—
जिस पथ में, वह आसान नहीं,
जिसकी रज नव जीवन देती
वह पुण्य भूमि, शमशान नहीं;

इसलिए तप्त मन की ज्वाला लेकर,
जन-मंगल-हित तन क्षार किये जाता हूं।

जीवन में चाह घनी है—
मुझको न लक्ष्य पाने की,
बस, यही सर्वदा आगे
हो राह बढ़े जाने की;

स्वच्छंद-मुक्त वाणी औ' गति मेरी,
अंतर में अमित दुलार लिये जाता हूं।

गांधीजी और राजनीति

लक्ष्मीचंद जैन

मानव की सभ्यता के विकास का इतिहास जितना मनोरम है उतना ही मनोग्राही राजनीति के क्रमिक विकास का इतिहास है । अथवा यों कहें—मानव की सभ्यता और संस्कृति के विकास का इतिहास, राजनीति का ही इतिहास है; क्योंकि आखिर राजनीति का उद्भव और प्रयोजन किसलिए ? मानव के विकास के लिए ही तो है । ज्यों-ज्यों मानवी सभ्यता का उत्थान हुआ है, त्यों-त्यों राजनीति-विषयक मान्यताएं भी बदली हैं, विकसित हुई हैं । इसलिए मानव के विकास का एक उपकरण मात्र राजनीति है । राजनीति स्वयं में कोई ध्येयनिष्ठ कार्यक्रम नहीं है । राजनीति का विचार सापेक्ष विचार है । यह राजनीति शब्द ही सापेक्ष है ।

मानव में व्यवस्था-शक्ति का गुण प्रकृतिदत्त है । यही व्यवस्था-शक्ति राज-व्यवस्था के रूप में विकसित हुई । समाज में न्याय की स्थापना हो, इसके लिए कुछ विशिष्ट गुण और योग्यता-संपन्न लोगों ने एक व्यवस्था बनाई और उसमें सर्वोच्च गुण, क्षमता, पौरुष, साहस-संपन्न लोगों ने अपनेको शीर्ष स्थान पर रखा । समाज में अमनो-अमान रहे, न्याय की स्थापना हो और इंतजाम रहे, इसके लिए राजशक्ति के साथ दण्ड-शक्ति जुड़ गई । लेकिन इस राजनीति और दंड-नीति को जनता में सहयोग, सहानुभूति और संबल का समर्थन नहीं था । परिणामस्वरूप राज-संस्था और समाज-व्यवस्था दोनों अलग-अलग कार्य-क्षेत्र बन गये । आज भी इस विचार का अस्तित्व है । कुछ सेवा-परायण लोग समाज में काम तो करते हैं, पर राज्य के मामले में अपनेको तटस्थ रखते हैं । "कोउ नृप होय हमें का हानि" का विचार उनके मन में रहता आया है । इसका नतीजा यह हुआ कि राजसत्ता सेवा-परायण होने के बजाय सत्ता-परायण बनती गई । उद्दंडता, उग्रता, उच्छृंखलता का उदय उसमें से होने लगा । इस तरह लोक-कल्याण के लिए स्थापित की गई राज्य-व्यवस्था और दंड-व्यवस्था लोगों के लिए दुःख, दमन और दारिद्र्य का कारण बनती गई । और तब इस विचार का उयद हुआ कि राजसत्ता की इस निरंकुशता पर थोड़ा बंधन या अंकुश रहना चाहिए । और राज्यसत्ता में थोड़ी सात्विकता, सौम्यता और पावनता आनी चाहिए । और इस दिशा में कई राज-पुरुषों और महापुरुषों ने अनेक प्रयोग किये । महात्मा बुद्ध, मुहम्मद पैगम्बर, अशोक, नानक, समर्थ रामदास आदि कुछ नाम गिनाये जा सकते हैं । इस प्रकार राजनीति के साथ धर्मनीति जोड़ने की कोशिश हुई ।

उन दिनों राज्यसत्ता का अधिष्ठान लोकशक्ति या लोकमत नहीं था । हिंसा या दंड-शक्ति पर ही उसकी बुनियाद थी । इसलिए एक राजसत्ता को हटाकर दूसरी की स्थापना के लिए भी हिंसा और जबर्दस्ती का आश्रय लिया जाता रहा । लेकिन इस प्रक्रिया में आदमी बुरी तरह उलझता गया । झुलसता गया । इसके परिणाम-स्वरूप मानव में यह निष्ठा जगी कि राज्यसत्ता-परिवर्तन के लिए हिंसा का आश्रय न लिया जाय । परंतु बगैर हिंसा के राज्य-व्यवस्था कैसे स्थापित हो ? कैसे चले ? तब इस परिस्थिति में से जनतंत्र का विचार निकला ।

गांधीजी ने राजनीति को जो देन दी है, वह यह है कि राजनीति को धर्मनीति के साथ जोड़ने के जितने प्रयोग हुए, उनके प्रकाश में उन्होंने एक नया मोड़ राजनीति को दिया । वह यह कि इस धर्म-नीति को भी जनता का समर्थन और क्रियात्मक समर्थन मिलना चाहिए । असहयोग आन्दोलन और सत्याग्रह आदि उसीके द्योतक हैं । जनता के निषेधात्मक समर्थन के द्वारा राज्यसत्ता पदच्युत की जा सकती है और विधायक समर्थन के द्वारा राज्य-संस्था को धर्मनीति से अभिमंत्रित किया जा सकता है । इसलिए गांधीजी ने अपनी शक्ति जितनी राज्य-संस्था के लिए एकाग्र की, उतनी ही रचनात्मक कार्य के लिए भी की । इस तरह वह जनता का निषेधात्मक पुरुषार्थ और विधायक पुरुषार्थ जगाते रहे ।

गांधीजी-जैसे महापुरुषों की सतत साधना से, राजनीति को एक नया रूप मिला । तलवार के जरिये राज्य

प्राप्त करने का विचार अब जमाने की रफ्तार से बहुत पिछड़ गया है। बल्कि सेवा के द्वारा राज्यसत्ता प्राप्त करने का विचार अब स्थापित हुआ है । राज्य-सत्ता के द्वारा सेवा हो, इस विचार में, और सेवा के द्वारा राज्यसत्ता प्राप्त हो, इस विचार में एक सूक्ष्म पर मौलिक भेद है। राज्यसत्ता सेवा का माध्यम बने, इसमें एक विप्लववादी विचार है; क्योंकि इसमें राज्यसत्ता प्राप्त करने के लिए सेवा का आग्रह नहीं है । पहले राज्यसत्ता प्राप्त करेंगे, फिर सेवा करेंगे, इस तरह राज्य प्राप्त करना, यह प्रधान ध्येय बन जाता है और सेवा का ध्येय गौण हो जाता है। ऐसा प्रयोग रूस और चीन आदि देशों में हुआ । भारत में आज भी ऐसे लोग हैं जो पहले राजसत्ता हाथ में लेने का आग्रह रखते हैं । हालांकि उसके मूल में सेवा का सद् हेतु है। परंतु सेवा के द्वारा राज्य-प्राप्ति के विचार में— मुख्य आग्रह सेवा का है । हम सेवा अनन्य भाव से करते रहेंगे, स्वाभाविक रूप से राज्यसत्ता आती है, तो उसे भी लेंगे । परंतु गांधीजी ने इस विचार को और आगे बढ़ाया । सेवा के द्वारा राज्य-सत्ता की आवश्यकता की परिसमाप्ति होनी चाहिए, जिसे वे 'रामराज्य' कहते कभी थकते नहीं थे ।

इस तरह हम देखेंगे कि गांधीजी ने राज्य-सत्ता को सेवा-परायण बनाने की कोशिश की और राजनीति को धर्म-नीति देने की काशिश की। इसमें शक नहीं कि गांधीजी के पूर्व भी इस प्रकार के प्रयास हुए। हमें यह आशा करनी चाहिए कि उनकी यह कोशिश उनके साथियों और अनुयायियों द्वारा जारी रहेगी। इस दिशा में संत विनोबा का ग्रामदान व ग्रामराज्य-आंदोलन अभिनंदनीय प्रयास कर रहा है।

नागरी भी प्रेम-तंतु है !

सारे राष्ट्र के लिए जैसे हिंदी भाषा प्रेमतंतु है, वैसे नागरी लिपि भी । अपनी-अपनी भाषाएं अपनी-अपनी लिपि में लोग लिखते हैं । वे लिपियां अच्छी और सुंदर भी हैं। लेकिन साथ-ही-साथ, ऐच्छिक रूप से, नागरी में भी वे भाषाएं यदि लिखी जायं, तो वे एक-दूसरे के लिए बड़ी सुलभ होंगी। भारत के लिए नागरी लिपि ही ऐसी समान लिपि हो सकती है, रोमन नहीं, क्योंकि थोड़े से फर्क से यह नागरी नेपाली, हिंदी, गुजराती, मराठी, पंजाबी आदि में लिखी जाती है। संस्कृत का कुल आध्यात्मिक साहित्य भी इसमें है । जैन, बौद्ध धर्म के काफी ग्रंथ भी इसी में हैं। दूसरी लिपियों के साथ भी इसका गहरा संबंध है । मलयालम में जिस तरीके से 'प' बनाते हैं, वही तरीका नागरी में भी है । वर्णमाला भी समान है। दक्षिण की भाषाओं के लिए आवश्यक ह्रस्व 'ए' भी नागरी में है । जैसे तुलसी रामायण में है। इस तरह अन्य लिपियों के साथ नागरी लिपि का गहरा संबंध है ।

इस तरह स्नेह-बंधन हमें बढ़ाते रहने चाहिए और जाति-धर्म और पक्ष के रूप में जो टुकड़े हो रहे हैं, वे जोड़ कर भारत को एकरस बनाना चाहिए । भाषा-लिपि आदि सांस्कृतिक स्नेह-बंधन हैं, तो आर्थिक क्षेत्र के लिए भूदान-संपत्तिदान आदि स्नेह-बंधन के ही साधन हैं।

—विनोबा

बापू की स्मृति

सी०

सेवाग्राम, १९४४–बापू का मौन दिवस। शाम को बापू ने एक महिला और एक पुरुष कार्यकर्त्ता को बातें करने का समय दिया था। शायद बातें निर्विघ्नपूर्ण करने के लिए ही उस दिन उन्होंने आश्रम के पीछे की पगडंडियों पर घूमना पसंद किया। दोनों बातें करनेवाले और एक-दो स्त्री-पुरुष साथ थे।

बापू ने महिला के कंधे पर हाथ रखा और बातें सुनते चलने लगे। एक जगह पगडंडी बहुत संकरी थी। दोनों ओर कांटेदार झाड़ियां थीं। बातें करनेवाली महिला अत्यंत निष्ठावान। फिर दक्षिण भारतीय, इसलिए पैरों में चप्पल न पहनना अधिक सुविधाजनक। बापू पगडंडी के बीच से चल रहे थे। महिला ने उन्हें कष्ट देना नहीं चाहा। वह स्वयं नंगे पैरों काटों पर चलने लगीं। परंतु कांटे तो दया करनेवाले नहीं थे। दो-चार कदम ही चली होंगी कि पैरों में इतने कांटे छिद गये कि बिना लंगड़ाये चलना असंभव हो गया। बापू का ध्यान उधर गया। वह चुपचाप कांटों पर सरक गये और उन्होंने महिला को पगडंडी पर ले लिया।

साथ की एक महिला ने कहा, "बापू, आप कांटों पर चल रहे हैं।" बापू ने चुपचाप अपनी लाठी बनी हुई महिला के पैरों की ओर अंगली का इशारा कर दिया। फिर अपने परों की ओर अंगुली दिखाई। अर्थ यह था कि वह चप्पल नहीं पहने हैं, पैरों में कांटे लगते हैं; मैं तो चप्पल पहने हूं। और घूमना जारी रहा। बापू ने मौन रहकर सारी बातें सुनीं और कितना कह डाला।

× × ×

सन् १९४४ के अन्त की बात है। बापू कुछ अस्वस्थ थे। इसलिए आराम के इरादे से वर्धा आकर श्रीमन्नारायण-जी के घर में ठहरे थे। नियमानुसार रोज सुबह-शाम वहीं प्रार्थना होती थी। ठंड के दिन होते हुए भी सुबह की प्रार्थना में लगभग साढ़े चार बजे—सौ पचास लोग एकत्र हो ही जाते थे। पास के महिला आश्रम की छात्राएं और शिक्षक-शिक्षिकाएं तो होती ही थीं।

एक दिन ५-६ मील दूर विनोबाजी के पौनार आश्रम से श्री वल्लभस्वामी के आने की प्रतीक्षा थी। प्रार्थना ठीक साढ़े चार बजे शुरू होती थी। केवल दो-तीन मिनट शेष रह गये। बापू प्रार्थना-स्थान पर कब के बैठ चुके थे। परंतु वह वल्लभस्वामी के लिए ठहरे हुए थे। किसीने कहा, "अब वह आते नहीं दीखते, प्रार्थना शुरू क्यों न कर दें।"

बापू ने कहा, "नहीं, उसने आने का वादा किया है। आज वही गीता पाठ करनेवाला है। अभी दो-तीन मिनट बाकी है। वह जरूर आयेगा। उसकी प्रतीक्षा करनी ही चाहिए।"

समय और बीता। कोई आधा मिनट ही शेष रहा। परंतु बापू ने अबतक प्रार्थना शुरू करने की आज्ञा नहीं दी। इसी समय किसीने कहा, "वह आ गये वल्लभ-स्वामी।" जब वह प्रार्थना स्थल पर पहुंचे तब मुश्किल से चंद सेकंड बचे होंगे।

बापू ने कहा, "मैंने कहा था न कि वह जरूर आयेगा? जल्दी आने की क्या जरूरत थी।" और अब तुरंत प्रार्थना शुरू हो गई।

× × ×

उन्हीं दिनों की बात है। बापू सूर्योदय होते-होते घूमने निकल जाते थे। अक्सर महिला-आश्रम के मैदान को पार करके सेवाग्राम की दिशा में जाया करते थे। मैदान में बड़ी-बड़ी घास थी। वहां पशुओं को चराना मना था, क्योंकि पशुओं के चरने से बालिकाओं को बहुत कठिनाई होती थी। कभी-कभी उनके काम में बाधा भी आती थी। अपने काम की जगह की सफाई तो बालिकाएं और कार्यकर्त्ता स्वयं कर लेते थे, किंतु उतने बड़े सारे मैदान की घास निकाल देना उनके वश का काम नहीं था। उस वर्ष घास निकालने वाले भी समय पर नहीं मिले थे। और कौन जानता था कि बापू आयेंगे और इसी घास पर घूमने जाया करेंगे।

उस अहाते में सांपों की कोई कमी नहीं थी। और एक जाति के भयानक सांप वहां बहुत पाये जाते थे। कहते ह कि वह बहुत जोर से चिटकता है और पूंछ मार कर भी

अपने क्रोधभाजन को घायल कर देता है। अतएव स्थिति बड़े धोखे की थी। बापू उस घास को पार करके निकलते तो कार्यकर्त्ताओं का मन बहुत डरा करता था।

एक दिन पास से ही निकलनेवाली रेलगाड़ी के इंजन ने यह सारा भय मिटा दिया। उससे कुछ चिनगारियां निकलकर घास पर जा पड़ीं, और सारे मैदान की घास देखते-देखते भस्म होगई। आश्रम के आस-पास का वह लंबा-चौड़ा मैदान घास के जलने से एक विशाल काले तख्ते जैसा दीखने लगा।

दूसरे दिन सुबह जब बापू घूमने निकले तो लहलहाती हुई घास की जगह काली घास देखकर मानो सहम गये। विकल-से हो उठे। पूछा भी नहीं कि हुआ क्या, बोले, "कितने पशुओं का चारा बरबाद हो गया! कितने जीव जलकर मर गये होंगे!"

महिला-आश्रम के मंत्री साथ थे। उन्होंने आग लगाने का अपराध जब रेल के इंजन पर मढ़ा तो बापू ने कहा, "इंजन तो जड़ है, मगर मनुष्य तो नहीं। उसे तो सदा जागरूक रहना चाहिए। मैं तो इसे बचाने की हर कोशिश करता। फिर, महिला-आश्रम में तो आग से रक्षा की शिक्षा विशेष रूप से मिलनी चाहिए। देखो न, कितनी स्त्रियां हमारे देश में कपड़ों में आग लग जाने से मरती हैं। और जब अपने घर में आग लग जाती है तो सिवा हाय-हाय करने के उनसे कुछ नहीं बन पड़ता। और अक्सर तो घरों में लगी हुई आग तभी ज्यादा बढ़ती है, जब पुरुष घर में नहीं होते। मेरा यह मतलब नहीं कि पुरुष सब कुछ जानते हैं और सिर्फ स्त्रियां ही अज्ञान में डूबी हुई हैं। मगर शारीरिक बल और समाज में मिलने-जुलने की स्वतंत्रता के कारण उनकी स्थिति कुछ दूसरी होती है। इसलिए कुछ उपाय करते हैं। स्त्रियों को छोटी उम्र में सब कुछ सीखने का बड़ा शौक होता है। उनके इस शौक को जहां मौका मिले, बढ़ाना चाहिए।"

उस दिन और उसके बाद दो-तीन दिनों तक महिला आश्रम में आग बुझाने और आग से रक्षा के उपायों की ही शिक्षा दी जाती रही। बाद में यह शिक्षा थोड़ी बहुत हद तक नियमित हो गई—इसकी मर्यादाएं जो थीं।

एक दिन श्रीमन्‌जी ने महिला-आश्रम के मंत्री से कहा कि बापू के लिए कुछ मनोरंजन का आयोजन करना जरूरी है। यदि बालिकाएं कोई छोटा-सा नाटक दिखा सकें तो अच्छा हो। मंत्री ने बताया कि कुछ समय पूर्व बालिकाओं ने 'रक्षाबंधन' नामक नाटक खेला था। वह अभी उन्हें याद है। यदि आपको वह पसंद हो तो तुरंत उसे खेला जा सकता है। नाटक के बारे में संकोच यह था कि उसमें प्रमुख पात्र महात्मा गांधी ही थे और वह उनकी प्रशंसा भी थी। अतः उसे बापू के सामने कैसे दिखाया जाय? परंतु श्रीमन्‌जी ने उसे पसंद किया। और लोगों से भी बढ़ावा मिला। बालिकाओं का उत्साह था ही। दूसरे ही दिन उसे बापू के सामने खेलने का निश्चय हो गया।

उस दिन को कौन देखनेवाला भूल सकता है? रात के समय कोई साढ़े आठ बजे—बापू श्रीमन्‌जी के घर से खेतों की मेंड़ों के रास्ते महिलाश्रम की ओर चले। मंत्री एक कण्डील लिये सामने-सामने चल रहे थे। बापू के पैरों के पास प्रकाश रखने के खयाल से वह संभाल-संभालकर चलते थे। किंतु बापू को यह मंद गति पसंद कैसे आती? बोले, "तुम मुझे उजाला दिखाने की फिक्र मत करो, जल्दी-जल्दी चलो।" और उस अंधेरे में, जो जगह सांपों के लिए खास तौर से मशहूर थी, और पगडंडी दोनों ओर से झाड़ी-झंखाड़ से रुंधी हुई थी, उसे अपनी साधारण तीव्रता से पार करके वह आश्रम में पहुंच गये। जो स्वयं प्रकाशित है, वह कंडील के प्रकाश की परवाह क्यों करे?

नाटक का आयोजन विद्यालय के सभा-भवन में किया गया था। वहां सबसे अच्छा स्थान चुनकर बापू के लिए एक तख्त पर गादी-तकिया लगा दी गई थी। बापू अपनी लाठी अपने पास रखकर आराम से बैठ गये।

नाटक लगभग चालीस मिनट का था। बालिकाओं ने अपने अभिनय में कोई कसर नहीं रहने दी। सारे दर्शक मंत्रमुग्ध से उसे देखते रहे। निश्चय ही बापू ने भी बालिकाओं के अभिनय में खूब रस लिया।

अब वह प्रसंग आया जबकि 'महात्मा मोहनदास करम-

चंद गांधी' को रंगभूमि पर उपस्थित होना था। बापू अपनी जगह पर अपनी लाठी संभालकर उठने लगे। पास ही बैठे हुए मंत्री ने पूछा, "बापू, आप उठ रहे हैं।" इतने ही में रंगमंच पर नाटक के महात्मा गांधी आ गये। बापू ठहाका मारकर हँस पड़े और फिर से अपनी जगह पर बैठते हुए बोले, "मैं समझा था कि मुझे स्टेज पर जाना होगा। मगर अब तो तुम्हें दूसरा बापू मिल गया है। अब मेरी जरूरत नहीं रही।"

बापू के शब्द कितने ही कम लोगों ने सुने हों, परंतु उनकी हँसी सारी नाट्यशाला में गूंज उठी थी और शायद दर्शकों में एक व्यक्ति भी ऐसा न रहा हो, जिसने उसमें हृदय से योग न दिया हो।

दूसरे-तीसरे दिन बापू सेवाग्राम लौट गये। एक-आध दिन बाद जब रविवार को आश्रम के मंत्री और आचार्य उनसे मिलने के लिए गये, तो घूमने के सारे समय बापू ने उस नाटक की ही बात की।

बापू ने कहा कि नाटक में र्चाचल और रूजवेल्ट से इंद्र के साथ हाथ मिलवाये गये, यह उचित नहीं था। मंत्री ने कहा, "बापू, लेखक ने इन दोनों के स्वभाव दर्शन के लिए यही उचित समझा।" बापू ने बात तो आगे नहीं बढ़ाई, परंतु वह संतुष्ट हुए, ऐसा नहीं जान पड़ा।

दूसरी बात उन्होंने कही कि यमराज की काली पोशाक देखकर मुझे बचपन में देखे हुए पारसी नाटक-कंपनी के इंद्रसभा-नाटक की याद आती है। मगर उसमें तो लाल-देव-कालेदेव थे। इस नाटक में वे नहीं थे। इसलिए कुछ सूना-सूना लगता था। मंत्री ने उत्तर दिया, "यह इंद्र-सभा नाटक तो नहीं था। इंद्रसभा में रक्षाबंधन का रूपक तैयार किया गया था।"

"मगर रंगमंच पर तो इंद्रसभा का साइनबोर्ड लगा था।"

"हां, शायद बालिकाओं ने समझा होगा कि बिना इसके लोगों को यह कल्पना न होगी कि यह दृश्य इंद्रसभा का है।"

इसपर बापू खिलखिला कर हँस पड़े। बाद में उन्होंने अनेक नाटकों की, खास तौर से शेक्सपियर के नाटकों की चर्चा की। आसपास साहित्य तथा कला का वातावरण बंध गया।

उन्होंने पूछा कि नाटक लिखा किसने है? आचार्य ने मंत्री की ओर इशारा कर दिया। बापू एक बार फिर जोरों से हँसकर बोले, "अरे! तब तो मैं लेखक के सामने ही उसकी आलोचना कर रहा हूं।" और अब प्रशंसा की बारी आई। बापू ने कहा, "मुझे कुल मिलाकर बहुत अच्छा लगा।" उन्होंने पात्रों की पोशाक, पर्दों तथा अन्य सामग्री की भी विस्तार के साथ चर्चा की।

मंत्री ने उत्साह में आकर बताया कि पत्रों में उसका समाचार खूब जोर-शोर के साथ छपा है। बंबई के 'फ्री प्रेस जर्नल' ने तो चार कालम का शीर्षक दिया है— "दि रिहर्सल दैट र्चाचल मिस्ड"। इसपर बापू खुश नहीं हुए। उन्होंने कहा, "पत्रों की प्रशंसा से खुश होने का कुछ नहीं। उससे अछूते रहने में ही भलाई है।" और एक बार फिर हँसकर उन्होंने कहा, "फिर, अगर पत्रों में छपा तो इसमें तुम्हारा पराक्रम क्या। उन्होंने तो इसलिए छापा कि मैं उसे देखने गया था। वह मेरा पराक्रम हुआ न?"

—मंगल प्रभात से

प्रगति कहां?

मानव-समाज प्रगति-पथ पर बढ़ा चला जा रहा है।
देश-काल की दूरी दिन-ब-दिन दूर होती चली जा रही है।
एक मानव के नाते यह देखकर मैं गर्व-गौरव से फूल-फूलकर गड़-गज हो उठता हूं।
पर क्षण भर को ही।

क्षण बीतते-बीतते अंतस, कुछ कचोटता-सा और लज्जित-कुंठित हुआ, संकोच में डूबा-सा मैं सोचता रह जाता हूं—
लेकिन दिलों की दूरी?
वह तो शायद बढ़ती ही जा रही है।
जब दिल दूर, तो प्रगति कहां?

हरिकृष्णदास 'हरि'

बापू और चर्खा

गौरीशंकर गुप्त

बापू के जीवन-काल में जब पहली बार गांधी-जयंती मनाने का कार्यक्रम रखा गया तो आशीर्वाद के लिए कुछ लिखने को उनसे कहा गया। बापू ने कहा, "गांधी-जयंती कोई चीज नहीं है। यदि मेरी जयंती मनानी ही है तो वह चरखा-जयंती के नाम से मनानी चाहिए; क्योंकि मैंने चरखे में जो शक्ति देखी है, वह देश की किसी दूसरी चीज में नहीं मिली। सन् १९०८ में चरखे की क्रांतिकारी दृष्टि लोगों के सामने पहली बार रखते हुए उन्होंने कहा था, "जिस खादी ने हिंदुस्तान की आजादी गंवाई, उसी खादी से आजादी वापस आने वाली है।" इसलिए, चरखा केवल बुढ़िया के राहत की सामग्री नहीं है, बल्कि उसमें तो देश के पुनर्जीवन की संजीवनी है।"

बापू नित्य अपराह्न साढ़े चार बजे के लगभग तन्मय होकर चरखा चलाते थे। भारत-धरित्री की कोटि-कोटि संतानों को आच्छादन से परिपूर्ण कर अन्नपूर्णा का प्रतिनिधित्व करनेवाला भी यही यंत्र है। बापू ने मूर्च्छित चेतन को पूर्ण चेतन बनाने योग्य शक्ति भरने वाले एक इसी यंत्र पर अपनी व्यापक और निगूढ़ दृष्टि दौड़ाई थी। यह वही यंत्र है जिसकी शक्ति अंतर्मुखी होने के कारण बाहर से लघु और मात्र 'बेवा' औरतों के कालयापन के साधन-रूप में भासित होती है। सच तो यह है कि शताब्दी पूर्व इस देश में इसकी महत्ता के विषय में इसी प्रकार के भ्रम का प्रचार था। ऐसी स्थिति में यदि बापू विरोधी विचारधारा के लोग इसे हास्यास्पद समझें तो कोई आश्चर्य नहीं।

एक बार कांग्रेस के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र देकर स्वगठित अग्रगामी दल के कार्य-विस्तार के प्रसंग में परम आराध्य नेताजी काशी आये थे। अपने ओजस्वी भाषण के दरम्यान उन्होंने बापू के द्वारा संचालित 'एकमात्र गृह उद्योग—चरखा'-आंदोलन पर व्यंग्य किया था। क्या वह व्यंग्य उस यंत्र के चक्र-परिचालन के सम्मुख तिरोहित नहीं हो गया! जिस लघु परिधि में यह यंत्र इस विशाल भू-भाग में चालित है, उसपर दृष्टि डालने से तो इसकी व्यापक महत्ता ही भासित हो उठती है। आवश्यकता है—सर्वोदय-कार्यक्रम के अंतर्गत इस तिरोहित आंदोलन को गतिमान बनाने की। चरखा-उद्योग के लिए सरकार के द्वारा यदि आर्थिक संतुलन ठीक कर दिया जाय, तो फिर इस यंत्र की प्रचंड शक्ति निखर उठेगी और तब एक बार फिर बापू की अमर आत्मा संतोष की सांस ले सकेगी।

जिस प्रकार बापू को चरखा बहुत प्रिय था, उसी प्रकार उन्हें 'सर्वोदय' शब्द भी प्रिय था। उन्होंने रस्किन के 'अन टु दिस लास्ट' के 'अंत्योदय' का अनुवाद 'सर्वोदय' रखा था। महात्मा बुद्ध की 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' की कल्पना से एक कदम आगे की बात थी। बुद्ध ने इस सूत्र का अपने जीवन और साथियों पर प्रयोग किया। उनकी अहिंसा व्यक्ति तक सीमित थी; लेकिन बापू ने उसका प्रयोग सामूहिक जीवन में ही नहीं, राष्ट्र के जीवन में किया। सर्वोदय—जिसमें सबका उदय हो, जो हम अपने लिए चाहते हैं, वह अपने पड़ोसियों के लिए भी चाहें, जो भावना हम अपने घर के लिए रखते हैं, परिवार के लिए रखते हैं, वह भावना गांव के लिए, आगे चलकर देश के लिए और विश्व के लिए फैलनेवाली है—यह मर्म सर्वोदय में छिपा है।

चरखा साधन है, और सर्वोदय साध्य। चरखा आचार है और सर्वोदय विचार। चरखे द्वारा सर्वोदय की कल्पना पर थोड़ा विस्तार से विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि बापू चरखे को सूर्य क्यों कहा करते थे और बाकी रचनात्मक कार्य सूर्य के चारों ओर घूमनेवाले ग्रह के समान क्यों बताते थे। चरखे को सत्य और अहिंसा का प्रतीक भी वह कहा करते थे। शासन और शोषणहीन समाज-रचना की धुरी बताते थे। यह क्यों और कैसे? इसपर बापू के विचार काफी मात्रा में मौजूद हैं। उनका कहना था, "साध्य के साथ-साथ साधन की शुद्धि भी आवश्यक है। सत्य एक पक्ष में खतरनाक होता है। जो लोग प्रतिवादी

के असत्याचरण से अपने सत्य पर भी खतरा मानते हैं, वे सत्य का सही अर्थ में पालन नहीं करते।" इसके लिए दुनिया के इतिहास में बहुत सारी मिसालें भरी पड़ी हैं। महात्मा ईसा को मारनेवाले आज जिंदा नहीं हैं, लेकिन वह महात्मा आज भी जीवित है। दूसरी मिसाल बापू की तो आंखों देखी है। इसलिए, सत्य का आचरण करनेवाला दूसरे से अपेक्षा भी नहीं करता। किंतु सत्याचरण का जब तक जीवन में प्रवेश न होगा, तबतक सदैव सत्य और अहिंसा पर खतरा महसूस होता रहेगा। वह तो तभी हो सकता है जब जीने के लिए जीने भर भोग करें, और दूसरों के जीने के लिए छोड़ें। जबतक साधन पर स्वयं का अधिकार न होगा, तबतक अपने द्वारा दूसरों का और दूसरों के द्वारा अपना शोषण होने वाला है। इसलिए जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादक के हाथ में साधन होने जरूरी हैं। खाना, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य और शिक्षा के लिए किसी हद तक स्वाश्रयी होना जरूरी है।

बापू ने चरखे को इस दृष्टि से ही कि साधन और उत्पन्न होनेवाली संपत्ति साधक के हाथ में हो, राष्ट्र का प्रतीक माना। चरखा अपने गांव में अपने हाथ से बन सकता है और उसके लिए कपास और दूसरे साधनों के लिए भी हम पराश्रयी नहीं हैं। इसलिए, मिलों में काम करनेवाले हजारों मजदूरों के होनेवाले शोषण के लिए वह एक चुनौती है; क्योंकि उन मिलों पर मजदूरों का क्या हक? उनके साधन पर और उत्पन्न होनेवाली संपत्ति पर मिल-मालिक का अधिकार है, मजदूर का नहीं।

चरखे के लिए एक दूसरी दलील और भी है। देश में आज जो इतना बड़ा कालाबाजार और चारित्रिक पतन मौजूद है, उसका कारण है—देश की सारी संपत्ति कुछ स्थानों में कुछ लोगों के पास इकट्ठी हो जाना। जीवन का मूल्य पैसों पर टिका हुआ है। जिनके पास अधिक पैसा हो, वह अधिक सुखी हो सकते हैं और जिनके पास कम पैसा हो, वह अधिक दुखी होंगे, यह भावना काम कर रही है। इसलिए, समाज का ढांचा ही ऐसा बन गया है, कि पैसे के पीछे हम बड़े-से-बड़ा गुनाह करना भी पाप नहीं समझते। गाय का बछड़ा दूध बिना मर जाता है, लेकिन शहर का पैसा वह दूध अपनी ओर खींच लेता है। यह मानव-हत्या, गो-हत्या—सारे कर्म पैसे के पीछे होते हैं। इसलिए हमें पैसे की कीमत कम करनी होगी। पैसा पैदा करने के तरीकों में परिवर्तन करना होगा। श्रम की प्रतिष्ठा कायम करनी होगी और बौद्धिक-श्रम के समान ही शरीर-श्रम की प्रतिष्ठा ऊंची करनी होगी। विद्वान और किसान के ऊंच-नीच का भेद मिटाना होगा। समाज के शरीर का रक्त यदि शरीर के कुछ स्थानों में ही इकठ्ठा हो जाय, तो जो स्थिति होती है, वही स्थिति आज देश की है। फिर लोग कहते हैं कि यह तो विज्ञान का युग है—एटम बम का जमाना है। एक बम न जाने कितनों का नाश कर सकता है। ऐसी हालत में देश की संपत्ति कुछ शहरों में इकट्ठी होने से अच्छा होगा या गांव-गांव में फैली रहने से।

हिंदुस्तान में कुछ लोगों को यह भी कहने का शौक है कि स्वराज्य के बाद चरखा चलाना क्यों जरूरी है? वे इस बात को भूल जाते हैं कि हिन्दुस्तान गांवों में बसा हुआ है। देश की जिंदगी खेती पर निर्भर है, लेकिन गांव के किसानों को पूरे साल के लिये काम चाहिये। खेती में औसतन नौ महीने से अधिक काम नहीं रहता और केवल खेती पर समाज का इतना बड़ा बोझ टिक नहीं सकता। किसान को दूसरी जरूरी चीजों के लिए श्रम बेचकर पैसा लाना पड़ता है। इसलिए, यह छोटा-सा घरेलू धंधा उसको काम ही नहीं देता, बल्कि सहारा भी देता है। आप सोचिए—दूसरा कौन-सा धंधा दे सकते हैं? इसलिए, बापू ने खेती और खादी को, समाज के दिल के दो फेफड़ों की उपमा दी है। इस विषय में हमें यह भी समझना चाहिए कि शहर के लोग भले ही कपड़े की दिक्कत के कारण कुछ समय के लिए चरखा चला लेते हों, लेकिन जब फिर मिल का सस्ता कपड़ा मिलने लगता है, तब वह छोड़ देते हैं। यह बात देहात के लोगों के लिए लागू नहीं होती। देहात का आदमी अपने श्रम से पैदा की जानेवाली महंगी-से-मंहगी चीजें इस्तेमाल करने का आदी है, क्योंकि वह उसके घर पैदा होती है। पैसे देकर सस्ती-से-सस्ती चीज खरीदना अपने घर की महंगी चीज के बदले किसान को गवारा नहीं होता। यह तो मैंने एक ग्रामीण जीवन के

मानसिक चिंतन की बात कही, लेकिन इससे भी आगे खादी ने ऊंच-नीच की भावना, छोटे-बडे का भेद, मिटाने में एक बड़ा काम किया है। इसलिए खादी का काम जो विचार रखता है, वह सूत के धागे से अधिक कीमती है।

यह विचार दो प्रकार से फैल रहा है। एक ओर हमारे सामने साम्यवादी विचारधारा खड़ी है और दूसरी ओर विनोबा की भाषा में साम्ययोगी विचारधारा। आगे चल कर दुनिया को इन्हीं दो विचारों में से किसी एक का चुनाव करना है। या तो हम लोगों का कत्ल करें, उनकी संपत्ति छीनकर बांट दें या लोगों के हृदय में जो सद्भावनाएं हैं, उन्हें जागृत करें और त्याग तथा प्रेम की भावना जागृत कर, जिनका जो हक है, उन्हें दिला दें। हिंदुस्तान जैसे मुल्क में साम्यवादी तरीका चल ही नहीं सकता। इस तरीके का प्रयोग रूस-जैसे देश ने भी करके, कितना पाया, यह सबके सामने है। लेकिन साम्ययोगी तरीका करके देखना है।

बापू ने चरखे में राम को देखा था, रहीम को देखा था। आज अगर हम चरखे में बापू को देख सकें तो उनकी पुण्य-स्मृति अपने जीवन में अधिक उतार सकेंगे।

विश्वास

रामचंद्रप्रसाद 'चंद्रभूषण'

मर जाय हमारा व्यक्ति भले लेकिन युग-युग व्यक्तित्व अमर
दो क्षण में सपने मिट जाते लेकिन उनका अस्तित्व अमर
कंप गया तीर का मर्मस्थल
जब मिला लहर का भुजबंधन
उड़ चली सुरभि जब––
प्राणशिला पर घिसने लगा मधुर चंदन
राही अबतक मिट चुके बहुत लेकिन उनका राहित्य अमर
पढ़नेवाले आते-जाते पर जीवन का साहित्य अमर
बन गई समूचा चित्र वही
मैंने जो-जो खींची रेखा
जीवन के कितने तथ्यों को
मैंने अजान बनकर देखा
चुक जाये भले ही स्नेह किंतु प्राणों की यह आरती अमर
रथ के पहिये टूटें लेकिन मेरे मन का सारथी अमर
तोड़ा न पंथ का पत्थर,
छेनी मारी पूजा पाने को
मैंने जो स्वेद बहाये थे
अपनी ही प्यास बुझाने को
आशा की धरती डूबे पर विश्वासों का आकाश अमर
पन्नों को दीमक चाटें लेकिन क्षण-क्षण का इतिहास अमर

आश्रम के कुछ अनुभव

श्री प्रभा जैन

मुझे महीना तथा तारीख तो ठीक याद नहीं है, परंतु सन् १९३७ था। वर्धा में कोई मीटिंग हो रही थी, उसमें सम्मिलित होने के लिए मामाजी (श्री जैनेन्द्र कुमारजी) जा रहे थे अतः मैं भी उनके साथ वर्धा जा रही थी। मेरी कुछ दिन पहले ही शादी हुई थी। सब घरवालों की इच्छा थी कि मैं कुछ दिन महिला-आश्रम, वर्धा में रहकर वहां का अनुभव प्राप्त कर लूं। इसलिए मैं वर्धा-महिला आश्रम के लिए जा रही थी। वर्धा में हम श्री जमनालाल जी के यहां ठहरे। वहांपर काकी श्री जानकीदेवी बजाज तथा अन्य लोगों से मामाजी ने मेरा परिचय कराया। हम लोग नहा-धोकर और कुछ खा पीकर आश्रम गये। उस समय आश्रम में १५० के लगभग बहनें थीं। आश्रम के दो बड़े बोर्डिंग हाउसों में से एक में तो १२ वर्ष से १८ वर्ष तक की कुमारी लड़कियां रहती थीं, और दूसरे में विवाहित। उनमें सभी प्रांतों की थीं। पहले दिन शाम को भोजन मैंने आश्रम में ही किया। सभी बहनों के साथ बठकर खाने में कुछ झिझक-सी हुई। खाने में एक सब्जी एक पाव दूध, मीठा दलिया, तथा रोटियां थीं। मीठे तेल में छुकी हुई मसालेरहित सब्जी तथा चीनीरहित दूध था। बड़ा अजीब-सा लग रहा था। अपरिचित लोग, घर से दूर, मन दुःखी था। मामाजी छोड़कर चले गये थे। अगले दिन सवेरे ही वह मेरा समाचार पूछने श्री जमनालाल जी के साथ आये। मामाजी को देखते ही मैं एकदम रो पड़ी। काकाजी ने मुझे अपने पास बिठा लिया और रोने का कारण पूछा। मैंने कहा कि मुझे फीका दूध अच्छा नहीं लगता। काकाजी ने कहा कि अच्छा तुम्हें मीठा दूध मिला करेगा। मैं चुप हो गई। उसी दिन आश्रम से कुछ दूर पर मीटिंग हो रही थी। आश्रम की बहनें मीटिंग में गईं। मैं भी सबके साथ वहां गई। उससे पूर्व मैंने किसी राष्ट्रीय नेता के दर्शन नहीं किये थे। वहांपर बापूजी के अतिरिक्त डा. राजेन्द्र प्रसाद, पंडित जवाहरलाल नेहरू आदि भी थे। एक बंगालिन बहिन ने जिनका कि नाम मोती बहन था, मुझे सबके नाम बताये। एक दिन में ही वह बहिन मुझे बहुत प्यार करने लगी थीं। वहीं पर एक दूसरी बहन से भी मित्रता हुई, जिनका नाम सुधावती था। वह बिहार की थीं। अब भी शायद वह कस्तूरबा-विद्यालय बिहार में कार्य कर रही हैं। उसी दिन से मेरा आश्रम का जीवन आरम्भ हुआ। मुझे एक अकेला कमरा मिल गया। वहां सुबह चार बजे उठना पड़ता था। उठकर सुबह की प्रार्थना में सम्मिलित होना, उसके बाद अपने दैनिक कार्य करना। चक्की पीसना। दो बहनें सवा सेर आटा पीसती थीं। सात बजे नाश्ते की घंटी बजती थी। सभी बहनें नाश्ता लेने पहुँच जाती थीं। नाश्ते में एक पाव दूध, दूध के साथ हलुवा, दलिया, चिउरा, मुरमुरे आदि बदलकर मिलते थे। नाश्ते के बाद पाठ्य-क्रम आरंभ हो जाता था। पढ़ाई उसी प्रकार जैसे स्कूलों में होती है। पढ़ाई के साथ ग्रामोद्योग जैसे चमड़े का काम, धुनाई, पूनी बनाना आदि भी चलते थे। यह क्रम बारह बजे तक होता था। उसके बाद भोजन की घंटी बजती थी। सभी बहनें अपने-अपने बर्तन लेकर आती थीं। बर्तनों में एक थाल, दो कटोरी तथा एक गिलास। बहनों के साथ आश्रम के मैनेजर नाना आठले भी भोजन करते थे। भोजन के पूर्व वहीं डाक बांट दी जाती थी। बहनों के जितने भी पत्र आते थे, वह आफिस में खोल कर पढ़ने के बाद दिये जाते थे। इसी प्रकार पत्र डालने के लिए भी आफिस में खोलकर देने के बाद ही डाक में डाले जाते थे। भोजन में चावल, दाल, एक सब्जी, रोटी और एक पाव मट्ठा। भोजन करते-करते एक बज जाता था। एक बजे से दो बजे तक अपने-अपने कमरों में आराम। दो बजे से सामूहिक कताई एक घंटे तक चलती थी। सभी बहनें तथा नाना साहब एक साथ कातते थे। कता हुआ सूत एक आलमारी में बहनों के नाम से जमा कर दिया जाता था। सूत इकट्ठा होने पर बहनों की अपनी साड़ियां बुनकर आ जाती थीं। तीन बजे से चार बजे तक सिलाई चलती थी। उसके बाद नाश्ते की घंटी बजती। नाश्ते में फल आदि होते। चार बजे से पांच बजे तक व्यायाम। व्यायाम में लाठी, लेजिम, जोड़ी, डम्बल, पीटी आदि होते

थे। पांच बजे से छः बजे तक बहनें अपना कार्य करतीं। छः बजे भोजन की घंटी। सर्दियों में पांच बजे और गर्मियों में छः बजे। भोजन के बाद बहनें घूमने जा सकती थीं। दो बहनें घूमने जा सकती थीं। अकेलें घूमने जाने की आज्ञा नहीं थी। सात बजे प्रार्थना होती थी, उसमें सभी आश्रम की बहनों की उपस्थिति बोली जाती थी। इसके बाद अपने-अपने कमरों में जाकर पढ़ना। उस समय आश्रम में बिजली नहीं थी, अतः सभीके पास लालटेन रहा करती थी। रात को नौ बजे अपनी-अपनी लालटेन बुझाकर सो जाना पड़ता था। यह जीवन बिना हेर-फेर के नियमपूर्वक चलता था। यह तो थी आश्रम की दिनचर्या।

आश्रम की सभी बहनें आश्रम की सफाई से लेकर भोजन तक का कार्य बारी-बारी से करती थीं। महीने की एक तारीख को बहनों को काम सौंप दिया जाता था। जिस दिन मैं आश्रममें पहुंची उससे अगले दिन मैंने एक बहन को टट्टी की सफाई करते देखा तो उस बहिन के प्रति मेरे मन में घृणा के भाव जागृत हो गये। उसके बाद तो यह काम मैंने भी कई महीनों तक किया। वैसे आश्रम का यह नियम था कि नई आई हुई बहन को टट्टी सफाई का काम तीन महीने तक नहीं दिया जाता था। पर मैंने तो अपने वहां पहुंचने के एक महीने बाद ही इस काम का भार अपने ऊपर ले लिया था और चार महीने तक किया।

आश्रम में उत्सव भी होते थे। उत्सवों में गरबा नृत्य, ड्रामे, वाद-विवाद आदि होते थे। एक उत्सव में सिद्धार्थ नाटक, गरबा नृत्य तथा वाद-विवाद तीनों थे। बा ने उस उत्सव का सभापतित्व किया। तीनों चीजों में मेरा पार्ट था। कार्यक्रम सफलता से समाप्त हुआ। बाद में बा से दो शब्द आशीर्वाद के कहने को कहा गया। बा खड़ी हुई और बोलीं, "मैं क्या कहूँ, मुझे बोलना तथा भाषण देना तो आता नहीं है। यह काम तो बापू ही करते हैं। हां, यह छोकरियां पढ़ लिखकर होशियार बनें, यही मेरा आशीर्वाद है।" यह कहकर बा बैठ गईं। इस बात को आज बीस वर्ष हो गये पर बा की वह शक्ल उसी प्रकार मेरे सामने है। उसे मैं रत्ती भर भी नहीं भूली हूं।

रविवार के दिन हम कुछ बहनें सेवाग्राम अवश्य जाती थीं। चार बजे आश्रम की प्रार्थना समाप्त करके सेवाग्राम की प्रार्थना में सम्मिलित हो जाती थीं। सेवाग्राम की प्रार्थना पांच बजे होती थी। तबतक हम लोग वहां पहुंच जाती थीं। बापू प्रार्थना में अवश्य रहते थे। पर सारे आश्रम-निवासी उसमें सम्मिलित नहीं होते थे। प्रार्थना के बाद बापू कुछ देर सोते थे। उसके बाद वह घूमने जाते थे। जब बापू अपनी कुटिया से बाहर निकलते थे दो बहनें उनके द्वार पर खड़ी हो जाती थीं। बापू दोनों बहनों के कंधों पर हाथ रखकर घूमने चल देते थे। इधर-उधर बहिनें, बीच में बापू। कितनी ही बार यह सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ था पर बापू के साथ वही जा सकता था, जिसे तेज चलने का अभ्यास होता। आरंभ में तो मुझे अपने पैर दुखते हुए मालूम हुए थे पर बाद में मुझे बहुत अच्छा लगने लगा था और मुझे जहांतक याद है, जितने दिन भी मैं आश्रम में रही, मैं प्रत्येक रविवार को सेवाग्राम अवश्य गई। वहां बापूजी के साथ अथवा बा के साथ दो घंटे तक रहने के बाद लगभग आठ या नौ बजे तक वर्धा-आश्रम लौट आते थे।

एक बार सेवाग्राम गये तो प्रार्थना के बाद बापू बा से बोले, "बा, आश्रम की इन लड़कियों को नाश्ता अवश्य करा दिया करो, वैसे यह हिस्सा यहां के आश्रम के निवासियों का होता है पर उसमें से इनको भी थोड़ा-थोड़ा मिलना चाहिए।" बा ने हँसकर कहा, "अच्छा" और हम सबको अपने साथ ले गईं। वहां जाकर बा ने स्वयं तो हमारे साथ काफी पी, पर हम सबको एक एक छोटी डबल रोटी, जो वहीं तैयार करते थे, एक पाव दूध और थोड़ा-थोड़ा ताड़ी का गुड़ मिला। थोड़ी देर वहीं घूमे, फिर वापिस आश्रम आ गये।

दूसरी बार हम चार बहनें ही सेवाग्राम गईं। उस दिन कुछ देर से चले, अतः वहां प्रार्थना आरंभ हो चुकी थी। हम प्रार्थना में सम्मिलित नहीं हुए। बाहर ही खड़े रहे। प्रार्थना के बाद बापूजी बाहर निकले तो देखा हम बाहर खड़ी हैं। बापू बोले, "ठीक है, देर में आने पर ऐसा करना ही चाहिए था। इस तरह देर में यहां पहुंचने पर तुम बाहर खड़ी रही यह मुझे अच्छा लगा। अबकी बार तुम आने के लिए देर नहीं करोगी।" बा तो प्रार्थना के बाद अपने कामों में लग जाती थीं। वह बापू के साथ नहीं रहती

थीं पर मीरा बहन तो जैसे बापू की छाया थीं। वह बापू के इधर-उधर ही रहती थीं।

जब श्री सुभाषचंद्र बोस वर्धा आये तो स्टेशन पर आश्रम की बहनों ने उनको गार्ड आफ आनर दिया। उसके बाद उन्हें एक सभा में बोलना था, वह उस सभा में गये। हम सब बहनें भी उस सभा में गई। वहां पर श्री सुभाषचंद्र ने भाषण दिया, "इन अंग्रेजों से हमारी शत्रुता नहीं है, यह हमें स्वराज्य देकर चले जायं तो यह हमारे मित्र हैं।" हमें सुन कर बहुत बुरा लगा। अगले दिन इतवार था, अतः हम सेवाग्राम पहुँचे। प्रार्थना के बाद हम सब बापू के साथ बाहर आये। मैं सब बहिनों की अगुआ थी, अतः मैंने कहा, "बापू, कल शाम को श्री सुभाषचंद्र ने ऐसा भाषण दिया है। जो अंग्रेज हमारे साथ सदा नीचता का व्यवहार करते हैं, हम उन्हें अपना मित्र कैसे और क्यों बनायें।" बापू ने हँसकर कहा, "लड़कियां हैं तो तेज। सुभाष ने ठीक ही तो कहा है। अंग्रेज कहते हैं कि हमारा कोई कसूर नहीं है। जब हिंदुस्तानी हमें तंग करते हैं, तब हम सख्ती करते हैं अन्यथा हम तो सदा मित्रता रखते हैं। अब हमने यह सोचा है कि हम अपनी ओर से उन्हें कोई ऐसा कार्य करके शिकायत का अवसर नहीं देना चाहते हैं जिससे हम कसूरवार ठहराये जायं।" मैंने कहा, "बापू यदि उन्होंने फिर कोई ऐसी शरारत की तो!" बापू बोले, "तो हम अपने उसी अहिंसा अस्त्र से उनका मुकाबला करेंगे। पर हम अपनी ओर से बुराई का अवसर क्यों दें। जो अज्ञानता करता है, वही अज्ञानी है। हम अज्ञानता क्यों करें।" बापू के इस उत्तर के आगे हम क्या कहते, अतः हम आश्रम चले आये।

याद आता है कि एक दिन हम छः बहनें सेवाग्राम पहुंची थीं। सदा की तरह प्रार्थना के बाद बापू हमसे मिले। हमें देखकर वे बा से बोले, "बा, आज तो सारा महिला-आश्रम चला आया है, इनको नाश्ता मत देना" उस दिन हम बापू के साथ घूमने भी नहीं जा सके। बा के पास ही बैठे रहे। बापू जब लौटे तो बा से पूछा, "इन लड़कियों को नाश्ता दिया या नहीं, यदि नहीं दिया हो तो दे देना। नहीं तो यह लड़कियां रास्ते भर भूख के मारे मुझे मन-मन में गालियां देती जायेंगी कि बापू मर जायें, हमें भूखा रखा।" बापू का वाक्य समाप्त होने से पहले ही बा बोल पड़ीं, "नाश्ता इन लड़कियों को करा दिया है, तुम्हें गाली नहीं देंगी।" बापू यह सुनते ही हँसकर चले गये। हम लोग भी आश्रम लौट आये।

एक और दिन की बात है। प्रार्थना के बाद बापू के साथ श्री आशा-बहन आर्यनायकम् थीं। बापू ने रात को कोई सपना देखा था, इसके कारण वह ठीक से सो नहीं सके थे। ऐसा वह आशा बहन को बता रहे थे। हम सबको देखकर कहने लगे, "आशा, यह लड़कियां मेरे पास इसलिए आती हैं कि मैं इन्हें कुछ कहूं। पर मेरे पास इतना समय नहीं रहता है। अतः तुम तो इनके पास रहती ही हो। समय समय पर इनको समझाती रहा करो।" आशा बहन ने कहा, "हां, हां, मेरे पास आ जाया करो।" उसके बाद जब कभी समय मिलता, हम लोग आशाबहन के पास पहुँच जाते। हमारे बोर्डिंग के पास ही उनका घर था। आशा बहन हमें शिक्षा के संबंध में समय-समय पर बताती रहतीं। इसी प्रकार नालवाड़ी भी आश्रम के पास ही थी। हम कभी-कभी नालवाड़ी भी घूमने के लिए चले जाते थे वहां पर अधिकतर मेरे साथ मोती बहन रहती थीं। एक बार विनोबाजी मुझसे बोले, "तुम मुझे अपना गुरु बना लो। गुरु-दक्षिणा में एक छटांक अपने आप ही धुनी रुई की पूनी बनाकर मुझे प्रति सप्ताह दे दिया करो।" मैंने कहा, "अच्छी बात है।" उस दिन से मैं जितने दिन आश्रम में रही, अपनी इस बात को निवाहा। प्रति बुधवार को नालवाड़ी जाकर एक छटांक अपने हाथ से बनी हुई पूनी दे आती थी पर आश्रम के बाद मैं अपनी बात निभा नहीं पाई इसका मेरे मन में दुःख है।

इस प्रकार आश्रम की कुछ स्मृतियां मेरे मन में आज भी बनी हुई हैं।

गांधी-विचार-धारा को स्थायी बनाने के प्रयत्न

प्रेमनारायण अग्रवाल

संसार में समय-समय पर जो महापुरुष उत्पन्न हुए हैं, उनके जीवनकाल में या उनकी मृत्यु के उपरांत उनके अनुयाइयों, प्रशंसकों आदि ने उनकी स्मृति-रक्षा व विचारधारा का देश या संसार के कोने-कोने में प्रचार करने के लिए भरसक प्रयत्न किये हैं। कुछ महापुरुषों की विचारधारा का महत्व दुनिया की समझ में उनकी मृत्यु के कई वर्षों बाद आया और जब यह आया तब उनके उपदेशामृत व वचनामृत के प्रचारार्थ यथाशक्ति कार्य किया गया। उस समय के सभी उपलब्ध साधनों का भरपूर इस्तेमाल किया गया। संसार के सभी देशों में यही परंपरा रही है। भारत तो किसी भी देश से इस पुनीत कार्य में कभी पीछे नहीं रहा। वीर-पूजा का उपासक भारत इस कार्य में प्रायः सबसे आगे ही रहा है और इस समय भारतवर्ष भर में सैकड़ों महापुरुषों के स्मृति-चिन्ह देश के विभिन्न कोनों में कायम हैं और उनकी विचारधारा के कुछ-न-कुछ अनुयायी या प्रशंसक विद्यमान हैं। भारत ने जीवन के सभी क्षेत्रों में चमकनेवाले नर-पुगंवों का आदर किया है।

महात्मा गांधी को, जो इस युग के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष थे, जिन्होंने भारतीयों के धार्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, नैतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन का नेतृत्व किया था, भारतीय कैसे भुला सकते थे। उनके जीवनकाल में ही उनके स्मृति-चिन्ह भारत के कोने कोने में स्थापित हो चुके थे और उनकी विचारधारा का प्रचार भी अभूतपूर्व था। भारत के बाहर विदेशों में भी उनके प्रशंसकों व अनुयाइयों की संख्या पर्याप्त थी। इंग्लैंड और अमरीका के निवासी भी उनके उपासक बने हुए थे।

उनके स्वर्गारोहण के दसवें वर्ष में यह प्रयत्न अधिक जोर-शोर से हो रहे हैं और इस शुभ कार्य में भारतीय जनता के व्यक्तिगत और सामूहिक प्रयत्न जारी हैं। स्वतंत्र भारत की सरकार भी इस काम में पीछे नहीं है। सौभाग्य की बात है कि इस समय राजनैतिक सत्ता उनके हाथ में है जो गांधीजी के निकटस्थ सहयोगी व कार्यकर्ता थे। इन सभीके भागीरथ प्रयत्नों का यह फल है कि सभी उपलब्ध साधनों का प्रयोग किया जा रहा है और रुपये की कमी का प्रश्न नहीं उठता। देश-विदेश में उनकी मृत्यु के बाद ११ करोड़ रुपया एकत्रित किया गया था। उसे गांधी-स्मारक-निधि उनकी स्मृति-रक्षार्थ व उनके काम को जारी रखने पर खर्च करने में लगी है। स्मृति-रक्षा भी उनके सिद्धान्तों और विचारधारा के प्रचार का प्रमुख साधन ही है।

स्मृति-रक्षा के लिए देशभर में चार गांधी-स्मारक संग्रहालय बनाये जा रहे हैं जो साबरमती-आश्रम (अहमदाबाद), सेवाग्राम-आश्रम (वर्धा), मदुरा व नई दिल्ली में होंगे, जिनमें गांधीजी-संबंधित सामग्री, उनकी इस्तेमाल की हुई वस्तुएं, उनकी व उनके बारे में लिखी पुस्तकें आदि संग्रहीत की जायंगी। इसके अतिरिक्त निधि की ओर से देशभर में प्रमुख स्थानों पर, जो गांधीजी के राजनैतिक कार्यों से संबंधित हैं, दस स्मृति-रक्षा-स्तम्भ बनाये जा रहे हैं। अन्य सौ स्थानों पर पत्थर पर लिखे हुए उनके उपदेश लगाये जावेंगे। जहां वह उत्पन्न हुए थे, जहां वह जेल में रहे थे, जहां उन्होंने गीता पर टीका लिखी थी, जहां उनका नश्वर शरीर पंचतत्वों में मिलाया गया था, जहां उन्होंने प्रथम आश्रम स्थापित किया था, जहां उनको पहले पहल राजद्रोह में सजा सुनाई गई थी आदि स्थानों पर स्मृति-रक्षार्थ यथोचित प्रयत्न हो चुके हैं और हो रहे हैं।

स्मारक व संग्राहालय के अतिरिक्त अन्य अनेक कार्य हो रहे हैं, सोचे जा रहे हैं और शीघ्र ही कार्यान्वित होंगे जो उनकी विचार धारा को सहस्रों वर्षों तक कायम रखेंगे और देश-देशांतरों तक में पहुंचायेंगे। इनके लिए इस युग के सभी श्रेष्ठ और आधुनिकतम साधनों का भरपूर प्रयोग किया जा रहा है, जिससे उनको हम निकट से देख सके उनकी ही वाणी में उनके ही मुख से उपदेश सुन सकें।

गांधीजी के विभिन्न कार्यों की फिल्में विभिन्न लोगों ने बनाई थीं। निधि ने सबको इकट्ठा करके गांधीजी

के जीवन पर कई फिल्में निर्माण करने का निश्चय किया है। एक फिल्म "भारतवाणी" नाम से बन चुकी है और देश में दिखाई जा रही है। यह सोचा जा रहा है कि इसे संसारभर में दिखाया जाय। और इसका संसार की सभी भाषाओं में अनुवाद हो जिससे गांधीजी की बात सभी देख-सुन सकें। इससे जनता पर अधिक प्रभाव पड़ेगा। हालीवुड के एक निर्माता गांधीजी के संबंध में रंगीन फिल्म बनाने में जुटे हैं। इसका नाम "वहील" होगा और इसका संशोधन स्वयं पं. नेहरू करेंगे। २०-२२ छोटी फिल्में भी तैयार हैं।

गांधीजी के जीवनकाल में उनके कितने ही भाषण रिकार्डों में भर लिये गये थे। ग्रामोफोन पर चढ़ाने से आज भी वे उनकी ही दिव्यवाणी में उनके उपयोगी उपदेश सुनाने लगते हैं। अब इन रिकार्डों को बड़ी तादाद में बनाया जायगा और प्रचारार्थ इस्तेमाल किया जायगा।

संसार के प्रमुख विद्वानों की भारत में कुछ साल पूर्व एक गोष्ठी हुई थी, जिसमें गांधी-विचारधारा पर सबने अपने-अपने विचार प्रकट किये थे। आगे भी इस प्रकार की गोष्ठियां करते रहने का विचार है जिससे संसार के प्रमुख विचारक गांधी-विचारधारा से परिचित रहें। इनमें गांधीजी के निकटस्थ सहयोगियों ने उनके विचारों को स्पष्ट किया था।

गांधीजी का लिखा हुआ और उनके संबंध में लिखे हुए सभी साहित्य का संकलन संग्रहालय में हो रहा है। यही नहीं, गांधीजी के १८ प्रिय विषयों के संबंध में समस्त उपलब्ध साहित्य संग्रहालय में इकट्ठा किया जायगा और यह प्रयत्न किया जायगा कि इन विषयों का अध्ययन या खोज करनेवाले विद्वानों को यहां निःशुल्क ठहरने आदि की सुविधा हो जिससे वह गांधी-विचारधारा का भली प्रकार अध्ययन कर सकें।

संसार की विभिन्न भाषाओं में उनकी सैकड़ों जीवनियां प्रकाशित हुई हैं और हो रही हैं। उनकी आत्मकथा तो है ही। इधर श्री डी.जी. तेंदूलकर ने उनकी विशाल जीवनी सात-आठ मोटे-मोटे खंडों में अंग्रेजी में लिखकर तैयार की है। भारत-सरकार ने इसकी बहुत-सी प्रतियां लेकर विभिन्न देशों के प्रमुख सत्ताधारियों को भेंट स्वरूप भेजी हैं। उनके चित्रों के एक-से-एक बढ़िया एलबम प्रकाशित हुए हैं। भारत-सरकार ने स्वयं भी एक ३५) रुपये की कीमत का बड़ा चित्र-संग्रह सुंदर ढंग से प्रकाशित किया है जो देश-विदेश में प्रचारार्थ भेजा जायगा और बिक्री के लिए भी जनसाधारण को उपलब्ध होगा।

गांधीजी के जन्म-दिवस की छुट्टी २ अक्तूबर को भारतवर्ष में होने लगी है। इस दिन सभी सरकारी कार्यालय बंद रहते हैं। ३० जनवरी को, जो गांधीजी का निर्वाण-दिवस है, उनकी समाधि पर प्रार्थनाएं व सामूहिक कताई होती है और उसमें भाग लेने को भारत के राष्ट्रपति व प्रधानमंत्री भी आते हैं। इस दिन का महत्व भी सरकार ने भारत-व्यापी बना दिया है। इसने यह निर्णय किया है कि प्रत्येक ३० जनवरी को बलिदान-दिवस मनाया जाय उन सभी की यादगार में जिन्होंने स्वतंत्रता-प्राप्ति आंदोलन में अपने जीवन को उत्सर्ग कर दिया था। ३० जनवरी को ११ बजे दिन में सभी सरकारी व गैर-सरकारी, दो मिनट तक अपना कार्य बंद करके शांति से चुप रहे थे। इसे सभी केंद्रीय व प्रादेशिक सरकारों के कर्मचारी मानेंगे। ११ बजे इशारा किया जायगा तब सब अपने दफ्तर, स्कूल आदि से बाहर आकर दो मिनट तक खड़े रहकर मौन रखेंगे। सभी कल-कारखाने इस समय बंद होंगे। सड़कों पर यातायात बंद हो जायगा। जहाज, रेलें आदि जो इस समय छूटनेवाले होंगे रुक जायंगे। रेडियो प्रोग्राम भी बंद हो जायगा। इसके अतिरिक्त १५ अगस्त, स्वतंत्रता-दिवस व २६ जनवरी, गणतंत्र दिवस पर भी गांधीजी के कार्य को याद किया जाता है।

इन बड़े व सामूहिक प्रयत्नों के अतिरिक्त गांव-गांव, शहर-शहर में उनके स्मृति चिन्ह बने हुए हैं और बन रहे हैं जिनको जनता ने स्वेच्छा से स्थापित किया है और जो मनुष्यों के जीवन के आवश्यक अंग बने हुए हैं, जैसे गांधी-पुस्तकालय, गांधी-क्रीड़ास्थल, गांधी-पार्क, गांधी-पंचायत घर, गांधी-चबूतरा आदि।

ये प्रयत्न गांधीजी की स्मृति-रक्षा व विचारधारा को आगामी सैकड़ों-हजारों वर्षों तक देश-देशांतरों में फैलाते रहेंगे।

रवींद्र-मनन

काका कालेलकर

चर्मचक्षु इस सारे विश्व को विश्व-रूप से ही देखता है। लेकिन भक्त की दृष्टि से यह विश्व जगन्माता के प्रेम की मुद्रा है। चर्मचक्षु कहता है—मुझे पेड़ दीखते हैं, पात दीखते हैं, फल और फूल दीखते हैं। आकाश में उड़ने वाले पक्षी दीखते हैं और उनसे भी ऊपर रहकर स्वच्छंद विहार करनेवाले बादल भी दीखते हैं। यह सब कुछ है लेकिन उससे हमें क्या लेना-देना है? उनको क्षणभर देखा, उनकी कुछ तारीफ की और लगे फिर से अपने काम में। आंखें होकर भी चर्मचक्षु को पर्याप्त मात्रा में दिखाई नहीं देता, दिमाग होकर भी पर्याप्त मात्रा में समझ में नहीं आता, हृदय होकर भी पूरी तरह से प्रतीत नहीं होता। क्योंकि प्रेम के स्पर्श-मणिका का उसे अनुभव नहीं होता।

लेकिन जिस क्षण हृदय में भक्ति का उदय होता है, प्रेम का रसायन चखने को मिलता है, उस क्षण दिव्य-दृष्टि का लाभ हुए बिना नहीं रहता। दिव्यदृष्टि का मतलब ही है प्रेमदृष्टि।

किसी लिपि का परिचय होने से पहले उस लिपि में लिखा हुआ पत्र केवल रेखाओं का समुच्चय प्रतीक होता है। लेकिन लिपि का परिचय होने के बाद उन रेखाओं के ही वाक्य बनते हैं और वाक्य-वाक्य में से अर्थघन-भावों का स्फुरण होने लगता है। फिर मनुष्य नहीं कहेगा कि ये तो महज रेखायें हैं—चाहे उन्हें सुडौल रेखायें कहें—इसमें से क्या बोध होनेवाला है। पत्र का भाव दृग्टि-गोचर होते ही हृदय मस्त होकर कहेगा, 'अरे भाई, ये महज रेखाएं नहीं हैं, इनका सुंदर आकार विशेष महत्व नहीं रखता। इन रेखाओं में से प्रेम से छलकता हुआ हृदय बोल रहा है। केवल बोल ही नहीं रहा, बल्कि बाहुओं की मदद के बिना मानो हृदय-हृदय को आलिंगन ही दे रहा है। और जहां पहले विशेष परिचय नहीं था वहां हृदय का ऐक्य होकर अद्वैतानंद का अनुभव हो रहा है। चर्मचक्षु के लिए जो महज पत्र था, वही प्रेमचक्षु के लिए हृदय-रसायन बन गया है, सर्वत्र उसीका विस्तार है, सर्वत्र उसी की वाणी सुनाई देती है, सर्वत्र उसीका स्पर्श अनुभव हो रहा है। अब दूसरे के तौर पर कुछ भी शेष नहीं रहा।

एइ तो तोमार प्रेम, ओगो
हृदयहरण।
एइ-जे पाताय आलो नाचे।
सोनार बरन।
एइ-जे मधुर आलस भरे
मेघ भेसे जाय आकाश-'परे,
एइ-जे बातास देहे करे
अमृतक्षरण।
एइ तो तोमार प्रेम, ओगो
हृदयहरण।
प्रभात-आलोर धाराय आमार
नयन भेसेछे।
एइ तोमारि प्रेमेर वाणी।
प्राणे एसेछे।
तोमारि मुख अै नुएछे,
मुखे आमार चोख थुयेछे,
आमार हृदय आज छुंयेछे
तोमारि चरण।

"हे हृदयहरण स्वामी, यह जो सुनहरा प्रकाश वृक्षों के और बेलों के पत्तों पर नाच रहा है; और यह जो मधुर अलसभरी मेघ-पंक्ति आकाश में से सफर कर रही है; उसी प्रकार यह जो शीतल पवन मेरे शरीर को अमृत स्पर्श से आनंदित कर रहा है; यह तुम्हारा प्रेम ही है। हृदयहरण नारायण, यह सब तुम्हारा प्रेम ही है।

प्रभात काल के प्रकाश के झरने में मेरी आंखें पहले भीग कर तर हो जाती हैं और फिर प्रकाश की बाढ़ में बहने लगती हैं। वह प्रकाश की बाढ़ नहीं है, बल्कि मेरे प्राणों में प्रेरणा भर देनेवाली तुम्हारी प्रेमवाणी ही है।

कितनी धन्यता! यह देख तुम्हारा सिर नीचे झुका है और तुम अपनी आंखों से मेरे मुख को सहला रहे हो, मेरा हृदय आज धन्य होकर तुम्हारे चरणों को स्पर्श कर रहा है। हे हृदयहरण, तुमने उसका स्वीकार करके उसे कृतार्थ किया है। सर्वत्र सब तरह से तुम्हारे प्रेम का ही अनुभव हो रहा है।"

'मंगल प्रभात' से

कला के ये उत्कृष्ट नमूने

कमलनयन बजाज

[मराठी के सुविख्यात कवि श्री बोरकर के नाम लिखे इस पत्र में वेलूर, हैलेविड तथा श्रवण बेलगोल की अद्वितीय कला पर संक्षेप में बड़ा ही सुंदर प्रकाश डाला गया है। वैसे तो दक्षिण के विभिन्न भागों में कला के भावपूर्ण प्रतीक विद्यमान हैं, लेकिन इस पत्र में वर्णित स्थल तो उत्कृष्टतम कला के प्रतिनिधि हैं। —सम्पा०]

प्रिय कवि,

तुम्हारा पोस्टकार्ड मिला। मैसूर में घूमने-फिरने के काफी रमणीक स्थान हैं, लेकिन शिल्प की कारीगरी वेलूर और हैलेविड मंदिरों की अद्वितीय है। वहां कला-विदों ने कला को गौरव के उच्चतम शिखर पर पहुंचा दिया। सुंदर भावात्मक रागों को कलापूर्ण दृष्टि से पाषाण की मूर्तियों में अंकित कर परम श्रेष्ठ कलाकार-विभूतियों ने हृदयस्पर्शी और मार्मिक शिल्प-कार्य को निर्मित किया है। जीवन के रोचक भावों को जड़ पाषाणों में स्नेहांकित करके एक महाकाव्य की रचना की है। वहां का एक-एक पत्थर जीवित है, बोलता है। पुकार-पुकारकर व प्राचीन कहानी कहता है। काल का प्रभाव उनपर काफी गहरा दिखाई देता है। वे खंडहर ही होते जा रहे हैं, फिर भी उनकी गौरव-गाथा काल को ललकारती हुई दर्शकों के हृदयों पर अपनी अमिट छाप अंकित कर रही है। भावोद्रेक करनेवाला उनका कलात्मक संदेश इसी भांति हजारों वर्षों तक दूर-दूर फैलता रहेगा। वे प्राचीन भारत के गौरव के प्रतीक हैं और हैं हमारे इति-हास एवं भविष्य के बीच की एक जीवित श्रृंखला। उनके शिल्प की बारीकियों, गहराइयों और उभारों में हमारी प्राचीन संस्कृति और सभ्यता का स्पष्ट और सम्यक् चित्र मूर्त रूप में उतर आया है।

गोमतेश्वर (श्रवणबेलगोल) भी एक अजब ही कारीगरी का अद्वितीय और भव्य नमूना है, जीवन की पराकाष्ठा है। कितने जीवनों के त्याग, तपश्चर्या, लगन, कार्यकुशलता, दक्षता और उनके पूर्ण समर्पण के बाद इस तरह की कृति का निर्माण हुआ होगा, इसकी कल्पना-मात्र से ही रोमांच हो जाता है। कला और परिश्रम के ऐसे दिव्य और भव्य स्वरूप बहुत कम देखने में आते हैं। गोमतेश्वर की मूर्ति मानव-ज्ञात समस्त कलाओं के सामंजस्य का परिपूर्ण गान अपने मौन भावों में गा रही है। उसकी यह मौन-मुखरता अपनी गूंज और झंकार से ही हमारे मन-मानस को मुग्ध कर लेती है। अद्वितीय की प्राप्ति के लिए वह सजीव भावों की पराकाष्ठा है। क्यों न हो, समस्त मंजुलता केंद्रीभूत होकर उसमें साकार जो हो उठी है।

कला की इस ज्योति को, जो सैकड़ों मील से दिखलाई देती थी, मकानों की ओट में लाकर हतप्रभ बना दिया गया है। इससे बहुत-कुछ अंशों में उसकी स्फूर्ति एवं सौंदर्य नष्ट-सा होगया है। यह उस महान कलाकार के प्रति, जिसकी आदि-प्रेरणा से यह कार्य हुआ होगा, अनजाने में ही हमने अनादर किया है। सौंदर्य और कला की यह मूर्तिमान गरिमा आज मुक्त वातावरण में दिखाई पड़ने से वंचित होगई, यह अफसोसकर मन लाचार हो जाता है।

स्थापत्य-कला के ये उत्कृष्ट नमूने अपनी मार्मिक मूक अभिव्यक्ति और सद्य छाप के कारण ऐसे अनुपम बन पड़े हैं, मानो हमारे पुरातन इतिहास के गौरवपूर्ण कलामय महाकाव्य ही हों। उनमें हमारी कहानी—गौरवमय इतिहास—को कला के उत्कृष्ट माध्यम से अंकित किया गया है अथवा हमारे काव्य और कलाओं का इतिहास ही दिग्दर्शित किया गया है, कहें तो वह एक ही बात होगी। इस तरह के जो जीवन के अंतर हैं वे बौद्धिक जीवन के एक धरातल के नीचे तक ही महसूस होते हैं। उस स्तर के परे जाने पर ये सारे भेद और अंतर, तत्सम होकर उस पूर्ण में ही जा मिलते हैं। वहां किसी प्रकार का अंतर नहीं बच रहता। वहां सृष्टि ही समष्टि में मिल जाती है, अपूर्ण ही पूर्ण हो जाता है। ऐसे समर्थ कलाकारों को हृदय से नमन करके ही हम अपनेको धन्य समझते हैं। पूर्वजों के गौरव में गौरवान्वित होते हैं। इस बात को हम भुला देते हैं कि हमारे गत गौरव का जितना गुरुत्व है, उतना ही हमारा कर्तव्य भी वजनदार हो जाता है। पूर्वजों के गौरव के सामने हमारा जीवन-कार्य तृणवत् दिखाई देता है। इसको महसूस करके हम आगे बढ़ें तो हमारा जीवन-लेखा सुधरेगा।

सोवियत संघ में बच्चों की देखरेख

सोवियत संघ की यात्रा से वापस आने पर कैंटरबरी के डीन ह्यूलेट जानसन से स्काटलैंड में पूछा गया कि:—

"क्या सोवियत संघ में विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग हैं ?

ह्यूलेट जानसन ने एक क्षण सोचने के बाद दृढ़तापूर्वक जवाब दिया :

"हां, सोवियत संघ में विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग बच्चे हैं।"

सभी न्यामतें बच्चों के लिए हैं—सोवियत देश के अस्तित्व में आने के प्रारंभिक दिनों से ही वहां जीवन का ही विधान है। ..

मातृ-शिशु-रक्षा को सरकार के तात्कालिक कर्त्तव्यों में से एक के रूप में घोषित कर सोवियत राज्य ने स्त्रियों और बच्चों की देखरेख को सुनिश्चित बनाने के लिए कई कानून जारी किये। कानूनों में यह व्यवस्था की गई है कि हर नवजात बच्चे की रक्षा की जाय, आत्मिक और शारीरिक दोनों दृष्टियों से बच्चे स्वस्थ, प्रसन्न एवं बलवान बनें।

देश में संस्थापित शिशु-चिकित्सा-संस्थान बच्चों के स्वास्थ्य की ओर अधिक ध्यान देते हैं। शिशु-परामर्शदातृ केन्द्र प्रत्येक नवजात शिशु की देख-रखे करते हैं। अब सोवियत संघ में बारह हजार से ऊपर ऐसे केंद्र हैं। परामर्शदातृ केंद्र के कार्यकर्त्ता बच्चे को खिलाने-पिलाने और उसका लालन-पालन करने का सही तरीका बताते हैं। ये दुग्धशालाएं डाक्टर के आदेशानुसार बच्चों के लिए विभिन्न प्रकार का भोज्य तैयार करती हैं।

बच्चों के क्रेश (क्रीड़ागृह) और बालोद्यान, स्कूल जाने योग्य उम्र से कम उम्र के बच्चों का लालन-पालन करने में भारी सहायता देते हैं। उन्होंने कुछ हद तक माता को अनेक चिंताओं से मुक्त कर दिया है, उनके जीवन को और भी अधिक सुविधाजनक बना दिया है। इन संस्थाओं की बदौलत लाखों स्त्रियों को अध्ययन करने और सार्वजनिक जीवन में भाग लेने का सुअवसर प्राप्त है।

समस्त सोवियत नगरों और देहाती क्षेत्रों में, प्रायः प्रत्येक बड़े संस्थान या कारखाने में सामूहिक कृषिशालाओं और गृह-निर्माण कारखानों में बच्चों के क्रेश और बालोद्यान चालू हैं। उदाहरणार्थ. मास्को के त्रेखगोर्नाया मैनुफाकत्यूरा टेक्सटाईल मिलों में शिशु-संस्थानों के वास्तविक जाल फैले हैं। यहां तीन क्रेश और आठ बालोद्यान हैं। बालोद्यानों में से एक मास्को के देहात में, और दूसरा काला सागर के किनारे येवपातोरिया में है। बड़े बच्चों के लिए एक शिशु संस्कृति सदन है जिसमें एक पुस्तकालय, वाचन-कक्ष, टेकनिकल कमरे, वर्कशाप तथा एक बड़ा हौल है।

क्रेशों और बालोद्यानों का संचालन मुख्यतः राज्य के व्यय से होता है। इन संस्थानों में बच्चों के रखने पर जो खर्च बैठता है, औसत के हिसाब से उसका ५ से १५ प्रतिशत माता-पिता को चुकाना होता है।

आवश्यकता पड़ने पर माता अपने बच्चों को शिशु-स्वास्थ्यशालाओं में भेज सकती है। इन स्वास्थ्यशालाओं में एक लाख से ऊपर बच्चों के आवास की व्यवस्था है। यहां वे अच्छी तरह आराम करते हैं और उनकी चिकित्सा होती है। स्वास्थ्यशालाओं में बच्चों को रखने का व्यय माता-पिता को नहीं उठाना पड़ता। उनका व्यय पूर्णतया राज्य वहन करता है।

सोवियत संघ में व्यापक पैमाने पर विशेष प्रकार के शिशुसदनों का विकास किया जा रहा है। वे वन-शिक्षालय हैं जो प्रायः देहात में अवस्थित हैं। यहां बच्चे अध्ययन करते हैं और उनकी आवश्यक परिचर्या होती है।

बच्चों को बलशाली बनाने के लिए सामूहिक रूप में जो कार्रवाइयां की जाती हैं उनमें प्रति वर्ष ग्रीष्मकालीन अवकाश का आयोजन उल्लेखनीय है। प्रतिवर्ष पचपन लाख से ऊपर बच्चे और किशोर उपनगरीय अथवा नगरीय-तरुण पायोनियर शिविरों में अपनी छुट्टियां बिताते हैं जबकि बालोद्यानों और क्रेशों के बच्चे पूरी की पूरी गर्मी की छुट्टी बिताने के लिए उपनगरीय क्षेत्रों में ले जाये जाते हैं।

१९५५ में सामाजिक बीमा बजट से ५४ करोड़ से ऊपर

(शेष पृष्ठ ३९६ पर)

कसौटी पर

(१) हवेली और झोंपड़ी, (२) वे और हम (३) चुम्बन और चांटा।

इन तीनों पुस्तकों के लेखक हैं राजा राधिकारमण प्रसादसिंह। प्रकाशक हैं : श्री राज राजेश्वरी साहित्य मंदिर, सूर्यपुरा, शाहाबाद (बिहार); मूल्य (क्रमशः) : २॥), ४), और ५) रु.।

इन पुस्तकों के लेखक राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह पुरानी पीढ़ी के उन पुराने लेखकों में से हैं, जो आज भी पूर्ण शक्ति के साथ लिख रहे हैं। और उतने ही लोकप्रिय हैं। राजा साहब अपनी एक विशिष्ट शैली के लिए हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपना स्थान सुरक्षित कर चुके हैं। वे उर्दू से प्रभावित एक ऐसी शैली में रचना करते हैं जो पाठक को अपने साथ बहा ले चलती है। उनकी भाषा में रस इतना गहरा रहता है कि पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। यद्यपि आज के युग में वह शैली कुछ पुरानी पड़ गई है परन्तु उसका आकर्षण पाठक को अपनी ओर खींचे बिना नहीं रह सकता। बेशक उसमें फैलाव है। लेकिन एक बार जो व्यक्ति उसमें डुबकी लगा लेता है, तो फिर वह ऊबता नहीं। आनन्द में बहा चलता है। वह भाषा ऐश्वर्य की भाषा है। लेकिन उसमें विद्रोह की शक्ति भी कम नहीं है।

प्रभावपूर्ण चित्र प्रस्तुत करने में वह पूर्ण समर्थ है।

"हमारे यहां तो कितनी ऐसी बदनसीब हैं, जिन्हें जवानी के निखार का पता तक नहीं। माता की मर्यादा तो पा गई पर जवानी का तकाजा आते-आते गुम हो गया रोटी के तले।"

"और जवानी की पहली शर्त तो बेफिक्री ही ठहरी। यह सालगिरह का सिलसिला क्या है। हमारी आंखों में उँगलियां डाल दिखा देना है कि लो पैमाना अब भरा, अब भरा।"

इन तीनों पुस्तकों में राजा साहब ने अपने संस्मरण लिखे हैं। **हवेली और झोपड़ी** में उन्होंने गरीब और अमीर, रईस और बेकार, जमींदार और मजदूर इन दो वर्गों में जो अन्तर है, उसका चित्रण किया है। उन्होंने सर्वहारा वर्ग की बेबसी, गरीबी और दीनता का जो चित्रण किया है, उसमें कसक है। उदाहरण के लिए 'मोतीचूर' में एक लड्डू को लेकर जो ताना-बाना बुना गया है, वह चोट करने वाला है। उसके मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी अपूर्व हैं।

राजा साहब स्वयं जमींदार वर्ग के व्यक्ति हैं। उन्होंने अपनी आंखों से इन दृश्यों को देखा, भुगता और अनुभव किया है। इसीलिए उनकी अनुभूति साकार हो उठी है।

यदि '**हवेली और झोपड़ी**' में अमीरी की मार और गरीबी की लागत का चित्रण है, तो '**वे और हम**' में हमारे पुराने शासक अंग्रेजों और शासित भारतीयों के सबंधों के संस्मरण हैं। वे लोग किस प्रकार जीवन का मूल्यांकन करते थे और हम उन्हें क्या समझते थे, यह सब अपने अनुभवों के आधार पर इस पुस्तक में राजा साहब ने चित्रित किया है। इसमें कुछ संस्मरण बहुत मार्मिक हैं। बेशक इसमें शासक वर्ग की उच्छृंखलता दिखाई देती है, लेकिन उनकी मानवता के दर्शन भी हमें मिलते हैं। असल में पूर्व और पश्चिम में जो अन्तर है, उसका यह उदाहरण है। आज वे शासक नहीं रहें, परिस्थितियां भी वे नहीं रहीं, लेकिन अपने भूतकाल के उस युग को समझने में यह पुस्तक अवश्य हमें सहायता देती है।

'**चुम्बन और चांटा**' में राजा साहब ने जिस संस्मरण को संजोया है, वह अपूर्व है। इसका समर्पण चौंका देने वाला है "पुण्य स्मृति में श्रद्धांजलि श्री आशादेवी एम. ए., जो वर्षों अपनी बेवसी में वेश्या रही। अपनी खुशी में कालेज अध्यापिका, शिक्षा विभाग की निरीक्षिका भी।"

इन्हीं आशादेवी के जीवन से प्रेरणा लेकर, सच तो यह है कि उन्हींके मुंह से सुनकर, राजा साहब ने यह कहानी लिखी है। जीवन के अद्भुत सत्य को लेकर, यह पुस्तक एक अपूर्व उपन्यास के रूप में हमारे सामने आती है। आशादेवी ऐसी नारी थी जो उठी थी सारंगी और तबले

की धुन पर, नाक में नथ और पैर में घूंघरू बांध, यारों की मौज पर ठुमक-ठुमक नाचना, वही दो दिन में अपने अन्तर से वह सत्ता ढूंढ़ पाई, कि अपने इल्म और अमल के बल पर आज की उँगली उठानेवाली इस दुनिया को भी अपनी उँगलियों पर नचा कर छोड़ा। इस अद्भुत नारी ने अपनी मृत्यु शैया पर राजा साहब को एक पतिता नारी की कहानी सुनाई जो पेशे के तंग सांचे में जकड़ी रह कर भी ऊपर उठ गई। उसी नारी की व्यथा और वेदना, त्याग और तपस्या, वासना और विसर्जन की कहानी 'चुम्बन और चांटा' में है। इस नारी की कथा को पढ़कर पाठक का मन टीस ही नहीं उठता बल्कि गौरव से तन भी जाता है और आदर से झुक भी जाता है। यह कथा पाठक को आकाश की ऊँचाई तक उठा ले जाती है। राजासाहब की रसवन्ती धारा में यह और भी प्राणवान हो उठी है।

जो गुलाबी पेशे में रह कर भी जल कमल-सी अछूती रही और वृन्दावन के जाने माने स्वामी ने भरे दरबार में जिसके सिर पर हाथ रखा, उस बाजारी नटी और उस निराली विभूति की मर्मस्पर्शी कथा को कह कर राजा साहब धन्य हो गये हैं। गुलाबी, कन्हैया, सेठजी, इन सबका चित्रण बहुत ही प्रभावपूर्ण है। पुस्तक बहुत ही रोचक, मार्मिक और अन्तस्तल को झकझोर देने वाली है।

हमारा पाठकों से आग्रह है कि इन पुस्तकों को एक वार अवश्य पढ़ें।

(१) नये अंकुर, (२) ताई की कहानियां।

लेखक : श्रीराम चिंचलीकर; प्रकाशक—अखिल भारतीय-सर्व-सेवा-संघ काशी; मूल्य : २५ पैसे प्रति।

'नये अंकुर' में, जैसा कि नाम से प्रकट है, नन्हें-नन्हें बालकों से संबंधित कुछ मर्मस्पर्शी घटनाओं का वर्णन है। ये सारी धटनाएं सत्य हैं और इस बात का प्रमाण हैं कि नये युग के निर्माता कैसी संस्कृति में पल रहे हैं और उनका हृदय और मस्तिष्क किस प्रकार तेजी से बदलते हुए युग को पहचान रहा है।

एक छोटे से बच्चे ने देखा कि एक बिल्ला चिड़िया के अंडे खा गया। जब उसकी मां ने आमलेट तैयार करके उसके सामने परोसा और कहा कि खाओ तो उसने उत्तर दिया, 'धत्, मैं बिल्ला नहीं हूँ।' इसी प्रकार जब एक बच्चे के माता-पिता ने हरिजन बच्चों को खाने के लिए बाहर बिठा दिया तो वह भी उनके बीच में जा बैठा और कहने लगा, 'तो तुम्हारा लड़का भी हरिजन है।'

इसी प्रकार की ये मर्मस्पर्शी कहानियां सचमुच पठनीय हैं।

'ताई की कहानियां' में वास्तव में विनोबा के साथ रहने वाली सुश्री विमला ताई ठकार के अनुभव के आधार पर लिखी गई छोटी-छोटी कहानियां हैं। ये कहानियां बहुत ही मार्मिक बन पड़ी हैं। संक्षेप में लेखिका ने उस परिवर्तन का वर्णन किया है, जो भूदान आन्दोलन के कारण देश में आ रहा है। जब एक हरिजन परिवार को जमीन मिली और वह गद्गद् हो उठा, विनोबा के लिए प्रार्थना करने लगा, तब उसका छोटा-सा बच्चा विनोबा को बुलाने के लिए दौड़ा। हालांकि विनोबा की टोली उस गांव से बहुत पहले ही जा चुकी थी। इसी प्रकार ताई जब एक स्कूल में भाषण देने के लिए गई, तो वहां का एक बच्चा घर जाकर अड़ गया, कि भूमि दान दो। लेकिन उसके पिता दूकानदार थे, भूमि कहां से लाते। बच्चा जब रोते-रोते पागल होगया तब उसको लेकर वह ताई के पास आये। ताई ने किसी प्रकार समझा-बुझा कर उसे कुछ किताबें दीं और कहा कि तुम इन्हें बेचो। उस बच्चे ने दिन भर में ३२ पुस्तकें बेचीं। और ताई से कहा, जब मेरी परीक्षा हो जायगी तो मैं भी तुम्हारी पद-यात्रा में शामिल हो जाऊँगा। तुम मुझे लेने आना।'

इस तरह की ये कहानियां हमें बदलते हुए युग का परिचय देती हैं और आशा दिलाती हैं कि नई पौध उस समता को लाने में समर्थ होगी जिसके लिए गांधी ने जीवन दिया और विनोबा सारे भारत में पैदल घूम रहे हैं।

परम्परा : लेखक – हबीब तनवीर; प्रकाशक—मकतबा जामिया लिमिटेड, दिल्ली; मूल्य : १० आना।

इस छोटे से नाटक में लेखक ने अपनी दृष्टि के अनुसार भारत के प्रारम्भिक इतिहास से लेकर आज तक की प्रसिद्ध घटनाओं का वर्णन किया है। नाटक रोचक है और बच्चों को यह समझाने में समर्थ है कि भारत के इतिहास का कैसे विकास हुआ। पांच रंगीन चित्रों ने नाटक का मूल्य और भी बढ़ा दिया है।

देवलोक की ऋतुएं : लेखक—प्रेमलता अग्रवाल; प्रकाशक—लोक साहित्य प्रकाशन, मेरठ; मूल्य २)।

प्राचीन काल से लेकर आज तक हमारे कवियों ने, भले ही उन्होंने किसी भी भाषा में लिखा हो, ऋतुओं का बहुत सुन्दरता से वर्णन किया है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखिका ने भारत की छः ऋतुओं के संबंध में संस्कृत और हिन्दी के प्रमुख कवियों ने क्या लिखा है इसका संकलन किया है। इस पुस्तक की उपयोगिता इस बात में अधिक है कि लेखिका ने विशेष प्रकार की कविताओं को एक स्थान पर एकत्रित कर दिया है। उन्होंने व्याख्या भी की है। लेकिन वर्तमान काल के कवियों को उन्होंने शायद बहुत महत्व नहीं दिया है। शायद यह संभव भी नहीं था, फिर भी यह पुस्तक बहुत उपयोगी है और साधारण पाठक के लिए रसपूर्ण भी है।

गुलिस्तां : अनुवादक—जहूरबख्श; प्रकाशक—हिन्दुस्तान टाइम्स लिमिटेड; नई दिल्ली पृष्ठ : लगभग ३००, मूल्य : ४) रु.।

गुलिस्तां विश्व प्रसिद्ध महाकवि शेखशादी की रचना है। सैकड़ों वर्षों से यह विश्व को अनुप्राणित करती आ रही है। महात्मा शेखशादी उन व्यक्तियों में से थे जो जनता की सेवा करने के लिए संसार में आते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उनके जीवन पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। अनुवादक ने गुलिस्तां का परिचय भी दिया है। शेखशादी ईरान के रहनेवाले थे। योरोप के समालोचकों ने उनको यूनान के महाकवि होरेस के समकक्ष माना है। कुछ लोगों ने तो उन्हें 'एशिया के शैक्सपीयर' की उपाधि दी है। उनकी इस रचना का विश्व की सब प्रसिद्ध भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। भारतीय भाषाओं में भी इससे पहले उर्दू, बंगला, गुजराती आदि भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। लेकिन शायद हिन्दी में यह पहला ही अनुवाद है। इसलिए इसका मूल्य भी अधिक बढ़ गया है। शेखशादी नीति और सदाचार के प्रबल समर्थक थे। उनकी इस रचना में उन्हीं विचारों का प्रतिपादन हुआ है। इस रचना के आठ भाग हैं जिसमें उन्होंने राजनीति, साधु जनोचित नीति, संतोष-लाभ, मौन, प्रेम, दूषित प्रवृत्तियां, शिक्षा आदि पर छोटी-छोटी कहानियों द्वारा प्रकाश डाला है। आठवें भाग में उन्होंने सदाचार के संबंध में व्यावहारिक और अनेक विशेषताओं से संपन्न तथ्य शब्द-बद्ध किये हैं, जो मनुष्य को पारस्परिक रहन-सहन के विचार से आदर्श की ओर ले जाते हैं। कहना न होगा कि ये कथाएं और तथ्य बहुत ही मार्मिक, सजीव और प्राणवान हैं। इनकी भाषा स्वाभाविक सीधी तथा कृत्रिमता से बहुत दूर है। सरलता, मधुरता और प्रसाद गुण, उनकी विशेषता है। कहीं-कहीं उन्होंने कटाक्ष किये हैं। वे कटाक्ष सीधे हृदय में चुभ जाते हैं।

जहां तक अनुवाद का संबंध है हमें यह खुशी है कि अनुवादक ने मूल की विशेषताओं को ध्यान में रखा है और शुद्ध, मुहावरेदार तथा प्रवाहमयी हिन्दी का उपयोग किया है। उन्होंने इस बात का ध्यान रखा है कि यह पुस्तक जहां विद्वानों के लिए उपयोगी है उससे कहीं अधिक उपयोगी है जन साधारण के लिए। पुस्तककी छपाई, सफाई सब सुन्दर है। हमारा विश्वास है कि यह पुस्तक घर-घर में होनी चाहिए।

दीवान-ए-जफर : सम्पादक—बालमुकुन्द मिश्र, प्रकाशक—दिल्ली पुस्तक सदन, नई दिल्ली; पृष्ठ संख्या : १३० रायल साइज; मूल्य : ५) रु.

मुगल साम्राज्य के अन्तिम दिल्ली-सम्राट बहादुरशाह ज़फ़र से सब परिचित हैं। भारत के प्रथम स्वाधीनता युद्ध में उन्होंने सहयोग देकर अपने को अमर कर लिया है। जितने वे अपनी राजनीति के लिए प्रसिद्ध हैं उससे अधिक प्रसिद्ध हैं वे अपनी कविताओं के लिए, अपनी शायरी के लिए। भले ही उनका राज्य सीमित रहा हो लेकिन गजल की दुनिया में उन्हें 'जमीनों का बादशाह' कहा गया है। उन्होंने मुगल बादशाहों के कला-प्रेम को मरने नहीं दिया। उनके दीवान को हिन्दी पाठकों के लिए हिन्दी में पेश करके संपादक ने हिन्दी भाषा की बहुत बड़ी सेवा की है। हिन्दी लिपि में उर्दू भाषा की तो सब चीजें आ ही जानी चाहिए। एक दूसरे को पास लाने में यह प्रवृत्ति बहुत ही व्यवहारिक है। सम्पादक ने ज़फ़र की शायरी का मूल्यांकन किया है और उसका ऐतिहासिक अध्ययन भी। इससे पुस्तक का मूल्य बढ़ गया है। पाठक इस पुस्तक को पढ़ते हुए यह अनुभव किये बिना नहीं रहेगा कि ज़फ़र का मन जैसा सरल था, हृदय जैसा कवित्व से परिपूर्ण था उसी प्रकार

उसकी भाषा भी सरल और कविता के लिए उपयुक्त है। उस काल की बोलचाल की भाषा में भी उन्होंने सुन्दर कविता की है। जैसे यह एक गीत है :—

सुन री सहेली, मोरी पहेली, बाबुल घर में रही अलबेली
माता पिता ने लाड से पाला,
समझा मुझे सब घर का उजाला,
एक बहन थी एक बहनेली।

यह कविता बहुत दिनों तक विवाह के अवसर पर घरों में गाई जाती रही है। यह मार्मिक कविता है। ज़फ़र के अन्तिम समय की कवितायें कितनी मार्मिक हैं, यह तो भारत का बच्चा बच्चा जानता है। अन्तिम समय के उनके ये शब्द :—

आ पड़े हैं मिस्ले शबनम शैरे पुनिया कर चले।
देख अब ऐ बागवां अपना चमन हम घर चले।

काश कि उन्हें कोई बता सकता कि उनका चमन अब पूरी तरह से आबाद है।

हमें विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति जो कविता से और आजादी से प्यार करता है, इस पुस्तक को अवश्य पढ़ेगा।

नये बादल : लेखक—मोहन राकेश; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; पृष्ठ संख्या : १८०, मूल्य २॥) रु.।

मोहन राकेश हिन्दी के नये कहानीकारों में अग्रणी हैं। उन्होंने भारत की नई पीढ़ी की चेतना को अपनी रचनाओं में चित्रित किया है। मनोवैज्ञानिक चित्रमयता उनका सबसे बड़ा गुण है। वे चित्र अनुभूतिपूर्ण और गहरी टीसों से भरे हैं। अन्तर्मन के कलाकार ने जैसे गहराइयों में डूब कर, अपने गहन अध्ययन की कूची से, अनुभूति के रंगों को चित्रपट पर प्रस्तुत किया है। उनकी दृष्टि की प्रखरता उनके प्रत्येक शब्द में प्रतिबिम्बित होती है। बेशक इस संग्रह की सभी कहानियां एक स्तर की नहीं हैं। कुछ चित्र ऐसे लगते हैं जैसे अधूरे रह गये हों। लेकिन अधिकांश कहानियां बहुत ही मार्मिक हैं। इस संग्रह में हमें विशेष प्रिय लगीं—**उसकी रोटी, मलबे का मालिक, फटा हुआ जूता, मरुस्थल और अपरिचित**। **अपरिचित** तो इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी है। इसको पढ़ते हुए मेरा मन तड़पता रहा कि न जाने लेखक इस कहानी का अन्त कैसे करेगा। एक बार तो उसकी अन्त की लाइनें देखने का लोभ भी मैं छोड़ न सका। लेकिन जब कहानी पूरी की तब जैसे मैं कृतकृत्य हो उठा। कोई साधारण लेखक होता तो न जाने इस कहानी को रोमांस के किस दलदल में फंसा देता। 'अपरिचित' की वह सरल हृदया, प्रेमिल नारी सचमुच एक महान् नारी है। वस्तुतः वह **नारी** है। इस नारी को कभी नहीं भुलाया जा सकता और इसी एक कहानी के आधार पर मैं राकेश को भारत का एक श्रेष्ठ कथाकार मान सकता हूं। यह ठीक है कि इन कहानियों में वर्णन का लोभ है इसीलिए कहीं-कहीं विस्तार भी लगता है लेकिन वह वर्णन इतना संवेदनशील, इतना गहरा है और इतना सच्चा है कि आदमी कहीं भी ऊबता नहीं। यह कुशाग्र कलाकार की कुशलता है।

छपाई, सफाई, गैट अप सब सुरुचिपूर्ण और सुन्दर हैं।

गांधीसूक्तिमुक्तावली : ले०—चिन्तामण द्वारकानाथ देशमुख; प्रकाशक—गांधी-स्मारक निधि, नई दिल्ली—१ : मूल्य १)

जैसा कि नाम से प्रगट है प्रस्तुत पुस्तक में गांधीजी की १०० चुनी हुई सूक्तियों का संस्कृत में उल्था प्रस्तुत किया गया है। महात्माजी युग-निर्माता थे, महान सन्त थे। उनके वचन युग-युग तक मनुष्य का पथ-प्रदर्शन करते रहेंगे। उन्हीं वचनों को देव-वाणी संस्कृत में प्रस्तुत करके श्री देशमुख ने एक सुन्दर कार्य किया है। राजाजी ने इस संकलन की भूमिका लिखी है। उन्होंने ठीक ही लिखा है कि गांधीजी के बचनों को संस्कृत श्लोकों में गुम्फित कर श्री देशमुख ने धर्म और आचार शास्त्र की बहुत बड़ी सेवा की है। श्री देशमुख अर्थशास्त्री के रूप में प्रसिद्ध हैं परन्तु उनकी प्रतिभा बहुमुखी है। यह पुस्तिका इसका प्रमाण है।

गांधी जयन्ती के अवसर पर इस पुस्तक का प्रकाशन करके गांधी-स्मारक-निधि ने भी बहुत सुन्दर काम किया है।

हमारे सहयोगी

इधर राजधानी में दो नये पत्रों का उदय हुआ है। एक है द्वैमासिक **पम्पोश** (कमल)। यह कश्मीरी वज्मे

अदब, दिल्ली का मुखपत्र है और कश्मीरी संस्कृति तथा साहित्य का परिचय देना इसका उद्देश्य है। यह नागरी और फारसी दोनों लिपियों में छपता है। हिन्दी-उर्दू के अतिरिक्त कश्मीरी भाषा में भी रचनाएं इस-में हैं। यह प्रयत्न निस्संदेह प्रशंसनीय है। रचनाएं भी सुन्दर हैं। वर्तमान परिस्थितियों में इसका प्रकाशन और भी महत्त्व-पूर्ण है। भारत के विभिन्न प्रांतों को एक दूसरे के पास आने का एक बड़ा साधन साहित्य है। वही साहित्य इस पत्रिका के द्वारा हिन्दी-उर्दू भाषा भाषियों के पास पहुँच रहा है। हम इसका स्वागत करते हैं। वार्षिक मूल्य ४) है। पता है, ७३४, बल्लीमारान, दिल्ली–६।

'मधुकर' हिन्दी का मासिक है। वार्षिक शुल्क ६) रुपया। सम्पादक : श्री राजेन्द्र शर्मा। श्री राजेन्द्र शर्मा अनुभवी और उत्साही सम्पादक हैं। पहले ही अंक में उन्होंने अपनी विवेक बुद्धि और सूझ-बूझ का अच्छा परिचय दिया है। छपाई-सफाई, गेट अप सब संतोषजनक है। सामग्री का स्तर काफी ऊँचा है। अनेक जाने माने साहित्यिकों ने इसके कलेवर को सजाया है। रावी, श्रीमती सौनरेक्सा, माखनलाल चतुर्वेदी, आनन्दप्रकाश जैन, विश्वनाथ शास्त्री, सुनीत अग्रवाल, कंचन, सत्यदेव, वि. ल. अवनींद्रविद्यालंकार, आदि की रचनाएं विशेष रूप से पठनीय हैं। हमें विश्वास है कि श्री राजेन्द्र शर्मा के हाथों में इस सुन्दर पत्र का भविष्य उज्ज्वल है। पता––२७/५, शक्तिनगर, दिल्ली।

'साहित्य संदेश' आगरा का सुप्रसिद्ध पत्र है। १९ वर्ष से वह हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा कर रहा है। समय-समय पर उसने बहुमूल्य विशेषांक निकाले हैं। प्रस्तुत **भाषा विज्ञान विशेषांक** उसी माला की एक मणि है। इसमें न केवल हिन्दी भाषा, व्याकरण और लिपि पर गवेषणात्मक लेख हैं, बल्कि भारत की दूसरी भाषाओं की भी चर्चा है और अच्छी जानकारी देने वाली चर्चा है। यह अंक परिशिष्टांक सहित बहुत ही उपयोगी सामग्री से ओतप्रोत है। विद्यार्थियों को तो इससे लाभ होगा ही, साधारण पाठक भी इसमें रस लेंगे। परिशिष्टांक तो बहुत ही उपयोगी है। भाषा विज्ञान की विभिन्न प्रवृत्तियों की इसमें चर्चा है। भाषा के विद्यार्थियों को इसे अवश्य देखना चाहिए।

–सुशील

(पृष्ठ ३९१ का शेष)

केवल अकेले स्कूली बच्चों की ग्रीष्मकालीन छुट्टी का संघटन करने के लिए नियत किए गए।

चाहे बच्चे क्रेश, बालोद्यान या, स्वास्थ्यशाला कहीं भी हों— हर जगह उनके स्वास्थ्य एवं शारीरिक विकास पर ध्यान देने के लिए बालरोग विशेषज्ञ तथा प्रशिक्षित परि-चारिकाएं हैं। आज ३८ हजार से ऊपर डाक्टर शिशु-चिकित्सा-रोगनिरोध-संस्थाओं में काम कर रहे हैं। इस संख्या में प्रतिवर्ष वृद्धि हो रही है। आज उच्चतर चिकित्सा-शिक्षालयों में २३ विभाग हैं जिनमें बालरोग संबंधी विशेष प्रशिक्षण की व्यवस्था है। इसके अलावा लेनिनग्राद के विशेष बालरोग-संस्थान में बच्चों के डाक्टर प्रशिक्षित किए जाते हैं। सोवियत संघ में हजारों विशेषज्ञ बाल-रो-रोग निरोध एवं चिकित्सा की नई पद्धतियां निकालने में लगे हैं।

हिंदी का स्नेहसूत्र

भारत में अंग्रेजी भाषा सब लोगों को जोड़नेवाली कड़ी नहीं बन सकती। हिंदी ही वह प्रेम-तंतु है। तंतु कच्चा होता है, इसलिए उसमें जबर्दस्ती नहीं चल सकती, कैदियों को बांधनेवाली मजबूत शृंखला तो लोहे की होती है, परंतु प्रेम-तंतु कच्चा! फिर भी प्रेम के कारण लोग उसे टूटने नहीं देते!

लेकिन हिंदी का अभिमान रखनेवाले कुछ लोग उसकी खींचातानी करके उसको तोड़ने की कोशिश करते हैं। पंजाब का आंदोलन नाहक चलाया है! पंजाब पर कोई संकट आ गया है, ऐसा वे मानते हैं! एक मनुष्य अनेक भाषा जाने, इसमें क्या आपत्ति है? वह तो आपत्ति नहीं, संपत्ति है! लेकिन संकुचित बुद्धि ऐसा नहीं सोचती। न वह व्यापक विचार करती है। वहां जो सत्याग्रह चल रहा है, उसमें सत्य है या नहीं, पता नहीं, लेकिन आग्रह तो दीखता है! हम आलो-चना नहीं कर रहे हैं। लेकिन यह कहना चाहते हैं कि हिंदी का ऐसा आग्रह नुकसानदेह है। प्रेम से लोग उसको स्वीकार करते हैं, यही उसकी ताकत है।

––विनोबा

क्या व कैसे ?

—हमारी राय

शान्त-क्रान्ति की एक और सफलता

भारत को स्वतंत्रता मिलने के भले ही कई कारण रहे हों, पर राष्ट्रपिता की अहिंसक अथवा शांत क्रांति उनमें प्रमुख रही है। इस तथ्य ने विश्व को प्रभावित किया है। पंचशील की पुकार और उसका सर्वव्यापी समर्थन इसी का प्रमाण है। स्वतंत्र होने के बाद भारत के सामने जो समस्याएं सबसे ऊपर रही हैं, उनमें भूमि की समस्या सर्वोपरि और सबसे जटिल है। भारत ने दो ओर से इस समस्या पर आक्रमण किया। एक मार्ग सरकार का था, दूसरा विनोबा का। एक का आधार, सद्भावना के होते हुए भी, सत्ता था क्योंकि आज के वातावरण में सत्ता के बिना सरकार की कल्पना नहीं की जा सकती। दूसरी ओर गांधी के प्रकाश में विनोबा ने भूदान-आन्दोलन शुरू किया। आज इसी आन्दोलन की परिणिति ग्रामदान में हुई है और न केवल भारत सरकार ने बल्कि भारत के विभिन्न राजनैतिक दलों ने उसका समर्थन किया है।

आज ग्रामदान के कारण अहिंसक नवरचना का स्वप्न पूरा होता दिखाई दे रहा है। और यह भी दिखाई दे रहा है कि विभिन्न मतवादों के बीच की रेखाएं मिट रही हैं। क्या यह अद्भुत क्रांति नहीं है? वर्ग और विग्रह के इस युग में क्या इसका महत्त्व अभूतपूर्व नहीं है? जिस भूमि समस्या का हल करने के लिए इन्सान ने अनेक बार अपने हाथ रक्त से रंगे, वही समस्या ग्रामदान के कारण प्रेम से सुलझ रही है। हृदय परिवर्तन की शक्ति का उदाहरण और क्या होगा?

भारत सरकार देश में सहकारी खेती और सहयोगी ग्राम प्रबन्ध का विकास करना चाहती है। वह श्रमदान में अपने इस उद्देश्य की पूर्ति देखती है। साम्यवादी और समाजवादी दल ग्रामदान में साम्यवाद की स्थापना के बीज देखते हैं। सह अस्तित्त्व आज के युग की पुकार है और ग्रामदान उस पुकार को कार्यान्वित करने का पूरा अवसर देता है। इसीलिए सर्व सेवासंघ के तत्त्वावधान में यलवल (मैसूर) में आयोजित एक सम्मेलन में सब दलों ने ग्रामदान का समर्थन किया है।

हम इससे बहुत प्रसन्न हैं पर इसका यह अर्थ नहीं है कि क्रांति पूर्ण हो गई। यह तो पूर्णता का आरम्भ मात्र है। और इसलिए पहले से अधिक सजगता, सक्षमता और जन-सहयोग की आवश्यकता है। वास्तविक कार्य अब आरम्भ होना है। गांव को केन्द्र बना कर नई समाज-व्यवस्था तभी स्थापित हो सकेगी जब भारत का प्रत्येक व्यक्ति अपना दायित्त्व समझेगा और समझेगा कि व्यक्तित्त्व के विसर्जन का अर्थ अपनत्व का विनाश नहीं है बल्कि उसको व्यापक बनाना है, स्वार्थ के बन्धनों से मुक्त करना है।

विनोबा का ग्रामदान इसी लक्ष्य की पूर्त्ति की ओर एक बढ़ता हुआ कदम है।

आतमबल की शक्ति

अभी ग्रामदान को लेकर जो सम्मेलन यलवल (मैसूर) में हुआ, उसमें भारत के प्रधान मंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू भी सम्मिलित हुए थे। उन्होंने न केवल विनोबा के कार्य की सराहना की, बल्कि उनके आत्मबल की भी बड़ी प्रशंसा की। पण्डितजी ने यह कोई अनोखी बात की है, ऐसी बात नहीं, लेकिन कुछ कारणों से जाने अनजाने कुछ लोग यह भ्रांति फैलाने से नहीं चूकते कि भारत का शासक वर्ग धर्म-हीन है। उन्हें पंडितजी के ये शब्द पढ़ने चाहिए—

"मैंने उनमें (विनोबा में) ऐसा आत्मबल देखा जो अदृश्य रूप में बड़े-बड़े परिवर्तन करने वाला है......यह आत्मबल जिसकी मैं व्याख्या नहीं कर सकता, सिर्फ अनुभव कर सकता हूं, वाह्य सभ्यता से बड़ी चीज है। आध्यात्मिकता की पृष्ठभूमि से हीन सभ्यता खोखली है और गलत लक्ष्यों, विश्व-युद्धों, और महत्तम विपत्तियों की ओर ले जानेवाली है। आत्मबल ही गलत चीजों का सामना कर सकता है।"

धर्म क्या इससे भिन्न होता है?

ये लज्जास्पद उपद्रव

दक्षिण भारत के रामनाथपुरम जिले में पिछले कुछ दिनों में कई लज्जास्पद उपद्रव हुए। जिस अस्पृश्यता को भारत का संविधान अपराध घोषित कर चुका है, उसीका उग्र रूप वहां देखने में आया। सवर्णों और हरिजनों में काफी तेज मुठभेड़ हुई और सरकार की सशस्त्र पुलिस को गोलियां चलानी पड़ीं, जिसके फलस्वरूप कई व्यक्ति प्राणों से हाथ धो बैठे। इन बर्बर उपद्रवों की सभी ने निन्दा की है परन्तु क्या यही काफी है। कहते हैं कि सवर्ण लोग युद्ध-प्रिय जाति के हैं। शहादत उनके लिए बड़ी सरल है, परन्तु क्या हरिजनों पर आक्रमण करके शहादत का जाम पीना उनकी वीरता में चार चांद लगाने वाला होगा। वे इस पर सोचें और स्वयं उत्तर दें। हमें विश्वास है कि स्वयं उनकी आत्मा उनकी प्रतारणा करेगी।

गोली क्यों चलानी पड़ी और क्या बिना गोली के शासन चल ही नहीं सकता, यह बात भी विचारणीय है। बेशक सरकार आंख मूंदकर उपद्रवों की साक्षी नहीं हो सकती पर गांधी के देश की, गांधी की छाया में पनपी सरकार से यह आशा तो की ही जा सकती है कि वह गोली के विकल्प की खोज करे। जनता को अधिक-से-अधिक विश्वासमें लिये बिना मुक्ति नहीं है। जनता का भी यह कर्तव्य है कि वह कानून की प्रतिष्ठा करे। अन्ततः वही कानून की निर्मात्री है।

लेकिन यह प्रश्न इतना ही नहीं है। इसके पीछे गहरे अन्धविश्वास और असहिष्णुता का बल तो है ही; दूषित राजनीति का हाथ भी है। हमारे समाज-सुधारकों का कर्तव्य है कि वह इन कारणों की जड़ पर प्रहार करें। कानून जहां असफल हो जाता है वहीं विवेक और प्रेम का आग्रह काम करता है। यद्यपि इस समय वहां शांति है पर जो कुछ हो चुका है, वह लज्जास्पद तो है ही, चुनौती भी है।

गाँधी के सेवकों को इस चुनौती को स्वीकार करना चाहिए।

गांधी-जयंती

एक बार फिर देश राष्ट्रपिता का जन्म दिवस मना रहा है। हर वर्ष की भांति बहुरंगी मेले, अखंड चरखा-यज्ञ, उत्सव, प्रार्थना सभाएं ये सभी होंगी। एक दिन के लिए देश फिर गांधीजी का स्मरण करेगा, लेकिन प्रश्न यह है कि क्या राष्ट्रपिता का ऋण इसी प्रकार चुकाया जाना चाहिए। क्या एक दिन श्राद्ध की रस्म अदा कर देने से ही हमारा कर्तव्य पूरा हो जाता है?

हम तो यह समझते हैं कि राष्ट्रपिता की स्मृति के लिए यह कार्यक्रम निहायत ही गौण है। उनकी स्मृति इस दिन के अतिरिक्त शेष ३६४ दिनों में आनी अधिक आवश्यक है, क्योंकि स्वराज्य को सुराज्य में परिवर्तन करने के लिए नाम लेना धोखा है, दम्भ है। सत्य है ठोस कार्य और उनकी भावना को आत्मसात करना। लकीर पीटना एक बात है और उनके संदेश को समझना दूसरी बात। हम नाम में उलझ कर उनके संदेश को भुला बैठे हैं। उसे याद करने के लिए किसी विशेष दिन की आवश्यकता नहीं है।

क्या हम 'सत्य और अहिंसा' इन दो शब्दों के अर्थ समझ कर इन्हें जी सकेंगे? जिस दिन हम ऐसा कर सकेंगे, उसी दिन उनका श्राद्ध संपन्न होगा।

सम्पादक की विदेश यात्रा

'जीवन-साहित्य' के पाठकों को यह जान कर प्रसन्नता होगी कि पत्रिका के सम्पादक श्री यशपाल जैन दो माह से रूस तथा यूरोप के दूसरे प्रदेशों की यात्रा पर हैं। इस यात्रा में वे गांधीजी का सन्देश वहां की जनता तक पहुँचा रहे हैं। लौटने पर वे अपने अनुभव पत्रिका के माध्यम से आप तक पहुँचायेंगे।

इस यात्रा के कारण हो सकता है हमें अपना विशेषांक कुछ दिन के लिए स्थगित करना पड़े। अगले मास निश्चित सूचना दी जा सकेगी।

—सु०

सूचना

गत मास से 'जीवन-साहित्य' के कुछ सदस्यों की ग्राहक-संख्या में, व्यवस्था की दृष्टि से, परिवर्तन कर दिया गया है। कृपया भविष्य में पत्र-व्यवहार करते समय रैपर पर लिखी परिवर्तित संख्या का ही उल्लेख करें।

—व्यवस्थापक

कश्मीरी बज़्मे अदब दिल्ली का प्रकाशन

पम्पोश (कमल)

हर दो महीने के पश्चात् दिल्ली से प्रकाशित किया जाता है। इसमें भारतीय विद्वानों और मनीषियों के कश्मीरी साहित्य एवं संस्कृति-सम्बंधी गवेषणापूर्ण लेख छपते हैं। हिन्दी एवं उर्दू लेखकों की उत्तम रचनाओं का कश्मीरी रूपान्तर देने के साथ-साथ कश्मीरी रचनाओं का उल्था भी भारतीय-जन के लिए हिन्दी एवं उर्दू में प्रकाशित किया जाता है। राष्ट्रभाषा और प्रांतीय भाषा का परस्पर सहयोग, संपर्क-स्थापन एवं आदान-प्रदान पम्पोश का मुख्य ध्येय है।

राजधानी से प्रकाशित होनेवाले अपने ढंग के इस अनुपम पत्र--पम्पोश--का

वार्षिक शुल्क केवल ४) रु० और एक प्रति का ।।।) या ७५ नये पैसे है।

मिलने का पता--

प्रबंधक 'पम्पोश'

७३४ बल्लीमारां, दिल्ली।

क्या आप जानना चाहते हैं ?

- दूसरी पंचवर्षीय योजना का विवेचनात्मक परिचय
- स्वतन्त्र भारत में कृषि-उद्योग, यातायात, वाणिज्य, व्यापार तथा बैंकिंग क्षेत्रों की उन्नति, भारत की वर्तमान औद्योगिक व आर्थिक समस्याएं।

तो मार्च १९५६ में प्रकाशित हिन्दी की एकमात्र उत्कृष्ट आर्थिक पत्रिका

सम्पदा

राष्ट्रीय विकास-अंक

आज ही मंगाइये : मूल्य १।)

भूमि सुधार अंक २), वस्त्र-उद्योग अंक १।), मजदूर अंक १।) और उद्योग अंक १।) के साथ मनीआर्डर से मंगाने पर केवल ५।।) रुपये में डाक व्यय समेत।

मैनेजर 'सम्पदा,' अशोक प्रकाशन मन्दिर,
रोशनारा रोड, दिल्ली

'आर्थिक समीक्षा'

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के आर्थिक-राजनीतिक अनुसंधान विभाग का पाक्षिक पत्र

प्रधान सम्पादक :
आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल

सम्पादक :
हर्षदेव मालवीय

हिन्दी में अनूठा प्रयास
आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख
आर्थिक सूचनाओं से ओतप्रोत

भारत के विकास में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यावश्यक, पुस्तकालयों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक।

वार्षिक चन्दा ५) रु० एक प्रति का साढ़े तीन आना

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग
अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी,
७, जन्तर मन्तर रोड, नई दिल्ली

गांधीजी के जन्म दिवस पर

गांधी-साहित्य

का

अध्ययन और चिंतन कीजिए।

गांधीजी लिखित

१. प्रार्थना-प्रवचन भाग १-३) भाग २-२।।)
२. गीता-माता ४)
३. पंद्रह अगस्त के बाद १।।), २)
४. धर्मनीति १।।), २)
५. द० अफ्रीका का सत्याग्रह ३।।)
६. मेरे समकालीन ५)
७. आत्मकथा २।।), ४)
८. आत्म-संयम ३)
९. संक्षिप्त आत्मकथा १), १।।)
१०. सत्यवीर की कथा ।)
११. हिंद-स्वराज्य ।।।)
१२. बापू की सीख ।।।)
१३. गांधी-शिक्षा (तीन भाग) १=)
१४. अनीति की राह पर १)
१५. आज का विचार (२ भाग) ।।।)
१६. ब्रह्मचर्य भाग १ १)
१७. ब्रह्मचर्य भाग २ ।।।)
१८. गीता-बोध ।।)
१९. अनासक्तियोग १।।)
२०. हृदय मंथन के पांच दिन ।)
२१. ग्राम-सेवा ।=)
२२. मंगल-प्रभात ।=)
२३. सर्वोदय ।=)
२४. नीति-धर्म ।=)
२५. आश्रमवासियों से ।=)
२६. हमारी मांग १)
२७. अगर मैं डिक्टेटर होता ! ।)
२८. शराबबंदी करें ! ।)
२९. स्वराज में अछूत कोई नहीं ।)
३०. खादी पहनो ।)
३१. शिक्षा एसी हो ।)
३२. गांधी-डायरी १९५८ बड़ी—२) छोटी—१)
३३. रामनाम की महिमा १)

अन्य द्वारा लिखित

१. राष्ट्रपिता (जवाहरलाल नेहरू) २)
२. इंग्लैंड में गांधीजी (महादेव देसाई) २)
३. कारावास कहानी (डा. सु. नैयर) १०)
४. गांधी-गौरव (काव्य) (गोकुलचंद्र शर्मा) १)
५. गांधी की कहानी (लुई फिशर) ४)
६. बा, बापू और भाई (देवदास गांधी) १)
७. गांधी अभिनंदन ग्रंथ (सं. राधाकृष्णन्) ४)
८. गांधी श्रद्धांजलि ग्रंथ (सं. राधाकृष्णन्) ३)
९. बापू के आश्रम में (हरिभाऊ उपा.) १)
१०. पांचवे पुत्र को बापू के आशीर्वाद ८)
११. बापू (घनश्यामदास बिड़ला) २)
१२. जीवन-प्रभात (प्रभुदास गांधी) ५)
१३. गांधीजी की छत्रछाया में १।।), २।।)
१४. गांधीजी की देन (राजेन्द्रप्रसाद) १।।)
१५. गांधी विचार-दोहन (कि. मशरू.) १।।)
१६. गांधी-मार्ग (राजेन्द्रप्रसाद) =)
१७. गांधीवाद समाजवाद (संकलन) २)
१८. गांधीजी को श्रद्धांजलि (विनोबा) ।=)
१९. गांधीजी का विद्यार्थी-जीवन (अशोक) ।=)
२०. गांधीजी का संसार-प्रवेश (अशोक) ।=)
२१. गांधीसूक्तिमुक्तावली (चिंतामण द्वारकानाथ देशमुख) १)

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

रजिस्टर्ड नं०
डी. २२८

यों भी तो देखिये

वियोगी हरि

सत्साहित्य प्रकाशन

हमारा
नवीनतम
प्रकाशन

व्यंग्यात्मक लेखों
का संग्रह

कवि, लेखक, कलाकार, चित्रकार, प्रचारक, राष्ट्रकर्मी ग्रामोद्धारक, नेता, शासक आदि समाज के कतिपय धुरीणों का व्यंग्यात्मक चित्रण सुंदर छपाई : पृष्ठ संख्या १०० मूल्य १)

स स्ता सा हि त्य मं ड ल, न ई दि ल्ली

मार्तण्ड उपाध्याय मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली ... प्रिंटिंग वर्क्स, दिल्ली में छपाकर प्रकाशित।

नवम्बर, १९५७

अहिंसक नवरचना का मासिक

जीवन साहित्य

अंदर पढ़िए

सम्पादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन

सस्ता साहित्य प्रकाशन

मूल्य
वार्षिक ४) एक प्रति ।=)

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली तथा बिहार राज्य सरकारों द्वारा
स्कूलों, कालेजों लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

जीवन साहित्य

वर्ष १८] नवम्बर, १९५७ [अंक ११

रचनात्मक संस्थाएं और शांति-सेना

विनोबा

सर्व-सेवा-संघ के सामने हमने बात रखी है कि तुमको तो सारे भारत में बिलकुल फैल जाना है और वह फैल जाने का कर्त्तव्य, नेताओं ने जो संहिता बनाई, उसमें आता है। यह मेरा उस संहिता का भाष्य समझ लीजिए। एक भाष्य तो मैं कल की सार्वजनिक सभा में कर चुका हूं और आज यह दूसरा भाष्य आप लोगों के सामने रख रहा हूं। अ० भा० ग्रामदान-परिषद् के वक्तव्य की संहिता कह रही है कि कम्युनिटी प्रोजक्ट के काम से सहयोग होना वांछनीय है। इसका अर्थ आप क्या समझें? यह संहिता आप को हिदायत दे रही है कि कम्युनिटी प्रोजेक्ट पांच लाख गांवों में फैलनेवाला है। तो कल वह कम्युनिटी प्रोजेक्ट वाला अधिकारी आपके सामने आयेगा और पूछेगा कि आपके क्या सुझाव हैं। इसपर आप क्या यह कहेंगे कि हमारा तो वहां मनुष्य ही नहीं है। तो उस संहिता के आदेश का पालन आपने नहीं किया। उनके साथ आपने सहयोग नहीं किया। यह कहना कि हमारा यह कोई सहयोग है। जितने गांवों में वे फैले हैं, उतने गांवों में आपको फैल जाना चाहिए तब तो सहयोग होगा। हम चाहते हैं कि कुल गांव ग्रामदानी बने। यह न हो, तो भी उसकी हवा जरूर फैले और जो कम्युनिटी प्रोजेक्ट इत्यादि योजना चले उस योजना में सर्वोदय का रंग हो। सब कहीं कम्युनिटी प्रोजेक्टवाले फैले हों और हम सब कहीं न फैले हों, तो उस हालत में हमारा उन पर क्या रंग चढ़ेगा? वे कहेंगे, हम मानते थे कि ये सर्वोदयवाले कुछ सहयोग कर सकेंगे लेकिन इनकी कोई हस्ती नहीं है। थोड़ी कोरापुट में है तो उतना सहयोग वहां पर मिला। इनके कुछ पाकेट्स हैं, लेकिन सर्वत्र हमको उनका सहयोग नहीं मिल सकता। इस वास्ते इस संहिता ने हम पर जिम्मेवारी डाली है हम कि हर गांव में फैले और उसका यह तरीका है कि ग्रामराज्य हो चुका है, ऐसा हम समझ कर चलें। ग्रामदान का और ग्राम-निर्माण का कार्य भी जारी रहेगा, परन्तु ग्राम्यरक्षण के लिए शांति-सेना जरूरी है और उसका आधार है सम्मतिदान। सम्मतिदान याने कार्यकर्त्ताओं के लिए पैसा या द्रव्य हासिल करने की युक्ति नहीं। वह हम उसी हिस्से में चलायेगें जहां कि हम शांति सेना की योजना बनायेंगे। नहीं तो हम घर-घर जाकर मांगेंगे, तो उसमें शक्ति का अपव्यय होता है। वह नाहक मांगना है। सक्रिय काम करने के लिए प्रतिज्ञा हमने नहीं मांगी है। हम तो इस सम्मतिदान को यह अर्थ देना चाहते हैं कि जिसने वह सम्मतिदान दिया, नारियल हमको दिया, उस शख्स ने प्रतिज्ञा की कि आपके काम में हमारा सहयोग होगा। आप काम नहीं करते, तो सहयोग काहे का मागते हो। इसलिए जिस क्षेत्र में ऐसा काम करना चाहते हैं, उस क्षेत्र में सम्मतिदान की बात हम करेंगे और ऐसा क्षेत्र बनाते-बनाते कुछ सारे भारत को हम

व्याप्त करेंगे।

मैंने कहा कि इसमें कमांडर की बात माननी होगी। श्रद्धेय सेनापति और श्रद्धावान् सैनिक और विशिष्ट क्षेत्र की सेवा-योजना तीनों यहां मौजुद हो, वहां उस स्थान के लिए कोई कमांडर मिला है, तो उसकी कमांड माननी होगी।

सारे भारत की शांति-सेना के लिए भी कोई सुप्रीम कमांड चाहिए। यह परमेश्वर ही करेगा। जिस भाषा में मैं बोल सकता हूं, उससे दूसरी भाषा बोलने की ताकत मुझमें नहीं है। पर फिर भी मुझे लगा कि लक्षण यह दीखता हे कि अखिल भारत में शाति-सेना के सेनापतित्व की जिम्मेवारी बिनोवा को उठानी होगी। ऐसा लक्षण दीखता है और वैसी मानसिक तैयारी 'बिनोवा' ने कर ली है।

यह बात आप लोगों के सामने तो हमने रख दी। हमारे दूसरे मित्रों के सामने भी रखी है, जो चिंतित भी हैं कि देश में शांति कैसे बने। उसी दिशा में हमको तैयार होना है। उसके लिए क्या-क्या करना पड़ेगा, हमको नये सिरे से सोचना चाहिए।

क्या करना पड़ेगा, इसके लिए मैं सोचता हूं, तो करना यह पड़ेगा कि हमारी जितनी रचनात्मक संस्थाएं हैं, उन सब रचनात्मक संस्थाओं का इस काम के लिए समर्पण हो जाना चाहिए—चाहे वह खादी का काम करती हों, चाहे अस्पृश्यता-निवारण का, चाहे नई तालीम का—उन संस्थाओं का समर्पण इस काम के लिए होना चाहिए। जो खादी-सेवक शांति-सैनिक नहीं बनेगा, उसको हम हीन नहीं समझेंगे, वह भी एक सेवक है। करे सेवा। परंतु जो खादी-सेवक शांति सैनिक बनेगा, वह खादी को जिंदा रखेगा। दूसरा सेवक खादी को जिंदा नहीं रखेगा, बल्कि खादी के जरिये स्वयं जिंदा रहेगा। वह खादी का पालन नहीं करेगा, खादी उसका पालन करेगी। ऐसे भी लोग हमको चाहिए और वे समाज में करोड़ों की तादाद में हैं भी। आखिर हमने ज्यादा सेवक मांगे ही नहीं। देश में इन ७० हजार के अलावा जितने होंगे, हमारे स्वामी हैं वे। उनकी हमको सेवा करनी है।

पर ये ७० हजार कहां से आयेंगे, यह जब हम सोचते हैं, तो हमको पहला जो क्षेत्र दीखता है, जहां से चुनने का मौका हमको मिलता है और अपेक्षा रखने का अधिकार है, तो ये सारी संस्थाएं हैं। कभी-कभी ऐसा होने संभव होता है कि अपनी अपेक्षा के क्षेत्र से अपेक्षा पूरी नहीं पड़ती है और अनपेक्षित क्षेत्र से अपेक्षा पूरी पड़ती है। इसीलिए तो ईश्वर को मानना पड़ता है। अगर आपकी सबकी-सब अपेक्षा पूरी होती, तब तो ईश्वर की कोई जरूरत ही नहीं है, ऐसा होता और हम कहते, "हम हैं और हमारी योजना है, पार पड़ जायगी!" परंतु कोई चीज है जरूर। हमसे योजना नहीं बनती है, उससे बनती है। इसलिए अनपेक्षित क्षेत्र में भी ऐसे लोग हमको मिलते हैं। पहले हमको कोशिश तो अपेक्षित लोगों के क्षेत्र में करनी चाहिए। ऐसी जितनी रचनात्मक संस्थाएं हैं, कुल-की-कुल गांधीजी के नाम से जितनी निकली हैं, बाबा कहना चाहता है कि बाबा का उन सब संस्थाओं पर अधिकार है। उनमें एक भी संस्था यह नहीं कह सकती कि बाबा का अधिकार नहीं है। लेकिन फिर भी अधिकार कमवेशी होता है। बाबा का जहां अधिक-से-अधिक अधिकार था, ऐसी एक संस्था का ग्राम-सेवा-मंडल, गोपुरी, वर्धा का हमने समर्पण करने का सोचा है। हमने वंग आदि भूदान-कार्यकर्त्ताओं को कह दिया है कि तुम इस संस्था का चार्ज ले लो। सारे भूदान-सेवक बिल्कुल घर-बार छोड़ कर काम में लगे हुए हैं। तुम उस संस्था का अधिकार ले लो और जिस तरह से उसको चलाना चाहते हो, भूदान-यज्ञ-मूलक रूप उसको देने के लिए, उसमें जो भी परिवर्तन करना चाहो, कर सकते हो। ऐसा हमने उनको अधिकार दे दिया है। तदनुसार कुछ चर्चा होकर इस संस्था में परिवर्तन के लिए गुंजाइश है, वह आगे होनेवाली है। पर जिस वक्त यह प्रस्ताव किया था, तब शांति-सेना की बात उस संस्था के सामने हमने रखी नहीं थी। वह हमारे मन में थी। वह हम इधर कर रहे थे। सिर्फ इतना ही कहा था कि भूदान-मूलक (अब तो ग्रामदान मूलक) ग्रामोद्योग-प्रधान शांतिमय क्रांति के लिए यह संस्था समर्पण हो। लेकिन अब हम सोचते हैं कि बिना शांति-सेना के अहिंसात्मक क्रांति संभव नहीं है।

तो वह शांति-सेना भी उस ध्येय के अन्दर आ ही जाती है। संस्था वाले जरा सोचें और निर्णय करें। जो शांति सैनिक नहीं बन सकते हैं, वे अपना कुछ काम कर सकते हैं। कोई यह न सोचे कि और किसी को यह न सुझाया जाय कि तुम शांति-सैनिक बनो! आखिर यह तो बात ऐसी है कि "हरिनो मारग छे शूरानो"—तो अंदर से सूझना चाहिए। हाथ में तलवार हम दे सकते हैं कि जाओ, मारने का साधन तुमको दे दिया; मरने का मौका आया, तो राजी रहो। आज की पद्धति में यह भी होता है कि राजी रहने की बात ही नहीं है। वह पीछे हटेगा, तो गोली से मारा जायगा। एक दफा अगर उसके हाथ में बंदूक देकर ढकेल दिया आदमियों में, तो मरने का मौका आया। भागना रखा ही नहीं है उसके हाथ में। वह सहूलियत ही नहीं रखी। वह पीछे हटेगा, तो अपने लोगों की मार खायेगा। इस वास्ते उसके सामने आल्टरनेटिव (विकल्प) यही है कि पीठ दिखा कर अपने लोगों की मार खाये, नहीं तो सामने वालों की मार खाये। शौर्य को बिल्कुल 'मेकनाइज' (यांत्रिक) कर दिया। शौर्य की आवश्यकता गुण के तौर पर नहीं रही। शौर्य यांत्रिक बन गया। ऐसी हमारी कोई हालत है नहीं। इस वास्ते इसमें सावधानी से कदम उठायें, यही अच्छा है।

सैनिक संख्या कम मिले, यही अच्छा है। धीरे-धीरे वह बढ़ेगी। ग्राम-सेवा-मंडल हम इस काम के लिए अर्पण करना चाहते हैं, ऐसा उनको सुझाया। दूसरी भी संस्था ऐसी आयगी, जब यह ध्यान में आयेगा कि शांति-सेना की बहुत जरूरत है। रामनाथपुरम् और मदुराई जिलों में ग्रामदान की हवा बहुत फैली। क्या अब आप समझते हैं कि वहां ग्रामदान होगा? मार-काट चल रही है, वहां ग्रामदान कैसे होगा? जो बेसिक वस्तु है शांति, बुनियादी प्रेम, परस्पर प्रेम, वह शांति अगर नहीं रही, तो प्रेम का उत्कर्ष जिसमें प्रगट होनेवाला है, वह कैसे होगा? इसलिए ग्रामदान वगैरह मृगजल साबित होगा! अब इधर हम केरल में घूमते थे, तो हमारी चिन्ता बढ़ रही थी पंजाब के लिए! अपने देश के लिए यह बड़ी दुखदायी बात है। बिल्कुल छोटी-सी चीज है। उसमें कोई सार नहीं है। एक लिपि सीखने की बात और वह भी ऐसी लिपि कि जिसमें एक तिहाई अक्षर तो नागरी के ही हैं और दो-तिहाई में से एक-तिहाई करीब-करीब नागरी की शकल के हैं और थोड़े ही अक्षर भिन्न हैं। ऐसी लिपि, भाषा का सवाल नहीं है, भाषा तो सब जानते हैं—पंजाबी। तो वह कोई बड़ी बात नहीं है। परन्तु अड़े हैं और हिंसा करते हैं। मदुराई में हिंसा चली। किसी शहर का कोई भरोसा नहीं रहा और शहरों का दिमागी अधिकार गांव पर चलता है। शहरों की बुरी हवा गांवों में फैलाने की सुव्यवस्थित आयोजना का नाम है इलेक्शन। ग्रामदानी गांव इलेक्शन से कैसे बचें, इसकी चिंता कोरापुट वालों को पड़ी है। गांव ग्रामदानी हुआ। अपना सब एक करेंगे, यह तय किया। वहां जो आयेंगे वोट मांगने के लिए और वे अगर आग लगा जायेंगे, तो क्या किया जायगा? इसलिये गांवों का भी भरोसा नहीं रहा है। बिल्कुल ऐसी बेभरोसे की हालत में हम कैसे ग्रामदान बनायेंगे? एक क्षण में कुल-के-कुल ग्रामदान खतरे में आ सकते हैं। इसीलिए शांति-सेना की बहुत जरूरत है। उसके बिना हम आगे नहीं बढ़ सकेंगे। इसलिए हम सबको सोचना पड़ेगा।

हमने कहा कि इसकी कमांड अब हमको हाथ म लेनी होगी, ऐसा लक्षण दीख रहा है। तदनुसार हमने आचरण भी आरंभ कर दिया है। अभी केरल की राजम्मा ने हमको एक पत्र लिखा था और वह किस तरह काम करेगी, इसकी एक योजना सविस्तार बनाकर हमारे पास भेजी थी। हमने वह पढ़ ली। योजना बहुत अच्छी थी। स्वतन्त्र रीति से देखा जाय, तो उपयुक्त योजना बनाई थी। पर हमने दो लकीरों का पत्र लिखा कि आपका पत्र मिला। पर फिलहाल, हम लोगों का धर्म फलानी-फलानी जगह में जाकर काम करने का ही है, ऐसा हम समझते हैं। बात खतम हो गई। उसके लिए कोई सबूत पेश नहीं किया, कोई दलील नहीं दी और वह बहादुर लड़की सीधे जिस स्थान पर जाने के लिये कहा था, उस स्थान पर पहुंच गई! यहां आने के बाद उसको समझाया कि मैं क्या चाहता हूं, उसके पीछे क्या विचार है। बुद्धि का विकास तो होना ही चाहिए। परन्तु बुद्धि-विकास के फेर में पड़ कर काम देरी से होने लगा, तो डिमोक्रेसी (लोकशाही) का अभिशाप सर्वोदय को प्राप्त होगा।

"डिमोक्रेसी इज डिले।" वह डिमोक्रेसी के पीछे अभिशाप है। डिमोक्रेसी में काम कभी त्वरित बनता नहीं। उसका स्पेलिंग ही 'डिले' है। ऐसे सर्वोदय का स्पेलिंग डिले हो जायेगा! काम नहीं बन पायेगा। इस वास्ते यह नहीं होना चाहिए। काम का जहां तक ताल्लुक है, वह पूरा करना चाहिए। फिर विचार के लिए स्वतंत्र है। फिर ठीक हुआ कि नहीं, यह भी सोच सकते हैं और उसकी चर्चा भी कर सकते हैं। विचार विकास के लिए हम खुला रखें, परन्तु जहां हुक्म हुआ है, वहां जाना पड़ेगा। "हुक्म रजाई चल्लमा, नानक लिखया नाम।" नानक ने लिख दिया है कि नाम है उस हुक्म देनेवाले का, उसी हुक्म के अनुसार हमको चलना है।

निवेदक-शिविर, मैसूर, २६-९-५७

●

मेघ-माधुरी

परमेश्वर द्विरेफ

यहां खड़ा खड़ा मनुष्य देखता अनेकता
सुमेघ की सजल घटा, सुरेश–चाप की छटा
प्रदीप्त सांझ की बिखर रही अलक-लहर-लटा
लता-लता-समूह से विटप विटप सटा सटा
विहंस रहा ठठा ठठा, अबाध नभ डटा डटा
महान व्योम में विहर रहे अनन्त देवता
यहां खड़ा खड़ा मनुष्य देखता अनेकता

हरी भरी अशेष दूब लहलहा रही नई
ढकी ढकी, न लाज को समेट पा रही मही
हरीतिमा प्रकाश में नवीन रूप ले चली
सुरभि-छली हिमांचला गली ढली गली गली
बची कहीं न शेषता, असीम की विशेषता
यहां खड़ा खड़ा मनुष्य देखता अनेकता

न चर्चना, न अर्चना, न कल्पना, न भावना
कि जो बता सके अवर्ण्य दृश्य यह सुहावना
विहंग, वृक्ष, पंक्ति, सप्त-सिन्धु गुण बखानते
विराट् धन्य, आर्य भूमि को न कौन जानते?
अहा, सुकवि-स्वभाव में महा नवोन्मेषता
यहां खड़ा खड़ा मनुष्य देखता अनेकता

●

चतुर्मुखी क्रांति की साधना

सत्यदेव विद्यालंकार

देश के लिए स्वराज्य प्राप्त करने के कारण गांधीजी की गणना अधिकतर राजनीतिक नेताओं और राष्ट्रीय महापुरुषों में की जाती है। परन्तु यह उनके व्यापक जीवन का वास्तविक एवं पूर्ण चित्र नहीं है। गांधीजी का व्यक्तिगत जीवन जैसे उनके लिए एक प्रयोगशाला था, और उस प्रयोगशाला में वे सत्य तथा अहिंसा के जो प्रयोग किया करते थे उनमें सारे ही मानव समाज के लिए एक सन्देश निहित होता था, ठीक वैसे ही भारतीय राष्ट्र भी उनके लिए एक महान प्रयोगशाला के समान था और उसके राजनीतिक जीवन में उन्होंने सत्याग्रह तथा अहिंसात्मक सहयोग के जो प्रयोग किये उनमें भी समस्त विश्व के लिए एक नया संदेश अन्तर्हित था। श्रीकृष्ण ने अर्जन से कहा था कि "निमित्तमात्र भव्य सव्यसाचिन्"। श्रीकृष्ण जैसे अपने प्रयोजन के लिए अर्जुन को अपना निमित्त बनाना चाहते थे ठीक वैसे ही गांधीजी ने विश्व की राजनीति को नई दिशा प्रदान करने के लिए जो प्रयोग पहली बार दक्षिण अफ्रीका में किया था, उसीको बड़े पैमाने पर करने के लिए उनको स्वदेश आना आवश्यक प्रतीत हुआ। भारतवासी स्वराज्य की प्राप्ति के लिए बुरी तरह छटपटा रहे थे। अंग्रेजों की गुलामी से मुक्ति पाने के लिए १८५७ में की गई महान क्रांति के विफल हो जाने के बाद हिंसात्मक उपायों से स्वराज्य की प्राप्ति करना प्रायः असंभव हो गया था। जिन देशों में इन उपायों से स्वतंत्रता प्राप्त की गई, उनमें हमारी स्थिति सर्वथा भिन्न थी। अंग्रेजों की डेढ़-दो सौ वर्ष की पराधीनता हमारे लिए एक भीषण अभिशाप बन गई थी, और उससे हमारा स्वाभिमान तथा स्वदेशाभिमान इस बुरी तरह कुचल दिया गया था कि एक और संयुक्त हो कर स्वराज्य प्राप्ति के लिए खड़ा होना हमारे लिए कठिन हो गया था। हमारा राष्ट्रीय जीवन धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक विषमताओं के कारण राजनीतिक दृष्टि से सर्वथा बिखर चुका था। निःसन्देह स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द लोकमान्य तिलक तथा ऐसे ही अन्य अनेक राष्ट्र-महापुरुषों ने उसमें राष्ट्रीय नवचेतना पैदा करने का प्रयत्न किया और वे प्रयत्न कुछ अंशों में सफल भी हुए, किन्तु उनके बाद भी एक ऐसी चतुर्मुखी क्रांति की आवश्यकता थी जो भारतीयों को झकझोर कर खड़ा कर देती और क्रांतिकारी भावना से उद्दीप्त होकर उनको स्वराज्य के लक्ष्य की पूर्ति में अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए प्रेरित कर सकती। गांधीजी ने उस आवश्यकता की पूर्ति की और चतुर्मुखी क्रांति का शंखनाद करके राष्ट्र में नवचेतना का संचार कर दिया।

भारतीय जीवन धार्मिक जड़ता, सामाजिक मूढ़ता और आर्थिक विषमता के माया जाल में उलझा हुआ था। गांधीजी धार्मिक दृष्टि से समन्वयवादी थे। सब धर्मों के प्रति उनकी समान दृष्टि थी। सबमें से अनुकूल तत्वों को लेकर वे धार्मिक जीवन का एक ऊंचा आदर्श हम सब के सामने उपस्थित करना चाहते थे। अपनी प्रतिदिन की प्रार्थना द्वारा उन्होंने वैसा ही किया। वे खंडन-मंडन की नीति में विश्वास नहीं रखते थे। जीवन के सक्रिय व्यवहार की प्रयोगात्मक नीति पर उनकी पूर्ण आस्था थी। इसी कारण जो वे कहते थे, उसको पहले अपने जीवन में पूरा उतारते थे। घर और बाहर दोनों जगह उनका यह प्रयोग चलता था। कस्तूरबा यदि नमक नहीं छोड़ सकीं तो उन्होंने स्वयं नमक का उपयोग छोड़ कर उनको उसके लिए प्रेरित किया। आश्रम में यदि किसी से कुछ कहना होता था तो वे स्वयं वैसा करके उसके सम्मुख उदाहरण उपस्थित करते थे। यह उनका प्रयोग सार्वजनिक जीवन में भी वैसा ही चलता था। उनकी सायंकालीन सार्वजनिक प्रार्थना इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। धर्म के समान हमारा समाज भी बुरी तरह विषमताओं का अखाड़ा बना हुआ था। उन विषमताओं के ही कारण हिन्दू-मुस्लिम समस्या ने अत्यन्त विकट रूप धारण कर लिया था और वह स्वराज्य की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा सिद्ध हो रही थी। १९२४ में दिल्ली में हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए २१ दिन का उपवास करके उन्होंने अपने व्यक्तिगत

जीवन में जो प्रयोग किया उसका हमारे सार्वजनिक जीवन पर भी अद्भुत प्रभाव पड़ा। फिर, १९४७ में देश के दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन के अवसर पर जब साम्प्रदायिक उन्माद पागलपन की सीमा को पार कर गया, तब भी दिल्ली में उन्होंने अपने जीवन की बाजी लगा दी।

सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए उन्होंने महिलाओं और हरिजनों की प्रगति व जागृति के लिए जो कुछ किया, यह किसी से छिपा नहीं है। हरिजनों को हिन्दुओं से सदा के लिए अलग करने की जो राजनीतिक चाल चली गई थी, उसके विरुद्ध भी उन्होंने यरवदा जेल में अपने जीवन की बाजी लगा दी। इस प्रकार अपनी व्यक्तिगत साधना के द्वारा अपने राष्ट्र के सार्वजनिक चरित्र का निर्माण करने का उनका अपना ही तरीका था और यह कहा जा सकता है कि वह हमारे राष्ट्रीय जीवन पर अपनी अमिट छाप लगा गया। देश के आर्थिक जीवन में उथल-पुथल अथवा आमूलचूल क्रान्ति लाने के लिए चरखे और खादी का जो प्रयोग उन्होंने किया, उसका प्रारंभ भी निजी जीवन से किया गया। वे अपने को जुलाहा कहने में गर्व अनुभव करते थे। उनका बस चलता तो वे सारे देशवासियों को जुलाहा बना डालते। आर्थिक जीवन की सब से बड़ी आवश्यकता खाना व कपड़ा है, और वह ही विषमता का मूल कारण है। उसको दूर करने के लिए गांधीजी ने जिस क्रान्तिकारी मार्ग को अपनाया, चरखा उसका मंत्र है और खादी उसका शास्त्र है।

जनता के राष्ट्रीय जीवन का निर्माण करने के लिए जिस राजनीतिक क्रान्ति की आवश्यकता होती है, उसके लिए धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्रांति के बिना अनुकूलता पैदा नहीं की जा सकती। तुर्की में कमालपाशा को जो अपूर्व सफलता प्राप्त हुई उसका रहस्य यह था कि उन्होंने युवा-तुर्क आंदोलन द्वारा चतुर्मुखी क्रांति का आदर्श स्पष्ट रूप में अपने देशवासियों के सम्मुख उपस्थित कर दिया था और हजारों युवकों तथा युवतियों को उसमें रंग दिया था। उस आदर्श से अनुप्राणित होकर जब उन्होंने क्रान्ति का शंखनाद किया, तब सदियों पुरानी गुलामी के बंधन देखते-ही-देखते कट गए। नवीन चीन के राष्ट्रपिता सनयात सेन ने १८९३ से अपने को चीन का कायाकल्प करने में लगा दिया था और १९११ में प्रजातंत्र की स्थापना के रूप में उनको पहली सफलता प्राप्त हुई थी। लेकिन वह सफलता एक वर्ष भी निभ न सकी। तब उन्होंने यह अनुभव किया कि धार्मिक सामाजिक और आर्थिक क्रांति के बिना राजनीतिक क्रांति को सफल एवं स्थायी नहीं बनाया जा सकता। तब उन्होंने फिर अज्ञातवास स्वीकार करके उस चतुर्मुखी क्रांति का श्रीगणेश किया, जिसकी स्मृति आज भी प्रतिवर्ष ४ मई को महान सांस्कृतिक पर्व के रूप में मनाई जाती है और सारे देश के युवकों तथा युवतियों को उसी चतुर्मुखी क्रांति के रंग में रंगने का दृढ़ संकल्प दोहराया जाता है। रूस की १९१७ की महान सोवियत क्रांति की सफलता का रहस्य भी यही है कि देश में चतुर्मुखी क्रांति के आदर्श से हजारों युवक प्रेरित एवं अनुप्राणित हो चुके थे। हमारे देश में महात्मा गांधी ने अपनी महान व्यक्तिगत साधना द्वारा इसी चतुर्मुखी क्रान्ति का दिव्य संदेश उपस्थित किया था।

गांधीजी के उस दिव्य सन्देश के महत्व को ठीक-ठीक आंकने के लिए अपने देश की स्थिति के संबंध में कुछ गंभीर चिन्तन करना आवश्यक है। हमारा सारा जीवन शास्त्राचार और लोकाचार के बन्धनों में ऐसा जकड़ा था कि हमारी राजनीतिक स्वतंत्रता की भावना का अंत हो चुका था और हमारी मुरझाई हुई नसों में राष्ट्रीय नव-चेतना का संचार होना कठिन हो गया था। उस व्यक्ति की स्थिति पर थोड़ा विचार तो कीजिए, जिसके हाथ-पैर सामाजिक रूढ़ियों की हथकड़ियों में जकड़े हुए हों, जिसका दिल व दिमाग धार्मिक अंधविश्वासों से जड़ व मूढ़ बन गया हो, जिसका हृदय व आत्मा मिथ्या धारणाओं के कारण भावना शून्य हो गई हो और जिसकी चेतना-शक्ति वंश परम्परागत परिस्थितियों में बंध कर सर्वथा प्राणहीन बन गई हो। वह किसी भी रूप में विकास और प्रगति की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। यही स्थिति उस समाज व देश के लोगों की हो जाती है जो धार्मिक अन्धविश्वासों, सामाजिक रूढ़ियों, मिथ्या धारणाओं तथा वंश परंपरागत मान्यताओं की मर्यादा की उस रेखा को

नहीं लांघ सकते, जो सीता की कुटिया के चारों ओर लक्ष्मण द्वारा खींची गई थी। वह रेखा सीता को सुरक्षित नहीं रख सकी और यह रेखा देश व समाज की सुरक्षा में सहायक न होकर विकास व प्रगति के लिए सबसे बड़ी बाधा बन जाती है। हमारे घरों में हमारी बूढ़ी माताएं लोकाचार की पहरेदार हैं जो सदियों की वंश परम्परा से उसकी धरोहर को सुरक्षित रखे हुए हैं। घर का कोई भी बालक-बालिका, युवा-युवती और बड़ा-बूढ़ा उनके आदेश का उल्लंघन करने का साहस नहीं कर सकता। शास्त्राचार के ठेकेदार बगल में दीमकों के खाये, पोथी पत्रे लिए पंडित-पुरोहित व पंडे जो भी व्यवस्था दे दें, उनका मानना अनिवार्य समझा जाता है। घर की वृद्धा महिलाओं और धर्म के इन ठकेदारों ने इस प्रकार की जो भयावह स्थिति पैदा की हुई है, उसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। गांधीजी से पहले भी उसके विरुद्ध विद्रोह करने के प्रयत्न किये गये। परन्तु वे प्रायः एकांगी थे। दयानन्द और विवेकानन्द सरीखों की चतुर्मुखी दृष्टि को अनुकूल परिस्थिति नहीं मिली। श्री आगरकर सरीखे सामाजिक सुधारकों की तिलक सरीखे राजनीतिक नेताओं के साथ नहीं पटी। स्वामी श्रद्धानन्द सरीखे धार्मिक एवं सामाजिक क्रान्ति चाहनेवालों, महामना मालवीयजी सरीखों की अनुकूलता प्राप्त नहीं कर सके। लेकिन, गांधीजी ने किसी की भी सहमति-अनुमति अथवा अनुकूलता-प्रतिकूलता की चिन्ता न करके चतुर्मुखी क्रान्ति का शंखनाद कर ही दिया। किसी संगठन अथवा संस्था के अनुमोदन की चिंता में वे नहीं पड़े। अपनी व्यक्तिगत साधना म उनका जो विश्वास था, वह उनकी सबसे बड़ी शक्ति थी। आत्म-निष्ठा उनका सबसे बड़ा बल था। अपना घर व आश्रम उनकी सबसे बड़ी प्रयोगशाला थी।

आलोचना करनेवाले गांधीजी की चतुर्मुखी क्रान्ति की साधना को सफल नहीं मानते और बाहरी दृष्टि से देखा जाय, तो सफलता में विश्वास की अपेक्षा सन्देह ही अधिक होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि उनके अपने ही साथी उनसे कुछ दूर होते से दीख पड़ते हैं। नेहरूजी को भी यह शिकायत है कि गांधीजी चतुर्मुखी क्रान्ति के जिस ढांचे में लगभग ३०-४० वर्षों तक राष्ट्र के जीवन का निर्माण किया, वह बिगड़ रहा है और राष्ट्र का चरित्र गिरता जा रहा है। इस गिरावट पर भी यह कहने का साहस किया जा सकता है कि गांधीजी की चतुर्मुखी साधना व्यर्थ नहीं गई। अपने संविधान में धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक और राजनीतिक आदर्शों का हमने प्रतिपादन किया है, वे गांधीजी की चतुर्मुखी क्रान्ति की साधना का ही शुभ परिणाम हैं। हमने अपने सामाजिक जीवन, आर्थिक विकास और राजनीतिक निर्माण के लिए जो योजनाएं बनाई और जिस समाजवादी आदर्श को स्वीकार किया है, उसका लक्ष्य गांधीजी की चतुर्मुखी क्रांति की साधना के अनुरूप अपने राष्ट्र को बनाना है। हमारे प्रधान मंत्री श्री नेहरू ने विश्व को सर्वनाश से बचाने क लिए सह-अस्तित्व के जिस महान् अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, वह भी गांधीजी के सत्य और अहिंसा के प्रयोग का ही व्यापक रूप है। गौतम बुद्ध का सन्देश विश्व के कोने-कोने में सम्राट् अशोक को पाकर फल फूल सका था। ईसा की वाणी को चारों ओर फैलाने में वे राजनीतिक शक्तियां अधिक सहायक हुईं, जिन्होंने यूरोप में उनके शासन को कायम किया। हजरत मोहम्मद साहब का मिशन भी स्पेन से चीन तक राजशक्ति के बल पर ही फैला था। आज हमारे देश में गांधीजी के नाम-लेवा लोगों का शासन है, उनके हाथों में राज शक्ति है, और उनके महान नेता श्री नेहरू के रूप में अशोक सरीखा व्यक्तित्व भी विद्यमान है। इसलिए उनकी चतुर्मुखी क्रांति की साधना को सफल बनाने का कितना महान् और गम्भीर दायित्व हम पर है। गांधीजी का पुण्य स्मरण करते हुए उस दायित्व के संबंध में कुछ चिंतन निश्चय ही किया जाना चाहिए। गांधी-मार्ग अन्तर्दृष्टि को जागृत कर अपने व्यक्तिगत जीवन में उसके सम्बन्ध में किये जाने वाले प्रयत्नों को करने का स्पष्ट सकेत करता है। उसकी उपेक्षा करके हम उनकी साधना को तीन काल में भी सफल नहीं बना सकते।

मद्यनिषेध में सन्तों का योग

अगरचंद नाहटा

भारत अध्यात्मप्रधान देश है। यहां के जन-जीवन में धर्म और अध्यात्म की प्रधानता है, उसका प्रधान कारण यहां के सन्तों व महर्षियों का उपदेश है। सन्त पुरुषों का प्रधान कार्य ही यह है कि वे साधना के द्वारा आत्मा या परमात्मा तत्व की उपलब्धि करें और अपने जीवन को सात्विक बनाकर जन-जीवन की खराबियों को मिटावें, जनता का नैतिक स्तर ऊंचा उठावें और उसे पतन के कारणों से बचावे। सन्तों का हृदय करुणा से भर आता है जब कि वे अपने अनुयायी या सम्पर्क में आनेवाले लोगों के आचार-विचार में कोई दूषित बात देखते हैं। अतः वे तत्काल अपनी सधी हुई वाणी से जनता को उद्बोधित कर दुर्व्यसनों से उन्हें बचाते हैं, और सत्कार्यों की प्रेरणा देते हैं। इसीलिए कहा गया है कि जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म बढ़ जाता है तब-तब किसी न किसी महापुरुष का जन्म होता है, जो पाप को मिटा कर धर्म की प्रतिष्ठा करता है।

मद्यपान मानव के पतन का बहुत बड़ा दुर्व्यसन है इससे मनुष्य अपने कर्तव्य, अकर्तव्य, गम्य, अगम्य, खाद्य, अखाद्य, कृत्य, अकृत्य, का भान भूल जाता है। एक बेभान दशा-सी मद्यपान वाले की हो जाती है। उसका विवेक काम नहीं देता। फिर भी क्षणिक शांति आराम मिलेगा, इस भ्रामक धारणा से ऐसी अनर्थकारी नशेबाजी में वह फंस जाता है। और कई बार पीने के बाद तो फिर उसके बिना उसे बेचैनी महसूस होने लगती है। वह बाध्य हो जाता है। फिर पिये बिना नहीं रहा जाता। इसके दुष्परिणाम सर्व विदित है। इसके पीने से एक आवेश और स्फूर्ति का अनुभव करता है। वह मांस और स्त्री-संसर्ग के प्रति भी आकर्षित होता है। नशे में भान भूलकर वह विषयाभिलाषा में इतना मस्त हो जाता है कि गम्या-गम्य का विवेक नहीं रहता। मध्यम और साधारण स्थिति वाले व्यक्तियों की तो इससे आर्थिक बरबादी इतने अधिक रूप में हो जाती है कि खाने पीने के लाले पड़ जाते हैं। दिन भर में श्रम करके जो कुछ भी वह कमाता है संध्या होते ही मद्यपान में स्वाहा कर देता है, अपने बाल-बच्चे स्त्री आदि की पैसे के अभाव में क्या स्थिति होंगी? इसका भी उसे भान नहीं रहता। हम अधिकांश श्रमजीवियों की गिरी हालत इन दुर्व्यसनों के कारण ही पाते हैं। जब सन्तों ने इस मद्यपान द्वारा होती हुई भयंकर खराबी देखी तो उन्होंने गांव-गांव में घूमकर अपने मधुर और प्रभावशाली उपदेशों से इस दोष से मुक्त करने का प्रबल प्रयत्न किया। फलतः हजारों लाखों व्यक्तियों ने मद्यपान न करने की प्रतिज्ञा ली, जिससे उनका जीवन सुखी एवं समृद्ध बना। राजकीय सत्ता से जो काम इतने अच्छे रूप में नहीं हो पाता वह संतों की पीयूषवाणी से सहज सम्पन्न हुआ पर वह उपदेश-धारा निरन्तर प्रवाहित होनी चाहिए थी। वैसा नहीं होने से अभी भी लाखों व्यक्ति दुर्व्यसन के शिकार हैं।

मद्यपान की प्रथा अवश्य ही प्राचीन है। उसको कम करने में सन्तों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। इसमें भी जैन तीर्थंकरों और मुनियों का प्रयत्न तो बहुत ही सराहनीय रहा है। जैन धार्मिक ग्रन्थों में प्रत्येक जैनी के लिए चार महा विकृतियों का त्याग आवश्यक बतलाया है। मद्य, मांस, मधु, और मक्खन इनमें से प्रथम दो के लिए बहुत ही सख्त निषेधाज्ञा है। कई जगह मुनियों के विशेषण में 'मद्य और मांस के त्यागी, ऐसा उल्लेख पाया जाता है। समय-समय पर हजारों लाखों व्यक्तियों को उपदेश देकर उन्होंने मद्य और मांस के त्यागी बनाया है। इसीलिए जब जैनों की संख्या करोड़ों पर थी, और आज भी जो लाखों हैं तब वे सभी मद्य और मांस के त्यागी थे। जैन जातियों में जो ओसवाल, पोरवाड़, श्रीमाल, खंडेलवाल आदि हैं उनके पूर्व पुरुष क्षत्रिय थे और उनमें मांस भक्षण और मद्यपान की बहुत अधिकता थी। जब जैनाचार्यों के सम्पर्क में वे आये तो उन्हें जैनधर्म में दीक्षित करने के साथ ही मद्य और मांस से भी विरक्त कर दिया गया और उनकी सन्तान जो आज लाखों की संख्या

में हैं तभी से इन दोषों से मुक्त हैं। यह उन जैन सन्तों की महान् देन है।

हजारों लाखों ऐसे व्यक्ति जो जैनी नहीं भी बने पर जैन मुनियों के सम्पर्क में आये, उनके उपदेश से मद्य मांस के त्यागी बन गये। इसी तरह जैन मुनियों के इस आदर्श कार्य से रामसनेही आदि जैनेतर दूसरे सन्त भी काफी प्रभावित हुए और उन्होंने भी इसके निषेध के लिए काफी प्रयत्न किया। उन्होंने अपने धार्मिक नियमों में अहिंसा को प्रधानता देते हुए मद्य, मांस आदि सप्त व्यसनों का त्याग अपने अनुयायियों के लिए आवश्यक कर दिया है। ये सप्त व्यसन इस प्रकार हैं :–

द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या, पार्दधिश्चारिका तथा।
परस्त्री गमनं चेति सप्तैव व्यसनानि हि ॥१॥
द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या, पार्धिद्धचौर्यं परदार-सेवा ॥२॥
एतानि सप्तव्यसनानि लोके घोरातिघोरं नरकं नयंति।

अर्थात् जुआ, मांस, मदिरा, वेश्यागमन, शिकार, चोरी और परस्त्रीगमन ये सात दुर्व्यसन प्राणियों को नरक में ले जाने वाले हैं।

इन सात व्यसनों के निषेध में जैन मुनियों द्वारा कई बड़े बड़े ग्रन्थ बनाये गये हैं, जिनमें सप्त व्यसन कथा (३५०० श्लोक भुवन कीर्ति विरचित), सप्त व्यसन कथानक (सोमकीर्ति रचित) सप्त व्यसन कथा समुच्चय (१८०० श्लोक, सकलकीर्ति रचित), सप्तव्यसन विरोध श्रावकाचार (माणिक्यसूरि रचित) और सप्त व्यसन कथा समुच्चय (सोमप्रभसूरि रचित) मौलिक ग्रंथ है और अन्य अनेक ग्रंथों में भी इन व्यसनों से होती हुई हानियों का दृष्टान्त रूप में देकर विवरण दिया है।

बारहवीं शताब्दी के महान विद्वान कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र सूरि ने गूर्जेरेश्वर महाराजा कुमारपाल को जैनी, बनाया, तो महाराजा ने स्वयं तो मद्य-मांस का त्याग किया ही पर उन्होंने अपने अधीनस्थ १८ देशों रूप विशाल साम्राज्य में भी इन सप्त व्यसनों के निषेध की आज्ञा जारी कर दी। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र ग्रंथ में मद्यनिषेध के जो श्लोक दिये हैं उनमें से कुछ ये ह।

दोषाणां कारणं मद्यं, मद्यं कारणमापदाम्।
रोगातुर इवापथ्यम्, तस्मान्मद्यं विवर्जयेत् ॥१॥
विदधत्यंग शैथिल्यं, गलयन्तीन्द्रियाणि च।
मूर्छामतुच्छां यच्छन्ती, हाला हालाहलोपमा ॥२॥

अर्थात–मदिरापान समस्त दोषों आपदाओं का कारण है। अतः रोगी के लिए जैसे कुपथ्य का त्याग जरूरी होता है वैसे ही सब लोगों को मदिरा का त्याग देना चाहिए। मदिरा अंगों को शिथिलता लाती है और इन्द्रियों को म्लान बनाती है। इससे बहुत मूर्छा व बेहोशी सी आती है। अतः यह विष के समान त्याज्य है।

विवेकः संयमो ज्ञानं, सत्यं शौचं दया क्षमा।
मद्यात् प्रलीयते सर्वं, तृणवदग्निकणादिव ॥१॥
मदिरापान मात्रेण, बुद्धिर्नश्यति दूरतः।
वैदग्धी बन्धुरस्यापि, दौर्भाग्येणेव कामिनी ॥२॥

अर्थात–जिस तरह अग्नि के कण से सारे घास का समूह जल जाता है उसी तरह मद्य पान से विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य, पवित्रता, दया और क्षमा ये सब धर्म नष्ट हो जाते हैं। मद्यपान से चतुर मनुष्य की बुद्धि भी दूर चली जाती है।

मद्यपानरसे मग्नो, नग्नः स्वपिति चत्वरे।
गूढं च स्वमभिप्रायं प्रकाशयति लीलया ॥१॥
भूतानवन्नरीनर्त्ति, रारटीति सशोकवत्
दाहज्वरार्त्तवद्भूमौ, सुरापो लोलुठीति च ॥२॥
पापाः कादम्बरीपानविवशीकृतचेतसः।
जननीं हा प्रियीयन्ती, जननीयन्ति च प्रियाम् ॥१॥
मद्यपस्य शवस्येव, लुठितस्य चतुष्पथे
मूत्रयन्ति मुखे श्वानो, व्यात्ते विवरशंकया ॥२॥

अर्थात्—मद्यपान करनेवाले व्यक्ति की बड़ी दुर्दशा होती है। वह बाजार में नग्न पड़ा रहता है। बेभान दशा में गुप्त बातें भी मुख से निकल जाती हैं। वह नाचने लगता है। कभी चीत्कार करता है, कभी भूमि पर लोटता है। वह माता और पत्नी का भेद भी भूल जाता है और उसके मुख में कुते मूतते हैं।

ऐसे ही उपदेशों द्वारा सम्राट कुमारपाल ने प्रभावित होकर अपने सारे राज्य में मद्यनिषेध करवा दिया था। जिससे करोड़ों व्यक्ति इस दुर्व्यसन से मुक्त हुए।

इसी तरह महाभारत, मनुस्मृति आदि में भी मद्य निषेधके श्लोक मिलते हैं। उनको उद्धृत करते हुए रामस्नेही सम्प्रदाय के सन्त सालिग्राम (आशु कवि) ने अपने सप्तव्यसन सन्तापिनीं ग्रन्थ के चौथे मयूख में बड़े जोरदार शब्दों में मद्य का निषेध किया है। लेख विस्तार मय से इस ग्रन्थ के केवल पांच दोहे ही यहां उद्धृत कर रहा हूं।

महुआ, गुड़ पानी मिले, सप्त दिवस लग साड़।
कोटि क्रमि जब किलबिले पिये अर्क तब पाड़॥१॥
अन्न मैल औटावतां, मेहन सम है मद्य।
मलिन करे तन मन वचन, सज्जन तजिये सद्य॥२॥
मद पीते है मलिन मन, करत तबे अघ काम।
अघ कीने दुर्गति अवस, तो मद तजहु तमाम॥३॥
सत्य शील विद्या सकल, लज्जा बुद्धि, ललाम।
पुण्य कोटि रह होत पुनि, मद ते हैं बदनाम॥४॥
कुल घातक पातक प्रकट, पवि सम मदिरा पान।
तन क्षय, धन क्षय, धर्म क्षय, होत बुद्धि की हान॥५॥

रामस्नेही सम्प्रदाय में तो मद्य मांस का सर्वथा निषेध है। इसी तरह अन्य सम्प्रदायों में भी है। अतः समस्त सन्तों ने मद्य-निषेध के क्षेत्र में बहुत बड़ा कार्य किया है। उन सब सन्तों की वाणियां संग्रहीत कर प्रचारित की जायं तो पापभीरु श्रद्धाशील व्यक्तियों पर तो तत्काल और गहरा असर पड़ेगा। यह काम कानून द्वारा इतना सुलभ नहीं, जितना सन्तों के उपदेश से सुलभ होता है। क्योंकि कानून जबरदस्ती आरोपित किया जाता है। अतः लोग लुक-छुप के भी अपना काम करते रहते हैं पर सन्तों के उपदेश से हृदय परिवर्तन होकर वे प्रतिज्ञाबद्ध हो जायेंगे और फिर वे कभी इस ओर विचार तक नहीं करेंगे। अपितु वे अन्य लोगों को भी मद्य निषेध के लिए प्रेरित करेंगे। आज भी गांवों में श्रद्धाशील जनता ही अधिक है। धर्म की निषेध आज्ञा उनके लिए बहुत बड़ा कानून है। सरकार में को सब सन्तों से अनुरोध कर उनका सहयोग अवश्य प्राप्त करना चाहिए। जैन मुनियों ने मांस मद्य निषेध के सम्बन्ध में बहुत बड़ा काम किया है पर उनके प्रचार में अब शिथिलता आ गई है उसे वे दूर करें। सभी सन्त सम्प्रदायों के संतजन जोरों से प्रचार करें। मद्य के साथ अन्य अनेक दुर्गुणों का भी घनिष्ट सम्बन्ध है, मद्य पेयी प्रायः मासांदि अभक्ष्य भक्षण करने वाले विलासी व कामी होते हैं। परस्त्री वेश्यागामी होते हैं। धन के अपव्यय के साथ शारीरिक क्षति भी है ही, अतः अनेक दुर्गुणों के कारण मद्यपान से जितना शीघ्र व अधिक परिणाम में छुटकारा होगा उतना ही देश का कल्याण होगा।

जैनों की भांति बौद्धों में भी पंचशील में पांचवां शील मद्यनिषेध है। अर्थात मद्यनिषेध को बड़ा महत्व दिया गया है। प्रत्येक बौद्ध को पंचशील पालक होना चाहिए। वे मद्य पी ही नहीं सकते। इसी प्रकार मुसलमानों में भी मद्यनिषेध की सख्त आज्ञा है। आवश्यकता है समस्त धर्मों में जो मद्य निषेध सम्बन्धी सूक्तियां व आज्ञाएं हैं उनका संग्रह कर जनता में प्रचारित करने की। गांव गांव में व विशेषतः श्रमजीवी व निम्नतर के लोगों में सन्तों द्वारा प्रचार किये जाने की। सबसे अधिक दुर्दशा उनकी हो रही है और वे बहुत बुरी तरह इस दुर्व्यसन के चंगुल में फंसे हुए है।

मति और मुक्ति

एक दिन एक फूल ने एक कांटे से कहा, "भाई, तुम हमसे बहुत अच्छे हो क्योंकि जो चाहे वही मुझे तोड़ ले जाता है, और तुम्हें कोई हाथ भी नहीं लगाता। इस तरह तुम बचे रह जाते हो।"

तब एक दिन सुबह में एक भक्त आया और उसने कांटों सहित उस फूल को तोड़ लिया। तब वह उसे लेकर मन्दिर में पहुँचा। उसने उस सुन्दर फूल से कांटे निकाल कर अलग फेंक दिये। फिर फूल को प्रभु के चरणों पर चढ़ा दिया। इसके बाद पूजा अर्चना कर वह भक्त वहां से चला गया।

तब उस कांटे ने फूल से कहा, "हे गुलाब, तू मेरी एक बात सुन ले। तू आप अमर हो गया क्योंकि तेरा त्याग तुझे प्रभु के चरणों पर ले गया। और मैं तुम्हारी राह का कांटा बना रहा, इसलिए उठा कर किनारे फेंक दिया गया।"

तब वह गुलाब मुस्कराया।

—ज्योतिप्रकाश

भालण और उसकी रचनाएं

शांति आंकड़ियाकर

भारतीय वाङमयकी महान रचना कादम्बरी का गुजराती भाषा में प्रथम रूपांतर प्रस्तुत करनेवाले महान् भक्त कवि भालण का जन्म संवत् १४९५ म गुजरात के ऐतिहासिक शहर पाटण में हुआ था। यों उनके जन्म का सही-सही पता हमें नहीं चलता है, फिर भी उन्होंने संवत् १५४५ में जब नलाख्यान पूरा किया था तब उनकी उम्र ५० साल की थीं। इस विधान पर से हम उनके जन्म के साल का कुछ अनुमान लगा सकते हैं। उनके पिताजी का नाम मंगलजी था। जाति से वे त्रिवेदी मोढ़ ब्राह्मण थे। उनके पिताजी संस्कृत के बड़े विद्वान थे। उनसे और अन्य गुरुओं से भालण ने संस्कृत तथा पुराणादि का गहरा अभ्यास किया था। भालण को युवावस्था से ही काव्य बनाने की आदत थी। संस्कृत के साथ साथ उनका हिंदी भाषा का ज्ञान भी काफी अच्छा था।

आज भी भालण का घर पाटण में घोवटा जिले में मौजूद है। उस घर में उनकी बैठक, खड़ाऊं, वस्त्र, पूजा की सामग्री वगैरह सुरक्षित हैं, और उनकी पूजा की जाती है। इससे मालूम पड़ता है कि उनके जमाने में लोग उनकी पूजा करते होंगे––एक पहुंचे हुए संत और महात्मा के नाते। उनके पदों को देखने से ज्ञात होता है कि वे अद्वैतवाद के ही साधक होंगे। माना जाता है कि उनकी, अपनी उत्तरावस्था में परमानन्द नामक एक परमहंस साधु से भेंट हो गई थी। उनसे उन्होंने ब्रह्मतत्व का उपदेश लेकर सन्यस्त की दीक्षा ली थी। उनका योगाभ्यास भी प्रगतिशील प्रदर्शित होता है। संभव है लोगों ने उनका योगाभ्यास देखकर ही उनको 'महात्मा' बना दिया होगा। पुरुषोत्तम उनका दूसरा नाम था। उस नाम से 'ब्रह्मतत्व' नामक एक अष्टक संस्कृत भाषा में लिखा है। उसका वृत्त है अनुष्टुप। उसमें अद्वैत का प्रतिपादन किया गया है।

वे युवावस्था में शाक्तमत वादी थे––ऐसी भी दंत कथायें चलती रहती हैं, या मिलती हैं। उन दंतकथाओं से एक इस प्रकार भी है[1] : पाटण में उस वक्त किसी म्लेच्छ का अनुशासन था। उस म्लेच्छ से किसी ने कहा कि भालण के इर्द-गिर्द कई खूबसूरत औरतें रहा करती हैं। और भालण उनसे रतिक्रीडा करके गौण मजाक करता रहता है। यह सुनकर म्लेच्छ ने अपने सिपाही के द्वारा भालण को अपने सामने बुलवाया। भालण की ग्रीवा में उस समय सुंदर सुवासित पुष्पों की रंग-बिरंगी माला थी, भाल में चंदन लगाया हुआ था, और सिर खुला था, रुपहरे तो वे थे ही। इससे म्लेच्छ को प्रतीति हो गई कि भालण के सम्बन्ध में की गई बात बिलकुल ही सत्य है। तुरन्त ही उसने उनको कैद करा दिया। उसी दिन शाम के समय वह पाटण से बाहर पूर्व दिशा की ओर घोड़े पर सवार होकर घूमने निकला। कुछ दूर जाते ही उसने देखा कि एक मंदिर के बरामदे में भालण उसी स्वरूप में बैठा हुआ है। म्लेच्छ यह देखकर हैरान रह गया, और भालण को टिक-टिकी बांधकर देखने लगा। फिर वह तुरंत दौड़ता हुआ कैदखाने में पहुंचा। देखा तो भालण वहां कैद थे। किन्तु उनके पांवों पर बहुत दूरी से चलकर आये हों, ऐसे बहुत धूल लगी हुई थी। म्लेच्छ को यह देखकर भालण की ओर पूज्यभाव उत्पन्न हुआ। तुरंत ही भालण को आजाद कर दिया गया।

भालण का महात्म्य उस घटना के बाद बहुत बढ़ा। उनके शिष्य उनके संबन्ध में आज भी बहुत चमत्कारिक बातें किया करते हैं। जैसे कि दातून से वृक्ष बना दिया... कैद से निकल गये आदि। भालण की एक मूर्ति धातू के पत्र पर अंकित की हुई मिली है। इस मूर्ति में वे उड्डयन बंध लगाकर बैठे हुए हैं। प्राणायाम के साथ-साथ योग ध्यान में लीन भासित होते हैं।

भालण की समाधि पाटण से ईशान कोने में, दो मील की दूरी पर हरिहर महादेव के मंदिर के समीप आज भी मौजूद है। संन्यस्त दशा में ही मृतक को दफनाया जाता है जबकि भालण ने तो जिंदा अवस्था में ही समाधि ली थी––यों कहा जाता है। उनकी मृत्यु-तिथि असंदिग्ध है।

१ प्राचीन काव्यमाला : हरगोविंददास कांटावाला

भालण ने राम, कृष्ण और शक्ति तीनों के गुण गाये हैं। उनके ग्रंथ निम्न लिखित हैं—

१. सप्तशती
२. कादंबरी
३. नलाख्यान
४. राम बाललीला
५. उद्धव आवागमन
६. भागवत दशम स्कंध
७. भालड़ी संवाद
८. ध्रुवाख्यान
९. रुक्मिणी विवाह

माना जाता है कि उनके कुछ ग्रंथ और भी होंगे। अब हम उनके राम बाललीला के कुछ पदों को देखेंगे—

करे स्तुति कौसल्या मात, आगे तप तप्यां विख्यात,
जे पूरण प्रेम अखंड, सचराचर सकल ब्रह्मांड।
जे भूमितणा भूपाल, केम मानुं हुं नानुं बाल;
तारी मायाए भूले ब्रह्माय, गुण नेति नेति करी गाय।
शिव सनकादिक ध्यानमां,ध्याय,जेनी मायामां सहु भूलाय
मुने अजरज अदकुं थाय, मुखडुं जोई मन हरखाय।
विश्वंभर तूंने शुं धवाडुं, जक्तकर्ताने शुं रे रमाडुं।
माता भ्रमाकार थई ज्यारे, मेली वैष्णवी माया त्यारे,
'उंआं उंआं' सुणता जागी, घणो भालण नी भ्रांति जागी।

रामचन्द्रजी का जन्म होते ही कौसल्या माता स्तुति करने लगीं—'जिनका अतीत का तप विख्यात है, जो अखंड-पूर्ण-प्रेम स्वरूप हैं; और सफल ब्रह्मांड में मौजूद हैं, जो समस्त भूमि के भूपाल हैं। उनको मैं छोटा-सा बालक क्यों समझूं? हे प्रभो! आप बालस्वरूप होते हुए भी विराट हैं। आपकी माया के कारण ब्रह्मा भी गलती कर देते हैं, और नेति नेति करके गुण गाते फिरते हैं। शिव सनकादिक भी आपकी प्रतिक्षण स्तुति करते रहते हैं। आप तो समस्त विश्व के पालनहार एवं पोषक हैं। आपका बालस्वरूप देखकर मुझे अचरज होता है। मुखारविंद देखकर मैं पगली-सी हो जाती हूं। हे विश्वंभर, मैं आपको स्तनपान कैसे कराऊं? जगती के रचनेवालों को मैं कैसे खेलाऊं? जब माताजी यों भ्रमित होकर रामचन्द्रजी के गुणगान गाने लगी तो ईश्वर ने 'माया' को मुक्त कर दिया। कौसल्याजी मोहित हो उठीं। इतने में रामजी 'उंआं उंआं' करके रोने लगे। कौसल्याजी ने समस्त विचारों को त्यागकर रामजी को अपनी गोद में लिया। समस्त प्रेम से वह उसे स्तनपान कराने लगी।

एवा दशरथना बाल, लाल पारणे झूले;
शामस्वरूप देखीने, म्हारुं अंग फूले। एवा दशरथ ना०
मैया ढलकती ढलकती ताणे दोरी, रह्या सूत सनकादिक कर जोड़ी;
हवे मैया हालरुं गाशे ने मनमांथी हसे,
वली शेष ने शारदा ग्रहेवाधसें। एवा दशरथना०
मैया हालो हालो मुखे हाल कहे,
वली श्रुति ने वेद जेने कंठे रहे;
अदपडियाली आंखडी मींची ने उघाड़े,
बालक बहार काढ़ी ने मैया पोढ़ाड़ई। एवा दशरथना०
खांते धावे खेलणी, पलीं पड़ी रहे मूके;
एवा रमता रामनाम, शाम ना चूके। एवा दशरथना०
झड़प नाखेज रमते तो, पाये वली तोड़े;
कहे भालण राम मारो, जनम थकी छोड़े। एवा दशरथ ना०

दशरथ का बाल राम पलने में झूलता है। उसका श्याम स्वरूप देखकर मेरे हर्ष का कोई पार नहीं ह। माता कौसल्या पलने की रस्सी खींचती हैं। सूत सनकादि राम का बालस्वरूप देखकर प्रार्थना करते हुए खड़े हैं। माता कौसल्या लोरियां गायेंगी। अब हंसती है और खेलते हुए राम को देखकर प्रसन्न हो उठती है। अत्यन्त आनन्द से राम को खेलते देखकर, शेष और शारदा भी उसको गोद में लेने को आतुर हैं। माताजी ने लोरियां शुरू कीं। श्रुति और वेद जिसको कंठस्थ हैं, ऐसे बालस्वरूप रामचन्द्रजी चक्षुओं को खोलते हैं, और बंद करते हैं। माताजी तो हर्षपूर्वक गाती ही जाती हैं। खिलौना कुछ समय के लिए मुंह में रखते हैं, तो कुछ समय के लिए यों ही मूक, चोट-विहीन पड़े रहते हैं। पांव के द्वारा अपने ऊपर रखे हुए रेशमी कपड़े को दूर करते हैं। ऐसे रामचन्द्रजी बालस्वरूप होते हुए भी मोक्षदायी हैं।

रामजी यों बड़े होते जा रहे हैं। अब तो दशरथजी उनको चलना भी सिखा रहे हैं:—

देव डगलां भरे, प्रभु पगलां भरे।

डगमग करतां पगलां भरतां उतावला चाले राजकुमार;
लथड़ता सिंहासन झाले, बीता अपरमपार।--देव०
सिंहासन मूकावे राजा, छूता मूकावे हाथ;
थर थर ध्रूजे कांई नव सूझे, झाली रहे कोउ हाथ--देव०
आफगिये वळी उभा थाये, उलाले अलंकार;
सदाए अर्धांगे कमला, शो करशे शणगार। देव०
मन मान्या मस्ताना चाले, जेम मां ले मातंग,
भालण प्रभु रघुनाथ मारो, सदाए रहे सतसंग।--देव०

देव तो चलने लगे। कदम उठाने सीखने लगे। फिर तो कदम उठाते हुए शीघ्रता से चलने लगे। जब लड़खड़ा जाते हैं तो सिंहासन पकड़ लेते हैं, भयभीत हो जाते हैं। अति। दशरथजी तुरन्त वहां पहुंच जाते हैं। सिंहासन छुड़ा देते हैं। देव को चलने को कहते हैं। देव तो थर् थर् कांपने लगते हैं। कोई उपाय सूझता नहीं है, किसी का हाथ पकड़ने को आतुर हो उठते हैं। पहने हुए अलंकार असं-मंजस में उड़ाने लगते हैं। शणगार का कोई पार नहीं। और फिर मस्तानों की भांति आगे बढ़ते हैं, मातंग की भांति। भालण कहते हैं, मेरा यह राम जी हमेशा मेरे साथ रहो।

राम जी बोलना सीखते हैं--

राम बाला बोलो, बोलो ने बछलाल रघुबाला बोलो।
कर जोडीने कहे कौसल्या मात, कोई बोलावो राम एकबार,
कहेतां सारु सौनां काम--राम बाला०
चतुरा एक चकलुं लई आवी, मुखमां पडाव्यो साद;
आदित वारे कर्यो टुचको, जेम बोले रघुनाथ--राम बाला०
हंसते मुखे करे हुकारा, लखारा अपार;
शिशुपणुं संपूर्ण भासे, आघ पुरुष अवतार।--रामबाला०
ज्ञान दृष्टि थी गुरु नमे छे, उत्तर अलगो आले;
विरंचि तारो पडो दीकरो, आशा मांड्या ख्याल।--राम०
पलमां ब्रह्मांड मांगो सरजो, वाणी न पहोंचे वेद,
अगमने तारी गम नहि, तो कुणे कलाए भेद। राम बाला०
वसिष्ठ सामुं वेगे जोतां, मुखेथी कह्यु 'मात';
भालग प्रभु रघुनाथ मारो, मुक्ति नो दातार। राम बाला०

कौसल्या माताजी हाथ बांध कर कहती हैं; 'हे बाल, हे राम, तुम एक बार बोल दो। क्योंकि आज तुम्हारा संस्कार मनाया जा रहा है।' फिर सब नर नारियों से कहती हैं, 'कोई आकर इस बाल के मुंह से कुछ बुला दो। कौन आते हैं? आपका भला होगा। क्योंकि ये तो साक्षात् ईश्वर हैं। एक चतुरा नारी ने आकर रामजी के मुंह में कुछ कहा। आदित्य के दिन कुछ संस्कार किया। रामजी मुंह से हुंकार करने लगे। हंसने लगे। आदि पुरुष ईश्वर का शिशुपन बराबर भासित हो रहा है। गुरु वसिष्ठ भी आये। उन्होंने भी अपने यजमान पुत्र की गुरुता को देख लिया है। वह तो साक्षात् जगन्नियंता हैं। वे आकर राम जी से कहने लगे, 'हे बाल, आप तो अगम हैं, आपकी कला का भेद हम नहीं समझ सकते हैं।' वशिष्ठ की ओर देखते हुए रामजी के मुंह से प्रथम उच्चार प्रगट हुआ, 'मां!' सबकी खुशी का कोई पार न रहा। भालण कहते हैं--हे प्रभो! आपही हमारी मुक्ति के दाता हैं।

नाचो नाचो निर्मल राम, नाम लाला।
शीश घूघरी आला घूमता केश फरके;
नाथ नाचे ने दुस्तनां मन धड़के। नाचो०
काने मकराकृत कुंडल झलके;
राम नाचे ने दुश्मननां मन भड़के। नाचो०
कंठे कौस्तुभमणि माणक अनंत
वली घूघरी आली गोफणी ने करड़े तीने दंत। नाचो०
उरलगु भृगु लांच्छन माला;
नाचो थेई थेई जगप्रतिपाला। नाचो०
प्रभु ढली पड़े ने बेठा थाये;
मैया चुंबन करीने चांपे पाये। नाचो०
पाये रुमझुम नेपुर वाजे;
कटि कंदोरे मेखलाना घोर गाजे। नाचो०
चालो सखी जोवा जइये;
भालण प्रभु ने चांपुं हइये। नाचो०

हे निर्मल नाम राम, नाचो नाचो। राम नृत्य करने लगे। सिर पे घूंघराले बाल फड़क उड़े। रामजी के नृत्य से दुष्टों के दिल कांपने लगे। कानों में मकराकृत कुंडल शोभित हैं। रामजी के नृत्य से दुश्मन भयभीत होने लगते हैं। कंठ में कौस्तुभमणि माणिक अनंत हैं। शोभा का कोई पार नहीं। सीने पर भृगु लांच्छनकी माला झूल रही है। जग प्रतिपाल थेई, थेई नृत्य कर रहे हैं। नृत्य करते करते तालकी गलती के कारण रामजी लुढ़क गये।

जमीन पर बैठ गये। माता कौसल्या ने दौड़कर उनको अपनी गोद में ले लिया। चुंबन किये। और फिर नूपुर की आवाजों के साथ रामजी का नृत्य आरम्भ हो गया। कटि मेखला की ध्वनियां गूंजने लगी। नारियां दौड़-दौड़ कर आने लगीं—नृत्य देखने के लिये। भालण कहते हैं चलो, मैं भी जाकर रामजी को अपने सीने से लगा लूं।

पड़ोसी नारी रामजी को अपने घर ले जाती है। बीच में किसी कारण वशात वह नारी रामजी को अपनी गोद से नीचे उतारती है। रामजी नजर बचाकर कौसल्या के पास चले जाते हैं। पड़ोसी नारी दशरथजी से जाकर कहती है, "हे राजा! राम जी कहीं चले गये हैं।" फिर तो रामजी को ढूंढ़ने के लिये दौड़ा-दौड़ी होती है किन्तु वह तो मिलते हैं कौसल्याजी की गोद से!—

बाई कोई बतावे राम लाला।
में तो केडेथी उतार्यो कशुं काम पड्युं;
मारी नजर चुकी ने रुडुं रतन रड्युं।—बाई०
हां, हां उठो अनुचर, जुओ पाणी पीजो पछी;
बाई ब्रह्मांड भराणो एने खमा खचीत।—बाई०
मुनि वशिष्ठ वेदमांथी करे मन विचार;
बाई, रोम रोम ए राम रमे सफल संसार।—बाई०
हां, हां, उठो अनुचर जुओ, जई चारे देश,
बाई, राम तारो शोधे वली शेष ने महेश।—बाई०
राजा राता ताता थाये ने करे सरजमां शोध;
भालण प्रभु रघुनाथ भराणा कौसल्यानी गोद।—बाई०

पड़ोसिन और स्त्रियों से पूछती हैं, "बहिनों, रामजी को कहीं देखा? किस ओर गये हुए हैं?" यह सुनकर नारियां कहती हैं, "बहिन रामजी तो होंगे राममहालय में:" उत्तर सुनकर पड़ोसिन कहती है—"नहीं जी, मैं उनको लेकर अपने घर जा रही थी। खेलाने के लिए। रास्ते में किसी कारण वशात् मैंने उनको जमीन पर खड़ा किया और मैं कार्य में लीन हो गई। रामजी मुझे कार्य में लीन देखकर, मेरी नजर बचाकर कहीं भाग गये हैं। मेरा रत्न कहीं चला गया है, अब म माताजी को क्या जवाब दूंगी।"

आखिर पड़ोसिन दशरथजी के पास पहुंचती है। कहती है, "हे महाराज, रामजी को ढूंढने के लिए व्यवस्था कीजिए।' दशरथजी ने अनुचरों से कहा, "उठो भाइयो, रामजी को कहीं से ढूंढ लाइयो। उसके बाद ही पानी पीना। जल्दी करो। मेरे पुत्र की ईश्वर रक्षा करें।' जब इस बात का गुरु वसिष्ठ को पता चला तो वेद में नजर करते हुए वे सोचने लगे —"रामजी गायब नहीं हुए हैं। वे तो प्रत्येक रौवों और सकल संसार में व्याप्त हैं। उन्होंने भी अनुचरों से कहा, "हां, हां जल्दी करो। रामजी का पता लगाओ। चारों देश में देख आओ। जाओ।' रामजी की खोज में शेष और महेश भी कार्य रत हो गये। दशरथजी क्रुधित हो उठे। सरजू नदी में भी उन्होंने रामजी की खोज के लिए अनुचरों को डाला। किन्तु हैरानी की बात तो यह थी कि रामजी कहीं नहीं गये हुए थे। सीधे जाकर कौसल्याजी की गोद में बैठ गये थे। मां-बेटा आनन्द कर रहे थे; और सारी अयोध्या नगरी चिन्ता में डूबी हुई थी। ईश्वर की लीला अगम्य है।

मैया बावरी थई रे मैया बावरी;
प्रभु ने लूगड़े लपेट्यां, लाल दीठा नहीं रे।—मैया०
हेली गोदमां छाली ने, हींडे बार मानो;
एवो चंचल चकोर रह्यो केम छानो।—मैया०
हेली आश्चर्य थयुं एवुं ते शुं कहेवुं तुंने;
आवो चंचल चकोर बाल वरशे कोने।—मैया०
परब्रह्मां पराक्रम नथी थोडुं;
एवुं सरज्युं हशे विरंचिए विश्वमां जोडुं।—मैया०
शिव सनकादिक इम चवे जे व्याप्यो चौदे लोक;
वली केश आवे नेत्रमां तो ऊंचा करे कोक।—मैया०
हेली शां तप कीधां माताए, आ ओछगे माहाले;
भालण प्रभु रघुनाथ, मातानो पालव झाले—मैया०

कौसल्या बावरी सी हो गई। बावरी-सी महालय में दौड़ने लगीं। राम सो रहे थे और उन्होंने उनके ऊपर एक कपड़ा डाल दिया। और वह यह भूल गई। एक सखी यह देख रही थी और हंस रही थी। कौसल्या बावरी-सी दूसरे कमरे में गई कि तुरन्त वह सखी रामजी को लेकर अपने घर चली गई प्रभु को खेलाने। वहां और कई सखिया भी इकट्ठी हो गईं। जब सखी प्रभु को लेकर चली तो हैरानी की बात तो यह थी कि वह चकोर बालक जरा

भी रोया नहीं। चुप्पी से पड़ा रहा—सखी की कटि पर।

सखियां परस्पर बातें करने लगीं, "इस बालक की शादी किससे होगी ? छोटा-सा होते हुए भी इसमें पराक्रम कितना है ?', 'ईश्वर ने इसके योग्य बच्ची भी जगत में पैदा की होगी', कहते हैं यह तो प्रभु हैं और शिव सनकादिक भी इनकी स्तुति करते रहते हैं किन्तु इन्हें तो अपनी आंखों पर पड़े अपने केश तक उड़ाने की ताकत नहीं है', "कौसल्याजी ने क्या साधना की होगी कि ऐसा पुत्र मिला" वगैरह। इतने में कौसल्याजी वहां आ पहुंची। सब सखियां हंस उठी। कौसल्याजी भी हंसने लगी। रामजी ने तुरन्त कौसल्याजी की साड़ी का छोर पकड़ लिया। और सब नारियां इसे रिक-रिक कर देखने लगीं।

प्रीते पाड़े कौसल्याजी शोर, रघुबा मारा क्यां रे रमे;
मारो कोमल बाल किशोर, रघुबा मारो क्यां रे रमे;
नथी लाड़कडो लक्ष्मण संग, रघुबा मारो क्यों रे रमे,
आनन्दमां उधाड़े अंग, रघुबा मारो क्यां रे रमे;
माता शोधी वल्यां धामोधाम, रघुबा मारो क्यां रे रमे;
छप्या भगतना भीतर मांय, रघुबा मारो क्यां रे रमे;
देश देश दोड़ावीने भूप, रघुबा मारो क्यां रे रमे;
शके हरि गया मारे भूप, रघुबा मारो क्यां रे रमे;
जेने होय कुंवारी कन्याय, रघुबा मारो क्यां रे रमे;
प्रीत कारण परपंच धाय, रघुबा मारो क्यां रे रमे
कोई शोधो रे शिवजीना मन, रघुबा मारो क्यां रे रमे;
जेने लग्न लाग्यां निशदिन, रघुबा मारो क्यां रे रमे;
मैया ऊभी थाय ने ढले धरण, रघुबा मारो क्यां रे रमे;
प्रदीपना चरणमां खुच्यां चरण, रघुबा मारो क्यां रे रमे;
गई मिथुला ते मेहेले मांय, रघुबा मारो क्यां रे रमे ;
पोहोडया पारणे पुरुष पुराण, रघुबा मारो क्यां रे रमे;
महानिद्रामां छे मारो नाथ, रघुबा मारो क्यां रे रमे;
घणी भालणना सुख साथ रघुबा मारो क्यांरे रमे;

एक दिन कौसल्याजी ने प्रेमपूर्वक नारा लगाया कि— "मेरा रघुवर कहां है ? . . . .मेरा कोमल बाल किशोर कहां है ? उसके साथ मेरा लक्ष्मण भी कहीं गया हुआ है। रे ! रघुवर कहां खेलने चला गया ! मुझे कहे बिना गया कहां ? उसका शरीर भी नंगा है। स्नान करके तुरन्त खेलने चला गया है। कहां गया होगा ? कोई ढूंढ आइयो।' यह कहकर कौसल्याजी महालय से बाहर गईं। चारों ओर अपने लाड़ले को ढूंढने लगीं। पड़ोस के प्रत्येक घर उन्होंने देख लिये। फिर तो वे अपने पति के पास गईं। राजा से भी कहा कि रघुवर का कहीं पता नहीं है। अनुचरों को दौड़ाइये चारों ओर। कहीं नजदीक के राजा के घर न चले गये हों। क्योंकि शायद उस राजा के कन्या होगी और प्रेम के प्रपंच भी कहां नहीं होते हैं।? कौसल्याजी रामजी के विरह से बार-बार बेसुध होने लगी 'रघुवर को लाओ मेरे पास !' बड़बड़ाने लगी। इतने में मंथरा हर्ष पूर्वक कौसल्याजी के पास आई, और कहने लगी— "माताजी, रघुवर तो महालय के झरोखे पर पड़े हुए पालने में जाकर मजे से सो रहे हैं।' यह सुनकर चारों ओर खुशी का वायुमंडल छा गया।

राष्ट्रभाषा सीखने में ही हमारा हित

दक्षिण की भाषाओं के साहित्य में बहुत अच्छे-अच्छे विचार और कल्पनाएं हैं, जो सारे भारत में फैलने चाहिए। इसके लिए अखिल भारतीय भाषा का इस्तेमाल आपको करना पड़ेगा। शंकर और रामानुज ने सारे भारत में अपने विचार फैलाये। आज सारे उत्तर भारत में शंकर, रामानुज, मध्व और वल्लभ की चलती है। इनमें से एक की भी मातृभाषा संस्कृत नहीं थी। शंकर की मातृभाषा मलयालम् थी, रामानुज की तमिल थी, मध्व की कन्नड़ थी और वल्लभ की तेलगू। लेकिन संस्कृत का स्वीकार उन्होंने किया, इसलिए उनके विचार सारे भारत में फैल सके, अन्यथा उनके विचार अपने-अपने प्रांतों में ही रह जाते। उस जमाने में संस्कृत राष्ट्रभाषा थी। वह स्थान आज हिन्दी को प्राप्त हुआ है। इसलिए आप जितनी जल्दी हिन्दी सीखेंगे, उतना आपको लाभ और भारत को भी लाभ होगा।

—विनोबा

गोवा की एक लोककथा

पापी कौन ?

नरेश मन्त्री

उस रात फरान्सिस को नींद नहीं आई। पादरी बनने का उसका अभ्यासक्रम पूरा हो चुका था। कल इतवार को सुबह गांव के गिरजाघर में उसका पहला प्रवचन होगा। उसमें गांव के सब लोग तो हाजिर रहेंगे ही। इसके अलावा उस प्रांत के प्रमुख धर्माधिकारी भी तरुण पादरी फरान्सिस का प्रवचन सुनने के लिए उपस्थित रहेंगे। अगर प्रवचन प्रभावी रहा तो फरान्सिस की आगे की तरक्की आसानी से हो जायगी । इस प्रकार एक तरह से कल फरान्सिस की परीक्षा होने वाली थी।

सारी रात फरान्सिस को प्रवचन के ही विचार आते रहे। कौन-सा विषय लूं, किस तरह प्रारम्भ करूं, शब्द-योजना कैसी हो, आवाज में चढ़ाव-उतार कैसे रहे। इस सोच में उसकी नींद हराम हो गई। आधी रात बीतने के बाद जब उसकी आंख लगी, तो उसको सपना आया कि वह बहुत प्रभावी प्रवचन दे रहा है और सब श्रोता मन्त्र-मुग्ध होकर सुन रहे हैं!

दूसरे दिन सुबह फरान्सिस जल्दी उठकर तैयार हुआ। नये कपड़े पहनकर गिरजाघर पहुंचा। गांव के सब छोटे-बड़े, तरुण-वृद्ध, स्त्री-पुरुष अच्छे-अच्छे कपड़े पहनकर गिरजाघरों में इकट्ठे हुए थे। प्रमुख धर्माधिकारी भी हाजिर थे। फरान्सिस का दिल दुगुनी गति से चल रहा था। फिर भी अपने चेहरे पर प्रसन्नता का भाव कायम रखने की कोशिश में वह सफल रहा।

प्रार्थना पूरी होकर जब फरान्सिस प्रवचन करने के लिए खड़ा हुआ, तब उसकी आंखों के सामने अंधेरा छाने लगा। गला सूखने लगा। जीभ अन्दर की ओर मुड़ने लगी। मुश्किल से वह प्रारम्भ कर पाया, "आज प्रभु ईसा मेरे मुंह से एक ऐसा संदेशा सुनवायेंगे जो सिर्फ पुण्यवान लोग ही सुन सकेंगे। पापी लोगों को एक शब्द भी सुनाई नहीं देगा। पुण्यवान लोग प्रभु का संदेशा सुनकर आज धन्य हो जायेंगे।" उसके आगे वह कुछ बोल नहीं सका। सिर्फ जोर-जोर से हाथ हिलाता रहा। इस तरह एक घंटा प्रवचन होने के बाद वह थककर बैठ गया। लोगों में कुछ देर सन्नाटा छाया रहा। लोग उस दिव्य संदेश के असर में थे। धीमे-धीमे लोगों में हलचल पैदा हुई। धर्माधिकारियों ने युवक फरान्सिस का अभिनन्दन किया और उसकी बहुत प्रशंसा की। सब लोग भक्तिभाव से फरान्सिस की तरफ देखने लगे। फरान्सिस का आज का प्रवचन बहुत ही सफल रहा।

घर पहुंच कर, खा-पीकर फरान्सिस आराम करने की सोच रहा था, इतने में किसी ने दरवाजा खटखटाया। 'अन्दर आइए।' फरान्सिस ने कहा। धीमे-धीमे दरवाजा खोलकर एक बूढ़ा आदमी अन्दर आया। छरहरा बदन, फटे हुए कपड़े, चेहरे पर सफेद बाल, झुर्रियां। लेकिन उसकी आंखों ने उसके चेहरे की ताजगी कायम रखी थी। मिट्टी में पड़े हुए पारिजात के फूल जिस तरह मिट्टी का मिट्टीपन मिटा देते हैं। मासूम बच्चे की सी आंखें। उस गिरजाघर का वह पुराना बागवान था।

'कहो जान, क्या बात है?' फरान्सिस ने पूछा। जान कुछ बोला नहीं। वैसे ही सिर झुकाये खड़ा रहा। 'कहो तो सही, क्या बात है। क्या किसी चीज की जरूरत है?" फरान्सिस ने फिर से पूछा। जान ने आंखें ऊपर उठायीं। सावन का नीले बादलों से घिरा हुआ क्षितिज उसकी आंखों में झुक आया था। उनमें एक अजीब कारुण्य भरा हुआ था, एक अजीब कौतुहल और उससे भी कुछ अधिक। फरान्सिस को लगा ऐसा कि भगवान फिर से जीवित होकर उसके सामने खड़े हैं। उसकी आंखें अपने-आप नीची हो गईं।

जान, घुटनों के बल बैठा और हाथ जोड़कर कहने लगा, लगा, 'हुजूर, आपके सामने एक निवेदन करना है। मैं बड़ा पापी हूं। मेरे जैसा गया बीता आदमी इस गांव में कोई नहीं है।' फरान्सिस ने आंखें उठाकर जान की तरफ देखा। उसके चेहरे पर मासूमियत टपक रही थी। ऐसा मुखड़ा और पाप? 'तुम क्या कह रहे हो?

(शेष पष्ठ ४२० पर)

नई तालीम में समवाय एवं स्वावलंबन

चन्द्रकला मित्तल

पूज्य बापू ने बुनियादी तालीम का मन्त्र जब हमें दिया तो उनके मस्तिष्क में सब से आगे सर्वोदय का लक्ष्य था और उन्होंने सर्वोदय समाज की नींव डालनेवाली बुनियादी तालीम का एक चित्र हमारे सामने रखा। सबसे पहली बात जो हमें ध्यान में रखनी है, वह यह है कि बुनियादी तालीम अपने में स्वयं लक्ष्य नहीं है वह एक नये प्रकार की समाज-रचना का माध्यम है। वह समाज सर्वोदय समाज होगा जिसमें मानवी मूल्यों की प्रतिष्ठा होगी और समाज के सभी सदस्यों के सर्वांग सम्पूर्ण हितों की पूर्ति का साधन उन्हें उपलब्ध रहेगा। यह समाज शासन निरपेक्ष और शोषण मुक्त होगा। मनुष्य की कर्म प्रेरणा का आदि स्रोत लोभ और दंड पर अधिष्ठित न होकर कर्तव्य भावना और प्रेम-स्फुरण में से निसृत होगा। इस समाज की मौलिक विशेषता यह होगी कि इसमें व्यक्ति प्रकृति के उपादानों अर्थात क्षिति, जल पावक, गगन, समीर, पर; अपनी दैहिक, मानसिक और बौद्धिक शक्तियों पर तथा उन दोनों की संयोग से उत्पादित सम्पत्ति पर खानगी मालकियत न मानकर सामाजिक उपादेयता के सिद्धांत पर विचार और आचार करेगा। अर्थात लोक संग्रह की प्रवृत्ति मनुष्य की कर्म प्रेरणा की मूल स्रोत बनेगी।

विषयान्तर के डर से मैंने संक्षेप में उस समाज-का चित्र आपके सामने रखा है जिसके घटक बुनियादी तालीम का आविष्कर्ता इस तालीम के द्वारा तैयार करना चाहता है। बापू ने हमेशा एक बात हमारे सामने रखी कि शोषण मुक्ति का केवल एक ही स्थायी हल है कि हम स्वावलंबी बनें। स्वावलम्बन का अर्थ है परावलम्बन का निषेध यानी दूसरों की कमाई पर जीने का परित्याग। नई तालीम यदि कुछ नया पन है तो वह यही है कि वह पुरानी तालीम में के मूल दोष का परिहार करके चलती है। आज जो तालीम चालू है उसका एक सबसे बड़ा दोष यह है कि वह विद्या नहीं है। विद्या यानी वह तालीम जो हमें सब प्रकार के अभावों और कुभावों से सर्वथा मुक्त कर सके। कवि ने कहा है—सा विद्या या विमुक्तये। नई तालीम विद्या होने का दावा करती है। यानी वह विद्यार्थी के सामने उसकी हर प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति का मार्ग खोलकर रख देती है। वह उसकी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक एवं सामाजिक सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन उसके हाथों में रखकर उसे अभय का वरदान देती है। नचिकेता को यम अर्थात मृत्यु का देवता अभय वरदान देता है। इसका अर्थ यही है कि विद्या प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति का स्वातन्त्रय या स्वावलम्बन साधना ही चाहिए।

नई तालीम में स्वालम्बन की संभावना है, यह कहना नई तालीम को शंका की दृष्टि से देखना है। हमें तो यह कहना है कि नई तालीम की यह कसौटी है कि उसमें स्वावलम्बन की विद्या सधती है। स्वावलम्बन का अर्थ संकीर्ण दृष्टि से न लेकर हम थोड़ा विशद चिन्तन करें। कोई भी मनुष्य अपनी परिस्थितियों का स्वामी नहीं होता फिर भी उसके भीतर यदि यह शक्ति है कि वह प्रतिकूल परिस्थितियों का डटकर सामना कर सके और अनुकूल परिस्थितियों में अपना नैतिक स्तर बनाये रख सकें तो हम उसे स्वावलम्बी कहेंगे। स्वावलम्बी का अर्थ स्वयं पूर्ण नहीं है। समाज के भीतर सह-जीवन की साधना तो अखंड रूप से चलेगी और प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के जीवन में परिपूरक के तौर पर रहता ही है। परन्तु मूल आलम्बन अपना ही चाहिए। सर्वोदय का मन्त्र देते समय बापू ने स्वावलम्बन का उच्चारण किया। स्वावलम्बन के पीछे एक गहरी दृष्टि है। स्वावलम्बन उस समाज का मूल आधार है जिसमें विकेन्द्रीकरण की योजना पर समाज-संगठन होता है। आर्थिक स्वावलम्बन का इसमें बहुत महत्व है। प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जिसने नई तालीम प्राप्त की है आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होना चाहिए, अर्थात उसे एक ऐसे ग्रामोद्योग का विज्ञ होना चाहिए जो स्वतन्त्र उद्योग हो, पूरक उद्योग नहीं।

नई तालीमशालाओं को अपना (पाठ्यक्रम नहीं)

कार्यक्रम इस प्रकार तैयार करना है कि सोलह वर्ष की आयु में पहुंच कर प्रत्येक विद्यार्थी एक स्वतन्त्र उद्योग में इतनी कार्यक्षमता प्राप्त करले कि वह अपना और अपनी शिक्षण सामग्री का खर्चा निकाल सकें। इसके बाद चार वर्ष का अगला शिक्षण क्रम हो जिसकी पूर्ति पर उसमें एक परिवार का आर्थिक बोझ उठाने की शक्ति आ जाय। इस प्रकार वह अपनी शाला में अर्थोपार्जन करता हुआ बीस से चौबीस वर्ष की आयु तक चार वर्ष और रहे। इस बीच में वह अपने उद्योग एवं सम्बन्धित उद्योगों का उच्च प्राविधिक ज्ञान एवं समाज विज्ञान एवं दर्शन का तत्वज्ञान या ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके शाला से निकलें और उस समय स्वउपार्जित संपत्ति गुरु दक्षिणा में देकर शाला के ऋण से उऋण होवें। यह है नई तालीम का स्वावलम्बन शिक्षण। नई तालीम कठोर परिश्रमशील एवं ग्राम्य-जीवन को सहज रूप से वरण करने वाले स्नातकों को सर्वोदय की दीक्षा देगी। यहां हमने आर्थिक स्वावलम्बन का उदाहरण दिया है। इसके साथ-ही-साथ मानसिक व बौद्धिक तौर पर आत्म-विश्वास एवं आत्म निष्ठा को जागृत करनेवाली शास्त्रीय विद्या भी उन्हें दी जाय।

नई तालीम के लक्ष्य और उसके स्वरूप का दर्शन कर लेने पर हमें उस शिक्षा की प्राप्ति का ढंग खोजना होगा। उसके लिए हमें बापू ने बताया कि मानवी जीवन विभिन्न वृत्तियों एवं शक्तियों का एक असम्बद्ध संग्रह नहीं है। वह एक पूर्ण इकाई है। तथा मनुष्य जीवन के प्रत्येक कार्य का दूसरे व्यवहारों के साथ अभेद सम्बन्ध है—मोटे तौर पर शास्त्रों ने जीवन वृत्ति को तीन स्वरूपों में देखा है। ज्ञान, कर्म और भक्ति। ये तीनों जीवन के तीन विभाग नहीं है वरन् ये तीनों परस्पर ओतप्रोत वृत्तियां है और एक दूसरे के सम्पर्क, संसर्ग से जागृत रहती है। नई तालीम ज्ञान, कर्म और भक्ति के बीच समवाय की स्थापना करती है। वह कर्म को इस समवाय का मूल आधार मानकर ज्ञान और भक्ति के तत्वों का विकास और पोषण करती है। समवाय का अर्थ है सम्बद्ध ज्ञान अर्थात जीवन प्रसंग उपस्थित होने पर तद-विषयक ज्ञान विज्ञान का गुरू द्वारा शिष्य के प्रति उदघाटन। नई तालीम के सामने तीन काम हैं :—१.कर्म कुशलता, २. सहज ज्ञान तथा ३. जीवन निष्ठा का जागरण। नई तालीम में इन तीनों को विद्यार्थी पर आज्ञा, अनुदेश या उपदेश के माध्यम से लादा नहीं जा सकता। नई तालीम का मूल लक्षण ही यह है कि उसमें सहज वृत्ति का आश्रय लिया जाता है। विद्यार्थी में कर्म, ज्ञान और भक्ति का उदय होता है, आरोपण नहीं। नई तालीम का विश्वास है कि प्रत्येक मानव के हाथ में कर्म की, बुद्धि में ज्ञान की और हृदय में भक्ति की शक्तियां या फैकल्टीज सुषुप्तावस्था में विद्यमान है। उन सुषुप्त शक्तियों यानी डोरमेंट फैकल्टीज को संसर्ग, संपर्क और जीवन घटना चक्र के घात प्रतिघात द्वारा जागृत करना ही शिक्षण है। नई तालीम में सहज वृत्ति का अर्थ यह कि विद्यार्थी पर शिक्षा बोझ नहीं बनती वरन् उसे ऐसा लगता है कि सभी कुछ यानी कर्म-प्रेरणा, ज्ञान-विज्ञान और जीवन-निष्ठा उसके भीतर से स्फुरित हो रहा है। इतना भार-शून्य जो शिक्षण है वही नई तालीम है।

अब हमें विषय के एक महत्वपूर्ण पहलू पर चिन्तन करना होगा। वह पहलू यह है कि कर्म-स्वालम्बन के साथ ज्ञान स्वावलम्बन और निष्ठा जागरण का समवाय करना होगा या ज्ञान-स्वालम्बन की दृष्टि से कर्म-स्वावलम्बन का आयोजन करना होगा। इस प्रश्न को इस प्रकार भी रख सकते हैं कि हम जो-जो कर्म करते जाते हैं उसमें प्रसंग उपस्थित होने पर वाचिक या पठित ज्ञान-विज्ञान का समवाय साधते होंगे या हमें अमुक ज्ञान विज्ञान की शिक्षा अमुक वर्ग के शिष्यों को देनी है। अतः तदनुसार कर्म योजना हम करेंगे। हमारी नम्र दृष्टि में शिक्षण का माध्यम कर्म या स्वावलम्बन रहेगा। बुनियादी तालीम का काल सात वर्ष का माना है। इसके बाद भी २४ वर्ष की आयु तक विद्यार्थी के गुरु गृह में यानी शाला में रहने की संभावना है। इस दीर्घ अवधि में प्रत्येक प्रकार के ज्ञान का मौका आयेगा। यदि गुरु जागरूक और ज्ञान सम्पन्न रहे तो सहज अवसर उपस्थित होने पर ज्ञान गंगा का स्रोत अनजाने ही गुरु के गोमुख से विद्यार्थी के सागर में प्रवेश करता रहेगा। हमारा यह भी विश्वास है कि इस प्रकार सहज स्फूर्त ज्ञान मिलते रहने से निष्ठा निर्माण होगी। आज ज्ञान और कर्म के बीच में एक गहरी विभक्ति है। इस विभक्ति को भक्ति यानी निष्ठा से पूरना होगा, पाटना होगा तभी ज्ञान निष्ठा

कर्म और कर्म-निष्ठ ज्ञान का अवतार होगा और हमारे जीवन का द्वैत या कर्म-विचार विभेद मिटेगा । यही एकमेव मार्ग है मनुष्यता के विकास का ।

हमारे शास्त्रों ने ऋषि को द्रष्टा कहा है द्रष्टा के दो अर्थ हैं । एक तो यह कि उसे सत्य का दर्शन होता है, दूसरा यह कि वह दृष्टि सम्पन्न होता है—यानी उसकी निगाह से कोई ऐसा अवसर चूक नहीं सकता जबकि शिष्य को ज्ञान दिया जाना चाहिए और चूंकि वह द्रष्टा होता है यानी तत्वज्ञानी होता है अतः उसकी मेधा से सदा ही ज्ञान का स्रोत अविरल रूप से बहा करता है ।

कई बार नई तालीम में समवाय को गलत ढंग से समझा जाता है । अमुक ज्ञान देना है, अतः एक कृत्रिम परिस्थिति पैदा करके उसके सहारे वह ज्ञान दिया जाता है या किसी घटना के साथ किसी जानकारी का समवाय न होता हो तब भी बेहूदे ढंग से उसे जोड दिया जाता है । नई तालीम शार्टकट या छोटा मार्ग नहीं है । उसमें जल्द बाजी नहीं चलेगी । शिक्षक तो माली होता है । उसे असीम धैर्य रखना पड़ता है । उसके मन में जल्दी-से-जल्दी अपना ज्ञान विद्यार्थी के ऊपर लादने की बेचैनी नहीं होती । वह न तो शिष्य पर ज्ञान लादता है न परिस्थितियां । सहज स्वाभाविक रूप से जो स्थितियां सामने आती जायं उनको देखकर गुरु अपनी ज्ञान की पिटारी खुली रखता है । नई तालीम वस्तुतः सिखाना नहीं, सीखना है । इसमें शिष्य स्वयं सीखें यह प्रेरणा उसके भीतर जागृत करना शिक्षक का धर्म है । इसके अतिरिक्त स्वयं शिक्षक को भी जीवन के अनेक पाठ इस प्रक्रिया में मिलते रहेंगे जिससे उसका ज्ञान भंडार नित्य समृद्ध, व्यवस्थित और शोधित होता रहेगा । इसमें शिष्य और गुरु दोनों आंख खोलकर रहेंगे तभी कुछ सीख सकेंगे ।

स्वावलम्बन का एक पहलू और भी है । शिक्षकों को भी उद्योगी होना चाहिए । जैसे करके सीखना वैसे ही करके सिखाना । स्वावलम्बी नागरिकों का निर्माण स्वावलम्बी शिक्षक ही कर सकते हैं । नौकर शिक्षकों से नौकर नागरिक ही तैयार होते हैं । शिष्य के सामने शिक्षा की उद्योगी और समवायी जीवन पद्धति होनी चाहिए । जो उसे प्रवर्य शिक्षण दे सके । शिक्षक का स्वावलम्बन सधना ही चाहिए, इससे वह परमुखापेक्षी नहीं रहेगा । स्वावलंबी, मुक्त-गुरु ही मुक्त-शिष्यों का निर्माण कर सकता है । गुरु के लिए उद्योग में पूरा समय देना कठिन पड़ेगा क्योंकि उसे अपना समय शिष्यों की सेवा में भी देना होगा । अतः उस कमी को पूरा करने के लिए विद्यार्थियों के सहयोग के अतिरिक्त उसे स्थानीय श्रमदान भी मिलना चाहिए, जिससे उसका सपरिवार भरण-पोषण हो सके । विद्यालय गुरु वृत्ति के लिए आत्म निर्भर रहेगा परन्तु साधनों के लिए वह स्वावलम्बी नहीं हो सकता । समाज का धर्म है कि शाला को उत्पादन के समस्त साधन मकान, भूमि, पानी, पुस्तकालय, गायें और अन्य आवश्यक साग्री जुटावे, यानी समाज से अनावर्तक (नांन रेकरिंग) खर्च ही लिया जाना चाहिए । आवर्तक खर्च नहीं । परन्तु यह तभी संभव होगा जबकि शाला पूर्ण शाला हो । पूर्ण शाला का अर्थ है ऐसी शाला जहां ७ वर्ष की आयु से २४ वर्ष की आयु तक विद्यार्थी विद्या प्राप्त करें । यदि शाला पूर्ण-शाला नहीं है तो शाला स्वावलम्बन कुछ अंशों में ही सधेगा । यहां यह बात साफ समझ लेनी होगी कि बुनियादी शिक्षण के अन्तिम वर्ष में यानी सोलह वर्ष की आयु में ही हम विद्यार्थी से अर्थ स्वावलम्बन की अपेक्षा रखते हैं । उससे पूर्व अंश स्वावलम्बन सधेगा, शेष व्यय जुटाना समाज का पवित्र धर्म होगा । परन्तु गुरु के स्वावलम्बन पर हमारा पूरा जोर है ही । उसे उद्योगी और स्वावलम्बी होना ही है । वह वेतन भोगी होकर नई तालीम का काम नहीं कर सकेगा । वेतन के पीछे एक वृत्त रहता है और वृत्ति भी, उस वृत्त और वृत्ति में फंसकर गुरुत्व नष्ट हो जाता है और उसकी आत्मनिष्ठा तेजस्वी होकर अभिव्यक्त नहीं होती । जहां गुरु का तेज ही प्रकट न हो वहां शिष्य विद्या सम्पन्न होगा कैसे ? यह एक मौलिक प्रश्न है ।

कुछेक लोगों का भ्रम है कि नई तालीम नन्हें मुन्नों पर उत्पादन का बोझ डालकर उनके विकास को कुंठित कर देगी । ऐसे हमारे आलोचकों से हम कहना चाहते हैं कि हमारी निगाह उत्पादन पर नहीं है, प्रक्रिया पर है, फल पर नहीं, कर्म पर है । नई तालीम फलोपासना नहीं, कर्मोपासना है और उसीके माध्यम से वह ज्ञान-लब्धि एवं जीवननिष्ठा के लक्ष्य सहज सिद्ध करती है । कर्म करना

यानी हाथ पैरों और शरीर के दूसरे अंगों को गतिशील रखना प्रत्येक जीवित शरीर का सहज धर्म है। उस गतिशीलता का सम्यक् दिशा निर्देश नई तालीम करती है। जब गतिशीलता में उत्पादन होता है तो वह बोझ का कारण कभी नहीं बन सकता। उससे आत्मविश्वास और नई स्फूर्ति उदय होते हैं। उत्पादन सृष्टि का धर्म है उसे नई तालीम टाल नहीं सकती, टालना अधर्म भी है। नई तालीम सर्वथा आग्रहमुक्त है उसमें वर्ग शिक्षण नहीं होता व्यक्ति शिक्षण होता है। कौन कितना सीखेगा और क्या सीखेगा यह उसकी प्रवृति और शक्ति पर निर्भर करेगा। नई तालीम तो किसी अनिवार्य समय-क्रम—(टाइम टेबल) का बोझ भी नहीं ढो सकती। शिक्षण का क्रम जबतक शिष्य को सहज रहे दिन में उतना ही शिक्षण काल। यह है नई तालीम का सूत्र। जो भार है, करना ही पड़ेगा, जिसके न करने से दंड का भय है वह नई तालीम नहीं है। नई तालीम में विद्यार्थी आरम्भ से ही अपने सहारे खड़ा रहना सीखता है। यह है स्वावलंबन की विद्या।

समवाय नई तालीम में सहज शिक्षण का ही दूसरा नाम है। सहज शिक्षण के लिये न अवसर ढूंढ़ने पड़ते हैं और न बनावटी अवसर तैयार करने पड़ते हैं। वरन जो अवसर सहज रूप से क्षण-क्षण में हमारे सामने आते जा रहे हैं उनका सम्यक उपयोग ही समवाय की कला है। यहां हमें यह समझ लेना चाहिए कि समूचा शिक्षण पद और पदार्थ के ज्ञान पर आधारित होता है। पद अव्यक्त है और पदार्थ-व्यक्त। अतः मनोवैज्ञानिक शिक्षण वही है जिसमें पदार्थ शिक्षण की पद्धति अपनाई जाती है। पदार्थ से उस पद का सहज बोध होता है जिसका अर्थ वह पदार्थ है। पदार्थ अर्थात् पद का अर्थ। पदार्थ शिक्षण में पद और अक्षर का संयुक्त और व्यक्त या प्रत्यक्ष—शिक्षण होता है। पदार्थ शिक्षण द्वारा पद और अर्थ का बोध ही समवाय है। समवाय कष्ट साध्य नहीं होना चाहिए। नई तालीम की समूची कल्पना सहज भाव की है—गुरु और शिष्य दोनों के लिए सहज अनुभूति। समवाय साधने के लिए कृत्रिमता का सहारा लेना तो समूची शिक्षा पद्धति को ही कष्ट साध्य और अप्राकृतिक बना देना है। ज्ञान ठूंसने की आतुरता का परित्याग करके गुरु अपने शिष्यों के साथ सहजीवन, सहकर्म और सहचिन्तन की कला सिद्ध करले तो समवाय, स्वावलंबन और सर्वोदय के मंत्रों की सिद्धि होगी, नई तालीम यशस्वी होगी और बापू के प्रति हमारी ईमानदारी साबित होगी। ईश्वर हमारा पथ प्रशस्त करे।

(पृष्ठ ४१६ का शेष)

आखिर बात क्या है?' फरान्सिस ने आश्चर्य भरी आवाज में पूछा। जान ने कहा, 'सुबह का आपका दिव्य प्रवचन सब लोग सुन पाये। मैं ही एक पापी, अभागा, कि एक शब्द भी मेरे कानों में नहीं पड़ा। लाख कोशिशें कीं, भगवान से प्रार्थना करता रहा, लेकिन सब बेकार। सचमुच मेरा जैसा पापी आदमी कोई नहीं है। आप मेरे लिए प्रार्थना कीजिए, हुजूर!'

फरान्सिस समझ गया। खैर, इस गांव में एक तो सच्चा आदमी है जिसको अपने कानों पर पूरा विश्वास है! जिसे अपने को पुण्यवान कहलवाने का लालच नहीं है! जो अपने को पापी बताते नहीं डरता!

फरान्सिस ने बूढ़े को ऊपर उठाकर गले लगाया और कहा, 'बाबाजी, आप ही अकेले इस गांव में निष्पाप हैं, बाकी के सब पापी हैं—झूठे हैं। आपके पास ही एक ऐसा हृदय है जो आसानी से भगवान को पा सकता है। प्रभु ने खुद कहा है—धन्य हैं वे, जिनका हृदय शुद्ध है—क्योंकि वे भगवान का दर्शन करेंगे।

"सुबह मैंने कुछ प्रवचन किया ही नहीं था। कुछ बोल ही नहीं पाया। सबकी आंखों में धूल झोंकी। सब अपने को पुण्यवान कहलवाने के लालची थे, बड़े धरमाधिकारी भी। किसी में अपने को पापी बताने की हिम्मत नहीं हुई। आप ही अकेले सरल-हृदयी, निकले, जो बिना संकोच मेरे पास चले आये।

"अब मैं इस गांव में नहीं रहूंगा। कल सुबह चुपचाप चला जाऊंगा और कोशिश करूंगा कि आपके जैसा सरल हृदय मेरा भी हो, ताकि भगवान को जल्दी पा सकूं।"

दूसरे दिन सब गांव वालों को अचम्भे में डालकर फरान्सिस गांव छोड़कर चला गया।

'मंगल-प्रभात' से

बनेगा एक नया इंसान

पूर्णचन्द्र जैन

दे दो धन धरती का दान।
मांग त्याग की सब हृदयों से,
यह नूतन अभियान।
दे दो धन धरती का दान॥

(१)

दान नहीं, यह छूट रहा है,
संत विनोबा लूट रहा है,
जन्म जन्म का टूट रहा है,
कालुषमय अभिमान।
खिलेगा नव-समाज-उद्यान॥

(२)

जिसे न लाया, ले जा सकता,
खा सकता न खिला ही सकता,
कण भर भी न मिटा ही सकता,
वह धरती की शान।
उसी को अपनी कहे अजान॥

(३)

जीवन की रस धार वही है,
बहती ही जो सदा रही है,
रुकती जीवन-धार कहीं तो,
कर देती म्रियमाण।
इसे तू होने दे गतिमान॥

(४)

दिल; दिमाग, बाजू की ताकत,
इसमें सब समाज की लागत,
दो दिन का तू भी अभ्यागत,
क्या तेरा प्रतिदान।
जिससे टूटे विषम-वितान॥

(५)

यह धरती की मांग नहीं है,
तन, धन की ही मांग नहीं है,
ले, दे का यह स्वांग नहीं है,
बदल रहे हैं मान।
बनेगा एक नया इंसान।
दे दो धन धरती का दान॥

सिंधी का लोक-गीत-साहित्य

मोतीलाल जोतवाणी

[प्रस्तुत लेख लेखक की अप्रकाशित पुस्तक 'सिंधी और उसका साहित्य' का एक अध्याय है। सम्पा०]

प्रसिद्ध लोक-साहित्य संग्राहक श्री देवेन्द्र सत्यार्थी की पुस्तक 'धरती गाती है' में संग्रहीत एक सिंधी-लोक-गीत देखिए :

"सारंग, सार लहेज, अल्लह लग उञियन जी,
पाणी पवज पटन में अरजान अन्न करेज
वतन वसाएजं त संघारण सुख थिए ।"

अर्थात्—'हे मेघ, अल्ला के लिए प्यासों की सार लो, खेतों में पानी बरसाओ और अन्न को सस्ता करो, वतन को बसाओ, आबाद करो ताकि सुख ही सुख हो जाय।'

लोक-गीतों में लोक-मानस बोलता है। उनमें लोक की कामनाएं, विश्वास, आशा, निराशा, सुख और दुख प्रतिबिंबित होता है। शाह लतीफ के उपर्युक्त गीत में मेघ का आवाहन है, देश को खुशहाल बनाने की कामना है। किसीने ठीक कहा है: "Folk literature is material about the hopes nnd yearnings of the people."

'लोक' शब्द को अंगरेजी में Folk कहते हैं। यह शब्द जर्मनी में (Volk) रूप में प्रचलित है। हिंदी, सिंधी आदि भारतीय भाषाओं में 'लोक' शब्द अंगरेजी शब्द (Folk) का पर्याय है। लोक-गीतों में छंद, वजन, बहर का ध्यान नहीं रखा जाता। उनमें लय व रवानी होती है। लोक-गीत लोक-कवियों के कण्ठों से कलकल-ध्वनि करती हुई सुरसरि की भांति निसृत होते हैं।

शाह लतीफ सिंधी के श्रेष्ठतम लोक-कवि हैं। उनकी कविता गांव की आम बोली में है। उसमें गांव के आम वातावरण, आम मशहूर कहानियों और चरित्रों का चित्रण हुआ है। उनके लोक-गीत सच्चे काव्य नहीं तो क्या हैं ? उनमें जन-जीवन का प्रतिबिम्ब है। जीवन की व्याख्या है। तुलसीकृत रामायण के छंद समूचे उत्तर भारत में गाये जाते हैं। तुलसी लोक-कवि हैं। शाह लतीफ भी उसी तरह सिंधी के लोक-कवि हैं।

शाह ने मेघ का आवाहन किया। मेघ ने प्यासों की सार ली। वह बरसा। खेतों-खलिहानों में खुशहाली छा गई। नाज के ढेर लग गए। लेकिन शाह ने देखा कि फिर भी कई लोगों को खाने को कुछ नहीं है। कुछ लोग बेजा फायदा उठा रहे हैं। वे अन्न-धन एकत्र कर रहे ह। वे इस जघन्य प्रवृत्ति के खिलाफ हो उठे। सरकार ने अन्न छिपाकर अधिक मूल्य में बेचने के विरुद्ध अभी कानून बनाये हैं। लेकिन हमारे शाह ने २०० वर्ष पहले इस दुष्प्रवृत्ति के विरुद्ध आवाज खड़ी की थी :

"जिन महांगो मेड़ियो, से था हथ हणानि।
डुकारिया डेह मां, मूञी शाल मरनि।"

कुछ लोगों को गलतफहमी हो गई कि लोक-गीत वे पुराने गीत हैं, जिनको जनता पीढ़ी-ब-पीढ़ी गाती चली आ रही ह और जिनके निर्माता अज्ञात हैं। लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि लोक-गीत अज्ञात कवियों की रचनाएं हों। किसी आधुनिक कवि की वह रचना जो जनता के होठों पर अपना नीड़ बना दे, लोक-गीतों में परिगणित हो जाती है। स्व. सुभद्राकुमारी चौहान की 'झांसीवाली रानी' शीर्षक कविता लोक-गीतों में आ बैठी है। कश्मीर के कवि महजूर का स्वर्गवास हुए अभी अधिक वर्ष नहीं हुए हैं। लेकिन उनकी कविताएं लोक-साहित्य हैं क्योंकि वे जनता की जबान पर हैं। बंगाल के रवीन्द्र लोक-गीत-कार हैं। वर्तमान अवधी में राधावल्लभ, रमई काका, श्रीमती सुमित्राकुमारी सिन्हा आदि प्रतिभावान लोक-गीत-निर्माता हैं। वर्तमान सिंधी में 'दुखायल'[1] के गीत लोक के मानस को छूते हैं। इनके लोक-गीत जनता को बड़े प्यारे हैं। जनता दुखायल के गीतों को गाती है, स्फुरण

---

[1]सिंधी कवि दुखायल आजकल हिंदुस्तानी में काव्य-रचना करते हैं। वह विनोबाजी के साथ गांव-गांव में घूम-कर भूदान-आंदोलन का प्रचार करते हैं।

पाती है। उनका एक लोक-गीत देखिए —

"को झांगीअड़न जो डसु डींदो
डसु डींदो, अल्ला डस डींदो, को डसु डींदो ?

कांगल तुंहिज कार उडामण,
अजु त निमाणीअ जो नियापो खणु ।

साहब तोखे जसु डींदो, अल्ला जसु डींदो,
को झांगीअड़न जो डसु डींदो, डसु डींदो ?"

संस्कृत कवि कालिदास ने मेघ को दूत बनाया। हिंदी कवि हरिऔध ने पवन को दूत बनाया। सिंधी कवि दुखायल ने उपर्युक्त लोग-गीत में 'काग' को दूत बनाया है। विरहिणी कौए द्वारा संदेश भिजवाने की इच्छा करती है। वह कहती हैं :—

"कोई मुझे 'उन' का पता देगा ? कोई देगा ? काग ! आज तो तुम मेरा एक संदेश पहुंचाओ ! भगवान तुम्हें जस (यश) देगा। जस देगा। कोई मुझे 'उन' का पता देगा ? कोई देगा ?"

सिंधी लोक-गीतों में "कांग" (कौआ) दूत का काम करता है। कौआ जब किसी ग्रामीण की झोंपड़ी पर 'मीठी' बोली बोलता है तो वह समझता है कि वह कोई शुभ सूचना लाया है। हो न हो, आज हमारे यहां कोई अतिथि पधारेगा गृहणी काग को मीठी रोटी देने को कहती है :–

"आउ कांव, डियांइ टिकी
खाउ लिकी, बुधाइ केर थो अचे ?"

—'आ कौए ! तुझे मीठी रोटी दूं। तू छिपकर खाना। यह बता, हमारे यहां कौन आ रहा है ?,

"कांग" को लेकर शाह के भी कई गीत हैं। नीचे हम एक लोक-कवि का एक मार्मिक गीत दे रहे हैं। विरहिणी विरहाकुल है। आमों पर बौर आ गया है। लेकिन उसका प्रियतम नहीं आया है। ऐसे मौसम में प्रियतम का पास न रहना उसे बहुत खटकता है। वह काग उड़ा रही है :—

"अंबनि झल्या बूर, फुटा गुल अंगूर,
विछोड़े जी वेल, डुखे विछोड़े जी वेल,
सजण, अचु सवेल, डुखे विछोड़े जी वेल,
निचोयां थी नूर, अंबनि झल्या बूर,
उडायां थी कांग, वेठी उडायां थी कांग,
सजण अचु कंहि सांग, वेठी उडायां थी कांग,
वजे दिल वह्लूर, अंबनि झल्या बूर ।"

कई लोक-गीतों में ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन मिलता है। महाराष्ट्र के 'पवाड़ा' गीत इतिहास की मूल्यवान निधि हैं। झांसी के आसपासवाले प्रदेश में लक्ष्मीबाई की वीरता और सन् सत्तावन के प्रथम स्वातन्त्र्य-युद्ध की झांकियां हैं। इसी तरह सिंधी के 'दोदे चनेसर' के किस्से में तत्कालीन इतिहास की झलक है। इस तरह के लोक-कथा काव्यों में ऐतिहासिक घटनाओं के अतिरिक्त सेनाध्यक्षों के रण-कौशल का भी पता चलता है।

कुछ लोगों ने लोक-गीतों को बनाया। लेकिन लोकगीतों ने सब लोगों को बनाया, उनका जीवन बनाया-बसाया। सुख में ये लोक-गीत गाकर लोग सुखी होते हैं। दुःख में गाकर दुःख को भूल जाते हैं। मानव ने सुख में, दुःख में गाया है।

एक गांव की सुकुमारी दूसरे गांव में ब्याही गई। प्राचीन काल में यातायात के साधनों की कमी थी। अतः वह अपने मां-बाप, भाई आदि से बहुत जल्दी कैसे मिल पाती ? एक लोक-गीत में वह कहती है कि आज मां ने मुझे एक उपहार भेजा है। मैं मां को क्या भेजूं ? अपने जिगर का हिस्सा भेज दूं ? मेरा भाई यहां कब आयगा ?

वह गीत इस प्रकार है :–

"अमड़ि मूंडे छा मुको,
अजु मेरो मितेरो,
मां अमड़ि डे छा मुजां,
अजु जिगर संदो जेरो,
भायल कंदुमि भेरो,
कहिड़ी वेल हितड़े ?"

विवाह के अवसर पर गाये जानेवाले गीतों में आनन्द का सागर लहराता हुआ मिलता है। इन गीतों से पता चलता है कि किस काल में क्या रीति-रिवाज थे। पहले जब एक गांव से दूसरे गांव तक कोई बरात जाती थी तो दूल्हे राजा घोड़ी पर और बराती गाड़ियों में होते थे। आजकल मोटरकारें और तांगे आ गए हैं। इसलिए गीत

गानेवालों ने गीतों में आवश्यक सुधार कर लिये हैं। समय के साथ लोक-गीतों का रूप भी बदलता है। देखिए—

हलंदा हलो मुंहिंजे अदल जा जाञी,
अदल जा जाञी, भायल जा जाञी,
भायल मोटर में जञ त बगियुनि में,
हलंदा हलो मुंहिंजे लाडल जा जाञी

—बहन गाती है (और विशेषकर ऐसे अवसरों पर बहनें मुखर हो उठती हैं) "मेरे भाई के विवाह के बरातियो! चलते चलो! मेरा भाई मोटर में है और बरात तांगों में। मेरे लाडले भाई के बरातियो! चलते चलो!"

एक लोक-गीत में मारूई (एक सिंधी लोक-कहानी की नायिका) बादल से प्रार्थना करती है कि वह उसके प्रियतम के प्रदेश में बरसे। इसी तरह की भावना हिमाचल प्रदेश के एक लोक-गीत में अभिव्यक्त हुई है।

सिंधी लोक-गीत इस प्रकार हैं :—

"वञी वेञो वेढ़ीचन जे वसिजांइ
पकी पोख पौंहारन जी पसिजांइ
डुख्यो हाल दुखायल जो डसिजांइ
जा मारुनि रीअ थी मुफ्तु मरे
कर खबर वसण जा वेस करे।"

—'मेघ! उनके निकट जाकर वर्षा करना। उनकी तैयार फसल देखना। उनको खबर करना कि मारुई तुम्हारे वियोग में मुफ्त मर रही है।'

इस लोक-गीत में मेघदूत की कल्पना है। इस तरह हम देखते हैं कि कई लोक-गीत हैं। मरुभूमि की शून्यता को भुला देनेवाले ऊंटवालों के गीत हैं। बैलों के संग गाये जानेवाले किसानों के गीत हैं। पहियों की ढचक-ढचक के साथ ध्वनि मिलाते हुए गाड़ीवालों के गीत हैं। तुलसी या पीपल की पूजा करते समय के गीत हैं। चक्की चलाती हुई और दही मथती हुई स्त्रियों के गीत हैं। विवाह के गीत हैं। चरखे के गीत हैं। अनगिनत गीत हैं। तात्पर्य यह कि समूचा जीवन—परिवार का या परिवार के बाहर का जीवन—इन गीतों की ध्वनियों से ध्वनित, मुखरित वा प्लावित हैं। ये गीत समाज की अमूल्य निधि हैं। तथाकथित सभ्यता व शिक्षा चोर की तरह इस सम्पत्ति के पीछे पड़ी है। प्रो० किटरिज ने एक स्थान पर ठीक कहा है:—"शिक्षा इस मौखिक साहित्य की शत्रु है। ज्योंही कोई जाति लिखना-पढ़ना सीख जाती है, त्योंही वह परम्परा से आई हुई कथाओं की अवहेलना करने लगती है, यहांतक कि उनसे लज्जा का अनुभव करती है।" लोक-साहित्य जैसी दौलत को हाथ से खोने न दिया जाय। रुपये-पैसे के मामले में अपरिग्रह होना चाहिए; लेकिन इस तरह की सम्पत्ति की दशा में संग्रह-वृत्ति आवश्यक है। सिंधी में श्री नारायण भारती व इन पंक्तियों के लेखक का सिंधी-लोक-साहित्य-संग्रह की ओर ध्यान गया है।

आखिर था तो मैं भी

एक बार जैसे ही मैं कानपुर स्टेशन पर उतरा, एक कुली सामान उठाने के लिए आ उपस्थित हुआ। सामान उसके सिर पर रखा कर मैं चल दिया। कुछ ही दूर आगे बढ़ा कि मैंने कुली से अनायास पूछा—

"भाई, दिन भर में कितना कमा लेते हो?"

"कुछ नहीं, कभी दो रुपये कभी ढाई रुपये।"

"इतने रुपये से गुजारा चल जाता है?"

"बाबू, दिन तो काटने ही पड़ते हैं।"

"अच्छा भाई, जब पैंट-कोट पहिने किसी सरकारी अफसर को देखते हो तो तुम्हारे मन में क्या उठता है?"

उसने कहा, "कुछ नहीं, केवल यही कि भगवान् कितना दयालु है कि मुझे अपढ़ तो रखा, किन्तु किसी का नौकर नहीं बनाया। ये बेचारे पढ़-लिखकर भी दूसरों के नौकर बने हुए हैं। मेरी इच्छा होती है, काम करता हूं, नहीं तो पड़ा रहता हूं। इन बेचारों को इच्छा-अनिच्छा से ड्यूटी बजानी पड़ती है।"

उत्तर सुनकर मैं शर्म से गड़ा जाता था। आखिर था तो सरकारी दफ्तर का कर्मचारी ही।

—रामनाथ

बीरनबाई

चन्द्रशेखर दुबे

सात भाई की एक बहन थी। उसका नाम था बीरनबाई।

गणपति को छोड़कर वह सब देवताओं की पूजा करती थी। जब कोई इसका कारण पूछता था तो वह कहती थी—दूंद दुंदालो, सूंड सुंडालो। नाना नाना हाथ पांव, डबर्‌यो पेट। ओकी पूजा कौन करे ?

बार-बार बीरनबाई के मुंह से यह बात सुनकर गणपति को गुस्सा आ गया। उन्होंने उसे छलने की ठानी।

वह भंवरे का रूप लेकर आधी रात को बीरनबाई के कमरे में घुसे। बीरनबाई के बिस्तर पर इत्र की शीशी रखकर वह चले गये। बीरनबाई गहरी नींद में सोई रही।

सवेरे बीरनबाई की एक भाभी रोज की तरह अपनी ननद का बिस्तर उठाने आई। उसे बिस्तर पर उस दिन इत्र की शीशी मिली। उसने उसी क्षण वह इत्र की शीशी ले जाकर अपने पति को बतलाई व उनकी सतवंती बहन के चरित्र के 'गुण' गाये।

दूसरे रोज फिर गणपति उसी तरह आधी रात को भौंरे का रूप लेकर आये व फिर कोई-न-कोई उसे बदनाम करनेवाली चीज—रुमाल, फूल, मर्दाना जूता वगैरा—रखकर चले गये। फिर भाइयों के पास बीरनबाई की शिकायत पहुँची। जब रोज-रोज ऐसी ही शिकायतें आने लगीं तो वे बड़े चकराये। बड़े भाई ने एक दिन फैसला किया कि अच्छा मैं आज रात को पहरा दूंगा। देखूंगा, बीरनबाई के पास कौन आता है ?

वह उस रात नंगी तलवार लेकर बीरनबाई के पलंग के पास बैठ गया। आधी रात को गणपति रोज की तरह भौंरे का रूप लेकर आये। बड़े भाई ने उनसे पूछा—तुम कौन हो ? यहां क्यों आते हो ?

गणपति ने अपना असली रूप प्रगट करते हुए कहा—मैं गणपति हूं। तेरी यह बीरनबाई मेरी पूजा नहीं करती है। इतना ही नहीं, यह लोगों के सामने मेरी बुराई करती फिरती है। इसीलिए मुझे यह दंड देना पड़ा।

बड़े भाई ने गणपति के पैरों पर पड़ते हुए क्षमा याचना की—महाराज इसे क्षमा करें। यह नादान है। भविष्य में यह ऐसी गलती नहीं करेगी।

गणपति यह आश्वासन पाकर वापस चले गये।

बड़े भाई ने सवेरे बीरनबाई को समझाया—तू आज से गणपति की पूजा भी किया कर। और देख उनकी हँसी न उड़ाया कर।

बीरनबाई मान गई। वह उस दिन से गणपति की पूजा करने लगी। उसकी निंदा करना भी उसने बंद कर दिया। गणपति ने उसे छलना भी बंद कर दिया। बीरनबाई की भौजाइयों को अब शिकायत का अवसर ही नहीं मिलने लगा।

कुछ दिनों बाद वहां के राजा ने एक मंदिर बनवाया। इस मंदिर पर जब कलश चढ़ाने लगे तो वह किसीसे चढ़ा नहीं। विद्वानों ने शास्त्र देखकर निर्णय किया—जो सतवंती नारी होगी, उसीके हाथ से यह कलश चढ़ेगा।

सारे राज में सतवंती की खोज होने लगी। डोंडी पिटी कि जिसे अपने सत पर विश्वास हो वह आकर मंदिर का कलश चढ़ाये। सारे राज्य में से कोई भी स्त्री कलश चढ़ाने नहीं आई। बीरनबाई की भौजाइयां भी नहीं गईं।

आखिर एक दिन बीरनबाई उस मंदिर में पहुंची। उसने कलश चढ़ाया, तो वह चढ़ तो गया मगर जरा-सा टेढ़ा रह गया। बीरनबाई ने यह देखकर कहा—"एक बार कपिला गाय के बछड़े (केड़े) ने पेशाब किया था तो उसके कुछ छींटे मुझपर पड़ गये थे। मेरे सतवंती होने में यदि यही कसर हो तो यह कलश सीधा हो जाय।

कलश उसी क्षण सीधा हो गया। लोगों ने बीरनबाई की जय-जयकार की।

●

साहित्य की अनन्त सीमाएं

बोरिस पोलिवोय

भौतिक शास्त्र से हमें पता चलता है कि प्रत्येक क्रिया प्रतिक्रिया को जन्म देती है। मेरी धारणा है कि भौतिक विश्व के अलावा यह बात विचारों की दुनियां पर भी लागू होती है। हमारे सैद्धान्तिक विरोधी सोवियत साहित्य का उसके जन्मकाल से ही अत्यन्त सक्रिय विरोध करते आये हैं और यह विरोध पूर्ववत दृढ़ बना हुआ है। और वे केवल समूचे रूप में साहित्य का ही विरोध नहीं करते हैं, उसके विकास से सम्बन्धित न्यूनाधिक महत्व की हर घटना को, जो हम सबको हर्ष-विभोर करती है, हमारा शत्रु-शिविर तुरन्त चुनौती देता है और उसकी भर्त्सना करता है।

अपने आज तक के जीवन में सोवियत साहित्य पर उसके प्रमुख शत्रुओं ने (यदि हमें इन शब्दों का इस्तेमाल करने की इजाजत दी जाय) तीन आधारों को लेकर आक्रमण किया है जो सबके सब वस्तुतः मन को उबा देने वाली नीरसता से परिपूर्ण हैं।

१. सोवियत लेखक विशेष सुविधाप्राप्त स्थिति में हैं। अतः वह जीवन से अनभिज्ञ हैं, वह उसे परिष्कृत रूप में प्रस्तुत करते हैं तथा यथार्थता के स्थान पर ख्याली पुलाव पेश करते हैं।

२. सोवियत साहित्य पार्टी तथा राज्य द्वारा नियंत्रित है, वह 'आदेश' पर तैयार होता है और कोई भी रचना तैयार करने से पूर्व लेखक को अपनी भावी कृति का विषय एक प्रकार की रहस्यमयी "उच्चाधिकारयुक्त एजेंसी" द्वारा स्वीकार करना पड़ता है। अतःसो वियत संघ में "सृजनात्मक कला को कोई स्वतन्त्रता नहीं है।"

३. चूंकि गोर्की ने स्टालिन के आदेश पर समाजवादी यथार्थवाद का आविष्कार किया, इसलिए यह शैली लेखकों के लिए प्रोक्रस्ट्रीन शैय्या[1] बन गई है। इस कारण यह बात बल देकर कही जाती है कि सोवियत साहित्य अत्यन्त नीरस बन गया है।

इन तीन उक्तियों पर, जिनकी मैंने चर्चा की है, साम्राज्यवाद की सेवा करनेवाले समाचारपत्रों तथा पत्रिकाओं के स्तम्भों के अन्दर एक बार फिर बहस छिड़ गई है। इस बार सामान्यीकरण करनेवाला तथा पूर्णतया निरुत्तर करनेवाला चौथा सूत्र इनमें और जोड़ दिया गया है और वह है—"वास्तविकता तो यह है कि सोवियत साहित्य नाम की कोई वस्तु है ही नहीं" जी हां! उन्होंने बिलकुल यही लिखा—"यह सच है कि वहां लेखक हैं। ऐसा लगता है कि वहां पुस्तकें भी हैं और कहा जाता है कि पत्रिकाएं भी प्रकाशित होती हैं। फिर भी वहां कोई साहित्य नहीं है।"

उदाहरणार्थ पश्चिमी जर्मनी के 'दाय वैल' नामक समाचार-पत्र के एक गुमनाम प्रेक्षक ने, जो अपने साथियों की तुलना में अधिक सरल चित्त का प्रतीत होता है, बिना किसी घुमाव-फिराव के सीधे शब्दों में यह लिखा :

"लोह आवरण के उस पार साहित्य अपना अस्तित्व खो बैठा है।"

२४ वर्षीय विद्याविद तथा ब्रिटिश बुद्धिवादियों के प्रतिगामी क्षेत्र के वर्तमान आराध्य देव कालिन विलसन ने यही नैराश्यपूर्ण तथा सनसनीखेज आविष्कार किया है। सोवियत साहित्य के अस्तित्व को मानने से इन्कार करते हुए वह यह कहकर, कि यदि रूस रोजानोव, मेरेजेकोव्स्की शैस्तोव या बर्देयेव प्रभृति और लोगों को प्रस्तुत कर सकने की क्षमता सिद्ध कर दे तो वह स्वेच्छया अपना मत बदल देंगे, हम सोवियत लेखकों के लिए अब भी आशा की किरण प्रदीप्त रख रहे हैं।

मैं ऐसे महानुभावों से, जो सोवियत साहित्य के विनाश के लिए अपने इन दयनीय तथा तुच्छ व्यापार को चला रहे हैं, शास्त्रार्थ नहीं करना चाहता परन्तु उनसे केवल यही करने की इच्छा होती है :

"महाशय! आप भूत-प्रेतों से 'गम्भीरतापूर्वक' लड़ने वाले मध्य युगीन उपन्यास के पात्र तो नहीं हैं। आप क्यों व्यर्थ में सोवियत साहित्य से, जिसके विषय में आपका कहना

---

१. यूनानी डाकू प्रोकास्ट्रिस अपने बन्दियों के शरीर को बिस्तर के अनुरूप बनाने के लिए आवश्यकतानुसार उनके पर काट डालता था।

है कि उसका अस्तित्व ही नहीं है, लड़ने के लिए इतनी शक्ति, स्याही तथा कागज का अपव्यय कर रहे हैं और गतवर्ष के दौरान सोवियत-साहित्य पर आपके आक्रमण विशेष रूप में क्यों प्रचण्ड बन गये ?

इन सबका उत्तर अत्यन्त सरल है, और यह उत्तर इस तथ्य में अन्तर्निहित है कि सोवियत साहित्य विद्यमान है और उसका सफलतापूर्वक विकास हो रहा है, इसका उत्तर इस तथ्य में भी विद्यमान है कि हमारे देश की सीमाओं के पार और उल्लेखनीय रूप में पूंजीवादी देशों में उसके पाठकों की संख्या में वृद्धि होती जा रही है। मैं कोरी बातें नहीं करता। सोवियत लेखकों की पूंजीवादी देशों में प्रकाशित कृतियों के विषय में कुछ तथ्य यह हैं जो किसी लेखक की दिमागी उपज नहीं है अपितु 'मेजदन-रोदनाया नीगा' जैसे गम्भीर एवं तथ्यमूलक पुस्तक वितरक संगठन की रिपोर्टों से संकलित किये गये हैं।

पूंजीवादी देशों में सन् १९५५ में सोवियत लेखकों की ६८० कृतियां प्रकाशित हुई थीं, उसके अगले वर्ष इनकी संख्या बढ़कर ८९० हो गई थी। इसी अवधि में इनकी बिक्री लगभग दुगुनी हो गई। वह २७,३१,००० से बढ़कर ५५,२८,००० हो गई।

जिस साहित्य का अस्तित्व ही नहीं है, उसके लिए यह वितरण संख्या जरा अधिक प्रतीत होती है। फ्रांस में केवल एक वर्ष के अन्दर इन पुस्तकों का वितरण २२०,००० से बढ़कर १३,१६,०००, ब्रिटेन में ३४,००० से बढ़कर १२३,००० और इटली में २५०,००० से बढ़कर ३००,००० हो गया। कुछ दिन पूर्व हमारे मित्र एल्सा त्रायोलत और लुई अरागों ने हमें बताया था कि फ्रांस में सोवियत पुस्तकों की मांग निरन्तर बढ़ती जा रही है।

हम अपने साहित्य तथा कृतियों के विषय में हर तरह की आलोचनाओं के साथ उस तरह का व्यवहार नहीं कर सकते जिस तरह का व्यवहार हम उपरोक्त वक्तव्यों के साथ, जिनका बेतुकापना सुस्पष्ट है, करते हैं। सोवियत संघ तथा पूरे समाजवादी जगत से बाहर सोवियत लेखकों के अत्यन्त प्रतिभाशाली साहित्यकार—कर्मियों समेत अनेक वास्तविक मित्र तथा मननशील पाठक हैं। विद्वत्तापूर्ण, सख्त तथा मित्रतापूर्ण आलोचना को, चाहे वह कितनी ही कठोर क्यों न हो, अंगीकार किया जाना चाहिए, वह आलोचनाएं हमारी साहित्यिक पत्रिकाओं एवं पुस्तकों में प्रकाशित होनी चाहिए। उन्हें ध्यानपूर्वक सुनना हमारा कर्त्तव्य है।

दृष्टान्त के रूप में महान फ्रांसीसी कवि तथा सोवियत साहित्य के घनिष्ठ मित्र लुई अरागों ने सोवियत पुस्तकों के विषय में अपने एक लेख में लिखा है :

"सोवियत लेखक तथा आलोचक कोरा खाका पेश करने की प्रवृत्ति के विरुद्ध अपने संघर्ष में पार्टी के अत्यन्त मूल्यवान निर्देशों द्वारा मार्ग-प्रदर्शित किये जाने पर आलोचना करत समय बार-बार प्रयुक्त जीर्ण सूत्रों का प्रयोग कर कभी-कभी कोरा खाका पेश करने की वही गलती कर बैठते हैं।"

क्या यह सत्य है या नहीं ? यह सत्य है। हमें अरागों की आलोचना को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करना चाहिए।

हाल में चैकोस्लोवाकिया लेखकों के 'लितरानी नोविनी" समाचारपत्र ने अपने सम्पादकीय लेख में लिखा कि हम और हमारे चैकोस्लोवाक मित्र एक दूसरे की पीठ थपथपाने तथा परस्पर प्रशंसा करने का काम बहुत कर चुके हैं; अब उत्सवों पर महिलाओं की भांति एक दूसरे को देखकर मुस्कराने की आदत का त्याग करने तथा सच्चे साहित्यिक मित्रों की परम्परा के अनुसार एक दूसरे की प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट आलोचना करते हुए हर साहित्यिक सफलता पर सच्चे मित्रों की भांति हर्षान्वित होने का समय आ गया है।

क्या यह सत्य है या नहीं ? मेरा विचार है कि यह सच है और मेरा खयाल है कि हमें अपने चैकोस्लोवाक मित्रों की इस रचनात्मक आलोचना को यथार्थ सूझबूझ के साथ ग्रहण कर लेना चाहिए।

संक्षेप में हम मैत्रीपूर्ण वाद-विवाद, रचनात्मक सृजन-शील तर्क-वितर्क तथा विद्वत्तापूर्ण सृजनात्मक आलोचना के पक्ष में हैं जो शुद्ध साहित्यिक सम्बन्धों का जीवन्त आधार हुआ करता है।

समाजवादी यथार्थता की 'प्रोक्रस्ट्रीयन शैय्या' पर १९३० के आरम्भ दशक में ही प्राण विसर्जित कर देने वाले और पार्टी की बेड़ियों में जकड़ी दशा से ऊबकर

प्राण गंवाने वाले 'अभागे' सोवियत साहित्य को दफनाने के कतिपय महानुभावों के मन्सूबों के बारे में हम केवल यही कह सकते हैं कि हम किसी-न किसी प्रकार जीवित रहेंगे क्योंकि इस विषय पर रोमां रोलां, लू शुन, हेनरी बैरबुसे, मार्टिन आन्द्रेसन नेक्सो, थियोदोर ड्रेजर तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर-जैसे हमारे सोवियत साहित्य के महान सच्चे मित्रों के दूसरे ही विचार थे।

विश्व जनवादी साहित्य के चंद जीवित नेताओं में से एक महान आयरलैण्डवासी सीन ओ' केसी हैं। कुछ समय पूर्व मुझे उनका एक पत्र मिला था। यह सर्वथा वैयक्तिक पत्र है और उसे प्रकाशित करने में मुझे संकोच हो रहा है किन्तु वह हमारे देश, हमारे जनगण एवं हमारे सोवियत साहित्य के प्रति गहरी श्रद्धा से ओतप्रोत है।

चीनी साहित्य के जीवित कालजयी लेखक तथा आज के महानतम साहित्यकारों में से माओ तुन का कहना है :

सोवियत साहित्य चीनी जनगण के सांस्कृतिक जीवन का अभिन्न अंग बन गया है। सोवियत साहित्य की महान उपलब्धियों पर हमें प्रसन्नता तथा गर्व है।

चैकोस्लोवाकिया के सर्वोत्तम लेखकों में से मेरी पुजमानोवा, जिनके उपन्यास हमारे यहां सुविदित तथा लोकप्रिय हैं, कहती हैं :

"सोवियत साहित्य से मुझे क्या उपलब्ध होता है ? उस नैतिक सौन्दर्य से, जो सोवियत साहित्य की चरित्रगत विशेषता है, मुझे सदैव बल प्राप्त होता है। यह उदात्त विचारधारा तथा निर्मल अन्तःकरण का साहित्य है। जब मैं इसका अध्ययन करती हूं तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानों मैं प्राणदायी वायु (ओजोन) में सांस ले रही हूं।

मैं इस प्रकार के और वक्तव्य प्रस्तुत कर सकता हूं क्योंकि ऐसे बहुत-से वक्तव्य मौजूद हैं। हमें ऐसे वक्तव्य निन्दात्मक शब्दों की तुलना में कहीं ज्यादा बार सुनाई देते हैं। परन्तु सोवियत लेखकों के लिए इससे भी अधिक महत्वपूर्ण तथा मूल्यवान तथ्य यह है कि हमारे देश की सीमा से बाहर सोवियत लेखकों की पुस्तकों को उत्तरोत्तर बड़े पैमाने पर पढ़ा जा रहा है, हमारी सर्वोत्तम पुस्तकों का समाजवादी देशों में 'जीवन की पाठ्य-पुस्तकें' माना जा रहा है, पूंजीवादी देशों के श्रमशील जनगण को मार्ग दिखाने के लिए 'आशा की मशाल' के रूप में प्रकाश प्रसारित कर रहे हैं और हमारी पुस्तकों के मुख्य पात्र—साधारण सोवियतश्रमजीवी जनगण—बिना वीसा के हमारे राज्य की सीमा पार कर, महासागरों एवं पर्वतों को लांघते हुए सम्पूर्ण विश्व में हमारे समाजवादी जीवन के महान तथा आनन्दमय सत्य को प्रसारित कर रहे हैं।

सम्पन्नता-विपन्नता

अपनी सम्पन्नता के नशे में मस्त मैंने खुमारी लेते हुए, विपन्नताग्रस्त को कुढ़ते-भुनते हुए देखकर, भर्त्सना की हँसी हँसते हुए, किन्तु स्वर में अतीव मिठास भरकर कहा —

"छिः ! इतना रोते क्यों हो ?"

मेरी बात सुन कुछ चौंक अपना रोना बन्द कर उसने पहले तो मुझे कटूर कटूर कर घूरा, और फिर मेरी ही हँसी को अपने शुष्क पड़े मुरझाये हुए अधरों पर उठक-बैठक कराते हुए किन्तु स्वर में एक विचित्र कड़वास भरकर उसने मुझे उत्तर दिया :—

"मेरे जैसे रोएं नहीं तो तुम्हारे जैसे हँसें कैसे—किसपर ?"

उत्तर सुनकर सिर से पैर तक मैं झन्ना गया। एक सन्नाटा-सा बीत गया अंग-प्रत्यंग में। मेरी बोलती बन्द हो गई और सम्पन्नता का नशा हिरन। सौ-सौ बोतलों का खुमार ऐसे उतर गया जैसे चढ़ा ही न था।

मेरी आंखें झुक गईं और पांव लड़खड़ा गये। मैं धरती में समाने को हो रहा था और धरती मेरे पैर तले से निकली जा रही थी।

क्यों न होता यह सब ?

आधी रात में ही प्रभात जो हो गया था मेरे लिए।

—हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'

आध्यात्मिक शक्ति की खोज

'सुशील'

आज के संसार में एक बड़ी विचित्र बात देखने में आती है। एक ओर मनुष्य विज्ञान की प्रगति के नाम पर विनाशकारी यंत्रों की खोज में पागल हो रहा है, दूसरी ओर वही मानव उनसे त्राण पाने के उपाय सोचने में व्यग्र है या कम-से-कम वह इनका उपयोग अपने कल्याण के लिए करना चाहता है, विनाश के लिए नहीं। एक साथ घृणा और सहयोग के मार्ग पर चलता हुआ मानव आज जैसे खो गया है। जैसे अनन्त शक्ति की खोज में वह अशांत होकर शांति की पुकार लगा रहा है। देवासुर-संग्राम में जो स्थिति तब हुई थी जब सागर से हलाहल का जन्म हुआ था वही स्थिति आज दिखाई देती है। अमृत की खोज में जैसे उसके हाथ में हलाहल ही आ गया है। इस हलाहल के अग्नि-दाह से चराचर त्रस्त हैं लेकिन शंकर का कहीं पता नहीं लग रहा। न जाने किस दिन उस नीलकंठ का उदय होगा और तभी यह त्रस्त मानवता त्राण पा सकेगी और तभी अमृत का उदय होगा, उससे पहले नहीं।

आज का मानव इस स्थिति को समझता न हो ऐसी बात नहीं, बल्कि ऐसा मालूम होता है कि आज का प्रत्येक प्राणी इस स्थिति को समझ रहा है और शंकर की खोज में पागल है। लेकिन युग युग म अन्तर होता है। देवासुर-संग्राम के समय एक शंकर प्राणी मात्र की रक्षा कर सकने में समर्थ हो सके थे लेकिन आज जो हलाहल है वह किसी एक शंकर के बस का नहीं है। उसके लिये तो शंकर की वह शक्ति जन-जन को अपने भीतर प्राप्त करनी होगी। बहुत-से मनीषी इस तथ्य को समझ रहे हैं और अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार प्रयत्न में भी लगे हैं।

आज इस शांति और अशांति के संघर्ष के नीचे एक और संघर्ष है। वह इससे अलग हो यह बात नहीं। बल्कि इसीका परिणाम है, वह है आचार का संघर्ष। हमें ऐसा लगता है कि आज का मानव आचार का मूल्य बिल्कुल गंवा बैठा है और वह यह भूल गया है कि वह समाज में रहता है, उसका मुख्य ध्येय अपनी सेवा करना नहीं है। बल्कि समाज की सेवा करना है। समाज की सेवा में ही उसकी अपनी सेवा है। नारायण ही तो नर अर्थात् मानव के अन्दर रहते हैं। उनकी सेवा करने के लिए मनुष्य की सेवा आवश्यक है। और मनुष्य की सेवा के लिए स्वार्थ का त्याग परम आवश्यक है। इस एक बात को समझ लेने पर दुराचार और भ्रष्टाचार का कहीं प्रश्न ही नहीं रहता। लेकिन यह बात जितनी सरलता से कह दी गई है क्या वास्तव में उतनी सरल है। विनोबा आज व्यक्तिगत मालकियत की भावना को समाप्त करने के लिए भूदान-आन्दोलन का संचालन कर रहे हैं। वह मानते हैं कि केवल भूमि की मालकियत मिटने से काम पूरा नहीं होता, कारखानों और मकानों की मालकियत भी समाप्त होनी चाहिए। हम तो यह कहेंगे कि **'मेरा है'** इस एक भावना की मालकियत ही समाप्त होनी चाहिए। समाज में यह परिवर्तन लाने के लिए कई मार्ग हैं। एक मार्ग विनोबा का है। "मैं परिवर्तन लाना चाहता हूं, प्रथम हृदय-परिवर्तन, फिर जीवन-परिवर्तन और बाद में समाज-रचना में परिवर्तन लाना चाहता हूं। इस तरह से त्रिविध परिवर्तन, तिहरा इन्कलाब मेरे मन में है।"

इसीसे मिलता-जुलता एक मार्ग आचार्य तुलसी का है। वह भी समाज में परिवर्तन लाना चाहते हैं अणु-व्रत के द्वारा। अणु-व्रत क्या ? परमाणु बम के और अब कृत्रिम चन्द्रमा के युग में उनका मूल्य क्या ? लेकिन उनका कहना है कि व्यक्ति यदि प्रतिज्ञा कर लेता है कि वह रिश्वत नहीं लेगा या दूसरे ऐसे काम नहीं करेगा जो समाज को हानि पहुंचानेवाले हैं तो निस्संदेह वह समाज को प्रगति के पथ पर आगे ले जायगा। हमारा विचार उनकी उपयोगिता और अनुपयोगिता पर विचार करना इतना नहीं है जितना इस बात को समझने का कि वास्तव में क्या यह काम इतना आसान है जितना हम समझते हैं। इसकी जड़ें क्या कहीं आसपास ही हैं। गहरी होकर समाज के अन्तसरूपी पाताल में तो नहीं उतर गईं।

लगता ऐसा है कि जड़ें कहीं और हैं। क्या आज मनुष्य दुराचारी हो गया है ? वह सुख चाहता है, सुविधा और सुरक्षा चाहता ह और उसीके प्रयत्न में वह दूसरों को दुख देता है और दूसरों पर आक्रमण करता है। सब ऐसा ही करते हैं और परिणाम यह होता है कि चारों ओर दुख और आक्रमण ही दिखाई देता है। शांति की पुकार केवल हवा में रह जाती है।

युद्ध के बाद या किसी भी संघर्ष के बाद मनुष्य आचरणहीन क्यों हो जाता है ? क्या कभी हमने सोचा कि यह सब इसलिए होता है कि उसका अपने में विश्वास नहीं रहता। अपने में विश्वास न होने का अर्थ है कि वह मानवता में विश्वास खो बैठता है। एक घटना मुझे याद आती है। युद्ध के बाद एक बहुत बड़े अधिकारी लन्दन गये थे। वह वहां हाईकमिश्नर के दफ्तर में उनसे मिलने पहुंचे। जैसा कि होता है उन्होंने अपना कोट और टोप उतार कर बाहर ही टांग दिया। उसी समय अन्दर से एक सज्जन आ रहे थे। वह अंग्रेज थे। उन्होंने उस भारतीय भाई से कहा कि अब इंग्लैंड में वह पहले जैसी स्थिति नहीं रह गई है। आप अपना कोट अपने साथ अन्दर ले जाइए। शायद कोई उठा कर ले जाय। यह उस लन्दन की बात है जहां की ईमानदारी कहावत बन कर गई रह है। लेकिन यह स्वाभाविक ही है। युद्ध की परिस्थिति ने मनुष्य को वह कुछ करने पर विवश कर दिया जो वह करना नहीं चाहता। हमारे देश में भी रिश्वत और भ्रष्टाचार का जो इतना जोर है वह क्या इसलिए है कि ऐसा करना मनुष्य का स्वभाव है। क्या वह इसलिए नहीं है कि मनुष्य ऐसा करने के लिए परिस्थिति द्वारा मजबूर कर दिया गया है। हमारा विश्वास है कि मनुष्य ऐसा नहीं चाहता। हमारा देश अविकसित देश है, उसकी आर्थिक स्थिति डांवाडोल है। एक लम्बे संघर्ष के बाद उसने स्वतन्त्रता पाई है और अपेक्षाकृत शांत—अर्थात् रक्तहीन क्रांति होने पर भी उसे काफी भयंकर दृश्य देखने पड़े हैं। इन सब कारणों से वह जीवन की राह भूल बैठा है। वह अपने को ही भूल बैठा है। यदि हम उसे फिर से अपने आपको पा लेने में मदद करना चाहते हैं तो हमें जड़ पर चोट करनी होगी। हमें एक ओर तो उसकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन उपलब्ध कराने होंगे, दूसरी ओर उसे अपनी आध्यात्मिक शक्ति की याद भी दिलानी होगी।

यह शुभ लक्षण है कि हमारे देश में दोनों ओर से प्रयत्न हो रहा है। भारत सरकार अनेक उद्योगों से भारत की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने का प्रयत्न कर रही है। भले ही वे प्रयत्न अभी छोटे लगते हों लेकिन उनका परिणाम बहुत बड़ा होनेवाला है। उसीके साथ एक दूसरा प्रयत्न भी हमारे देश में हो रहा है वह है हमारे सन्तों द्वारा। विनोबा उनमें एक हैं, आचार्य तुलसी उनमें दूसरे हैं। आचार्य तुलसी मनुष्य को याद दिलाने में प्रयत्नशील हैं कि उसकी आध्यात्मिक परंपरा क्या है और उसके पास कितनी शक्ति है। उसे उस शक्ति को भूलना नहीं है। वह प्रलोभनों से बचने के लिए प्रतिज्ञा करवाते हैं और इन प्रतिज्ञाओं का नाम है अणु-व्रत। बहुत-से लोगों का मतभेद हो सकता है लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि अणु-व्रत-आन्दोलन एक ऐसा आन्दोलन है जिसमें असीम शक्ति भरी हुई है और देश की औद्योगिक और वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ उसका होना आवश्यक है। ऐसे आन्दोलनों के अभाव में विज्ञान विश्व को नष्ट कर देगा। विज्ञान में गति है दिशा नहीं। दिशा के लिए आत्म-ज्ञान आवश्यक है।

लेकिन कभी-कभी मन में एक सन्देह उत्पन्न होता है कि क्या आज के समाज में उन व्यक्तियों को, जो भविष्य में भष्टाचार से बचने की प्रतिज्ञा लेते हैं, भ्रष्टाचारी न मान लिया जायगा। हमारे सामने एक उदाहरण है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के ठीक बाद एक व्यक्ति के मन में यह भावना उत्पन्न हुई कि अब उसका देश स्वतंत्र हो गया है। उसे रिश्वत नहीं लेनी चाहिए। उसने अपनी इस प्रतिज्ञा की सूचना अपने अफसरों को भी दे दी। यही नहीं उसने यह भी बताया कि किस तरह से सरकार का रुपया व्यर्थ जाता रहा है और किस तरह से उसके विभाग के अधिकारी रिश्वत लेते हैं और उसने भी विवश होकर एक बार रिश्वत ली थी। अधिकारियों ने उसकी किसी भी बात की ओर ध्यान नहीं दिया, बस एक बात पकड़ी कि भले ही एक बार सही उसने रिश्वत ली और इसी बात पर

उसको बर्खास्त कर दिया गया। कानूनी दृष्टि से यह सब ठीक ही हुआ हो लेकिन इस संसार में क्या इसी दृष्टि के सहारे चला जा सकेगा। क्या पश्चात्ताप का दंड इसी तरह से भुगतना होगा। मुझे प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार दास्तोवस्की के एक पात्र का वाक्य याद आता है : "मैंने अपने जीवन में एक ही पाप किया है कि मैंने अपने पाप स्वीकार कर लिये हैं।" क्या भारत में इसी तरह के व्यक्तियों की गिनती बढ़ानी होगी। अभी पिछले दिनों 'फमिली आफ मैन' नामक एक फोटो-प्रदर्शनी अमरीका की ओर से हुई थी। उसमें बहुत से सुन्दर वाक्य थे। जज के लिए किसीने बहुत ही सुन्दर लिखा था। उसका अर्थ था कि हमें ऐसे न्यायाधीशों की जरूरत है जो न्याय करनेवाले हों लेकिन इतने न्यायी न हों कि मनुष्य की कमजोरियों को ही भूल जायं। आज के शासन को इस बात को समझ लेना है कि न्याय अंधा नहीं होता। उसका उद्देश्य मनुष्य को सुधारना है।

अभी हम प्रयोग की अवस्था में हैं। इसलिए निश्चय से तो कुछ नहीं कहा जा सकता; लेकिन यदि यह आन्दोलन मनुष्य के खोए हुए आत्म-विश्वास को जगा सके तो निस्संदेह बहुत शीघ्र ही जब हमारा देश आर्थिक दृष्टि से भी विकसित हो जायगा, तब हम एक सुदृढ़ राष्ट्र के रूप में विश्व-परिवार में अपना स्थान ग्रहण कर सकेंगे। यह हम जान-बूझकर कहते हैं और इसलिए कहते हैं कि विश्व के अधिकांश देशों में एक भौतिक शक्ति ही मनुष्य को उन्नत करने का प्रबल प्रयत्न कर रही है लेकिन यह शक्ति अधूरी है। इसको पूर्ण करने वाली शक्ति आध्यात्मिक है और यह सौभाग्य भारत को ही प्राप्त है कि इस शक्ति को खोज निकालने के लिए आचार्य विनोबा और आचार्य तुलसी हमारे बीच काम कर हैं।

अणुव्रत-आन्दोलन का एक और लाभ है और वह लाभ भी कम सुन्दर नहीं है। आचार्य तुलसी जैनधर्म में ही एक उपशाखा के आचार्य हैं। लेकिन इन आन्दोलन के द्वारा वे उपशाखा और शाखाओं की तो क्या मूल धर्म की सीमाओं को लांघकर भारत के दूसरे धर्मों हिन्दू, सिक्ख, मुसलमान, ईसाई आदि के बहुत पास आ गए हैं। प्रत्येक क्षेत्र में उनके अनुयायी हैं। यह बहुत शुभ लक्षण है और भारत की परम्परा 'वसुधैव कुटुम्बकम' का ज्वलन्त उदाहरण है। भले ही इन सब बातों का तुरन्त परिणाम न निकले लेकिन यह हमारी परम्परा को जीवित रखनेवाली हैं और इसीलिए हमें जीवित रखनेवाली है।

●

फिर आने की जरूरत नहीं

एक बार राजा मिलिन्द ने नागसेन से पूछा—"संसार में क्या ऐसे भी आदमी हैं जो मरने के बाद जन्म नहीं लेते।"

"हां महाराज, जो अपना कर्म इसी संसार में पूरा कर लेते हैं, वे दुबारा जन्म नहीं लेते।" नागसेन ने उत्तर दिया।

"कोई उदाहरण दीजिए।" राजा ने कहा।

"जैसे भुना हुआ बीज खेत में नहीं उगता, उसी तरह ज्ञान की आंच में तपा कर्म भी अच्छी तरह भुन जाता है। जो व्यक्ति ज्ञान की आग में मोह को जलाकर अपना कर्म पूरा कर लेते हैं उन्हें इस दुनिया में फिर आने की ज़रूरत नहीं रहती।"

●

कसौटी पर

१. भूमि-कन्या सीता
२. कला के लिए

लेखक--बी० बी० वरेरकर (मामा वरेरकर) अनुवादक--रा० शा० केलकर, प्रकाशक--आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली। पृष्ठ संख्या--क्रमशः ११०, ८४: मूल्य १।) प्रति।

मामासाहब मराठी के सुप्रसिद्ध लोकप्रिय नाटककार हैं। वे इस कला के बारे में अब अधिकार से बोलने के अधिकारी हैं। उन्होंने अनेक विषयों पर नाटक लिखे हैं, पौराणिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आदि आदि। उनकी कला मंजी हुई और रंगमंच के उपयुक्त है और इस कला के अनुरूप ही है। उनकी शैली ओजमय, वार्तालाप चुटकीले, भाषा टकसाली।

'भूमि-कन्या सीता' की कहानी जगतप्रसिद्ध है। और लेखक ने वाल्मीकीय रामायण तथा रघुवंश की कथाओं के आधार पर उसका चित्रण किया है। इस नाटक का नायक बेशक राम हो सकता है लेकिन इस कथा की केन्द्र-बिन्दु उर्मिला है और इसको गति देता है शूद्र-मुनि शम्बूक। नाटककार ने अयोध्या वापस लौटने के बाद से लेकर सीता-वनवास और उनके अवसान तक की कथा ली है और उन्होंने उर्मिला को उपेक्षित और पीड़ित नारी जाति का प्रतिनिधि मानकर उसको पुरुष के अन्याय के प्रति विद्रोह करते दिखाया है। राम को लोक-आराधना के लिए कठोर बनना पड़ा और उस कठोरता का भार वहन किया सीता ने। उर्मिला तो सीता से भी अधिक दुखी थी। सीता राम के साथ वन में रही; लेकिन उर्मिला तो तब पति के वियोग में तड़पती रही, क्योंकि लक्ष्मण छाया की तरह राम के साथ रहते थे।

अयोध्या लौट आने पर भी लक्ष्मण उससे न बोले। इसी कारण उसके हृदय में जलती हुई अग्नि ने पुरुष के प्रति भयंकर विद्रोह का रूप ले लिया। नाटक को पढ़ते समय ऐसा लगता है जैसे हम रामायण-काल में न होकर आज के युग में किसी नारी का विद्रोही स्वर सुन रहे हैं। उर्मिला यहां तक कह उठती है:

"क्यों हो रही है यह स्त्री जाति की विडम्बना। सन्देह, सन्देह केवल स्त्री जाति पर ही क्यों सन्देह किया जाता है। क्या पुरुष सर्वदा निर्दोष होता है? शूर्पणखा अत्यन्त सुन्दर रूप धारण करके राम के गले पड़ने आई थी। वह चाहती थी कि सीता को छोड़ कर राम उसको अंगीकार करे। उस समय वहां सीता उपस्थित नहीं थी। क्यों ठीक है न! पर उस समय सीता ने ही कहां आप पर सन्देह किया। कहीं उल्लेख भी किया उस घटना का। कितनी निर्मल होती है स्त्री जाति की मनोवृत्ति और आप पुरुष शंका, शंका, शंका। हमेशा शंकाएं, हमेशा संदेह। आप पुरुषों को स्वयं अपने पर भी विश्वास नहीं।"

इसी तरह अन्त में सीता भी विद्रोहिणी बन जाती है। वह शम्बूक का पक्ष तो लेती ही है लेकिन दुबारा अग्नि-परीक्षा के लिए कहे जाने पर पहले तो वह मना करती है। कहती है, "एक बार दिव्य करके भी मैं यदि बार-बार दिव्य करने लगूं तो क्या मेरा अपने ऊपर से विश्वास नहीं उठ जायगा?" लेकिन अन्त में वह दिव्य करने के लिए तैयार हो जाती है। कहती है: "स्त्री जाति का यह अपमान यह भूमि-कन्या कदापि सहन नहीं करेगी। राजा रामचन्द्र, मैं दिव्य कर रही हूं पर अपनी पवित्रता की प्रतिस्थापना के लिये नहीं। दिव्य कर रही हूं स्त्री जाति के अपमान को मिटा डालने के लिए।"

इस प्रकार ये विद्रोहिणी बहनें इस नाटक में नारी जाति का पक्ष लेकर चिरकाल के लिए अमर हो गई हैं। मामासाहब ने कथा को आज की दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है। इसीलिए शम्बूक की कहानी को उन्होंने तमाम शूद्र जाति के ऊपर आर्यों के अत्याचार का प्रतीक माना है। इसके लिए उन्हें कुलगुरु वशिष्ठ का चित्रण भी एक नृशंस ब्राह्मण के रूप में करना पड़ा है। उन्होंने शम्बूक

और सीता को इसलिए भाई-बहन के रूप में लिया हैं क्योंकि वे दोनों भूमि की सन्तान हैं। इन सब बातों ने नाटक में जान डाल दी है और नाटक बहुत सुन्दर बन पड़ा है। यह बात दूसरी है कि कहीं-कहीं वार्तालाप बहुत लम्बे हैं जिन्हें अभिनय के समय बड़ी आसानी से सरल किया जा सकता है। रंगमंच या ध्वनि-मंच की दृष्टि से उसमें कुछ परिवर्तन हो सकते हैं। लेकिन वैसे नाटक बहुत प्राणवान् है।

लेकिन हमारे मन में एक प्रश्न उठता है। जब नाटककार ने शम्बूक, उर्मिला और सीता को अपनी-अपनी जातियों का प्रतिनिधि स्वीकार करके तत्कालीन अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करते दिखाया है तो उन्होंने राम-कथा की अलौकिकता को क्यों स्वीकार किया है। सीता को अयोनिसम्भवा क्यों माना है। और शम्बूक के तप करने पर ब्राह्मण का पुत्र क्यों मर जाता है और जब राम उस को शिरच्छेद का दण्ड देते हैं तो वह पुत्र क्यों जीवित हो जाता है। राम शम्बूक को मोक्ष क्यों देता है। ये सब बातें इस विद्रोह के साथ मेल नहीं खातीं, क्योंकि एक बार अलौकिकता को मान लेने पर फिर तो सब कुछ अलौकिक भाग्याधीन है उसमें विद्रोह की गुंजाइश ही नहीं है। मामा ने ब्राह्मण जाति को वशिष्ठ के रूप में नृशंस और पुरुष जाति को विजय के रूप म, स्वयं तो किसी भी स्त्री के साथ रहते हुए लेकिन अपनी स्त्री को व्यर्थ के सन्देह के कारण घर से निकालते हुए दिखाया है। इन सब बातों के रहते पौराणिक अलौकिकता अनुचित दिखाई देती है।

अनुवाद काफी अच्छा हुआ है। यद्यपि उसमें कहीं-कहीं अटपटापन आ गया है। प्रूफ की अशुद्धियां तो बेहद हैं। हमें विश्वास है कि सैद्धान्तिक मतभेद के बावजूद यह नाटक रंगमंच पर बहुत सफल होनेवाला है।

इसके विपरीत हमें डर है कि **'कला के लिए'** नाटक इसी रूप में शायद रंगमंच पर उतना सफल न हो सके। यद्यपि उसमें वार्तालाप इतने लम्बे नहीं हैं लेकिन उसमें ऐसा लगता है फैलाव अधिक है और वह एक बड़े नाटक से अधिक एक एकांकी के रूप में अधिक सफल हो सकता है। उसकी कथा आधुनिक कलाकार के विद्रोह की कथा है। कलाकार पुराने मूल्यों के प्रति विद्रोह करता है। कला का नया रूप देता है, लेकिन परम्परा के प्रेमी उसका अपमान करते हैं। उसके चित्रों को प्रदर्शनी से बाहर फेंक देते हैं। लेकिन वे ही तिरस्कृत चित्र जब पेरिस भेजे जाते हैं तो उनका अपूर्व सम्मान होता है। उस समय वे ही लोग जिन्होंने कलाकार का अपमान किया था, मालाएं लेकर उसका सम्मान करने आते हैं। तब कलाकार चिल्ला उठता है: दूसरों की बुद्धि से जीने वाले निर्बुद्धों के पुतलो! तुम्हारा यह सम्मान ही मेरा अपमान है। निकल जाओ यहां से सबके सब। उस समय के तुम्हारे वह जूते और अब के ये हार मेरे लिए दोनों बराबर हैं। मुझे तुम्हारी यह स्तुति भी नहीं चाहिए और निन्दा भी नहीं। जाओ। समझे। चले जाओ यहां से। चले जाओ।"

और वह उन सबको धक्का देकर बाहर निकाल देता है। कला की उपासना के लिए वह गृहस्थी का बोझ उठाने से भी इन्कार कर देता है। वह मानता है कि उपासना में व्यभिचार के लिए स्थान नहीं है। एक कला या पूरी गृहस्थी। एक साथ दोनों की उपासना शक्य नहीं है।

नाटक का यही सन्देह है। भले ही किसी को इस प्रस्थापना से मतभेद हो। लेकिन इस नाटक में उसका पूरी तरह से निर्वाह हुआ है और यह बात भी नहीं कि नाटक भाषणों से भरा हुआ हो। सफल कलाकार ने कथा के प्रवाह का इस तरह से मार्ग-निर्देशन किया है कि ये सब बातें आपसे आप उभरती चली जाती हैं।

लेकिन जैसे कि हम अभी कह आये हैं नाटक में गठन कम है फलाव अधिक। नाटक के अन्त का बहुत पहले ही पता चल जाता है। महान् नाटककार के प्रति अपना आदर प्रकट करते हुए हम यह निवेदन करना चाहेंगे कि मंच पर तात्विक बहस रस खो देती है। कुछ लोगों को शायद एक बात और अखरे कि इसके वार्तालाप स्त्री-पुरुषों के संबंधों को लेकर काफी स्पष्ट हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी रंगमंच पर इन दोनों नाटकों का बहुत सुन्दर स्वागत होगा और हिन्दी नाटककारों के लिए वे प्रेरणा स्तम्भ भी बनेंगे। हम इन दोनों नाटकों का अभिनन्दन करते हैं।

●

क्या व कैसे ?

हमारी राय

हिंदी का प्रश्न

श्री राजगोपालाचार्य तथा मद्रास के ३४ अन्य नेताओं ने नेहरूजी से अनुरोध किया है कि राज-भाषा के रूप में हिंदी के प्रश्न पर वह पुनर्विचार कराने का प्रयत्न करें, जिससे "वास्तविक स्वाधीनता की भावना की रक्षा हो और अपनी भाषा के लिए अति उत्साही लोगों की वेदी पर उसका बलिदान न हो।" इसी अपील में आगे चलकर कहा गया है कि "अंग्रेजी अंतर्राष्ट्रीय उपयोग की भाषा है और वाणिज्य की दृष्टि से विश्व की भाषाओं में उसका प्रमुख स्थान है। वर्त्तमान समय में भारत के प्रत्येक क्षेत्र में उसका उपयोग हो रहा है। अंग्रेजी को हटा देने का मतलब होगा हमें मिलनेवाले लाभ को फेंक देना।"

राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति के नागपुर-केंद्र के अपने दीक्षांत-भाषण में श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख ने इच्छा प्रकट की है कि १९७० से पूर्व अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी को नहीं बैठाना चाहिए।

इस प्रकार जहां देश में करोड़ों व्यक्ति लालायित हैं कि अंग्रेजी से जल्दी-से-जल्दी पीछा छूटे, वहां कुछ ऐसे भी स्वर सुनाई दे रहे हैं कि अंग्रेजी को कभी भी पदच्युत न किया जाय, अथवा कि हिंदी को उसकी जगह पर प्रतिष्ठित करने की अवधि इतने वर्ष और बढ़ा दी जाय।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रश्न पर तटस्थ दृष्टि से विचार नहीं किया जा रहा है। जो लोग विरोध करते हैं, उन्हें भय है कि 'हिंदी का साम्राज्य' अन्य भारतीय भाषाओं पर लादा जा रहा है। हमारी समझ में नहीं आता कि जबकि हमारा संविधान हिंदी को राज-भाषा के रूप में स्वीकार कर चुका है, तब उसे किसीपर लादने का प्रश्न ही कहां उठता है। अब वह सबकी भाषा है और दक्षिण या अन्य किसी प्रदेश का उसपर उतना ही अधिकार है, जितना उत्तर भारत के लोगों का।

दूसरे, यह निश्चित है कि अंग्रेजी से हमारा काम कुछ समय तक कदाचित भले ही चल जाय, हमेशा नहीं चलने का। हमें एक-न-एक दिन अपनी भाषा में ही राज-काज चलाना होगा। आज अंग्रेजी को जो असामान्य महत्व दिया जा रहा है, उसके पीछे बड़ी भ्रांति है। हमने हाल ही में रूस, चेकोस्लोवाकिया, इटली, फ्रांस, इंग्लैंड, जर्मनी, डेनमार्क तथा फिनलैंड की यात्रा की। इंग्लैंड को छोड़कर अन्य कोई भी देश हमें ऐसा नहीं मिला, जहां अंग्रेजी से काम चल सके। इसमें कोई शक नहीं कि अंग्रेजी बड़ी शक्तिशाली भाषा है और उसका साहित्य अत्यंत समृद्ध है; लेकिन यह मानना नितांत भ्रांतिपूर्ण है कि यूरोप के सारे देशों का काम उसके माध्यम से चल जाता है।

सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि भारत के ८५ प्रतिशत अशिक्षित लोगों को शिक्षित करना है। उनकी खातिर हमें अपनी ही भाषा पर जोर देना होगा और उसकी पढ़ाई के लिए अनुकूल वायुमंडल उत्पन्न करना होगा।

हमारी निश्चित राय है कि अंग्रेजी का प्रभुत्व अब अधिक समय तक नहीं चलने का। देश की चेतना अब इतनी प्रबल हो उठी है कि आज नहीं तो कल उसे अपना स्थान खाली करना ही होगा।

मुख्य प्रश्न अब इतना ही है कि व्यावहारिक कठिनाइयों को ध्यान में रखकर हिंदी को हम अंग्रेजी के स्थान पर इस प्रकार कैसे आसीन करें कि किसीको भी यह आशंका न रहे कि उसकी अपनी भाषा का अहित हो रहा है, अथवा कि काम में अकुशलता दिखाई दे रही है।

कहा जाता है कि हिंदी में काम करने में सबसे अधिक कठिनाई दक्षिणवालों को होगी। पर हमारा अनुभव यह है कि सबसे अधिक लगन, उत्साह एवं आत्मीयता से दक्षिण के ही भाई-बहन हिंदी का अभ्यास कर रहे हैं।

हमें लगता है कि हिंदी के प्रचार का ढंग अब बदल जाना चाहिए। हिंदी के प्रेमियों तथा विद्वानों को हिंदी-प्रचार के जिम्मेदारीभरे काम को उन व्यक्तियों पर छोड़कर स्वयं हिंदी के साहित्य को समृद्ध करने में लग जाना

चाहिए, जिनकी मातृभाषा हिंदी नहीं है। नारे लगाने का समय चला गया। अब तो यह देखना आवश्यक है कि हिंदी-साहित्य के कौन से अंग अशक्त हैं और उन्हें पूर्ण करने से ही हिंदी का पक्ष प्रबल होगा।

हमें यह देखकर बड़ी वेदना होती है कि इस सीधे-सादे प्रश्न को अकारण जटिल बनाया जा रहा है। महत्व का प्रश्न तो अंग्रेजी से मोर्चा लेने का है और उस संबंध में काकासाहब कालेलकर के शब्दों में 'हिंदीवाले' बड़े ही 'निर्वीर्य' सिद्ध हो रहे हैं।

समय आ गया है कि हम इस प्रश्न पर विना किसी आवेश अथवा मताग्रह के गंभीरतापूर्वक विचार करें और ऐसा मार्ग निकालें, जिससे हिंदी का भंडार सम्पन्न हो और अन्य भाषाओं को भी फलने-फूलने का अवसर रहे। हिंदी सम्पन्न होगी तो अन्य भाषाओं की भी शोभा बढ़ेगी। अन्य भाषाएं प्रगति करेंगी तो भारतीय साहित्य का भंडार स्वतः ही विकसित होगा।

विश्व-धर्म-सम्मेलन

नवम्बर मास की १७-१८ तारीखों में दिल्ली में 'विश्वधर्म सम्मेलन' होने जा रहा है, जिसमें भारत के ही नहीं, संसार के अन्य देशों के भी अनेक प्रतिनिधि भाग लेने आ रहे हैं। डा. राजेन्द्रप्रसाद सम्मेलन का उद्घाटन करेंगे। नेहरूजी ने भी उसमें बोलने की अनुमति प्रदान की है। सम्मेलन के प्रेरक जन मुनि श्री सुशीलकुमारजी हैं, जो इससे पूर्व तीन धर्म-सम्मेलन कर चुके हैं। उनका क्षेत्र सीमित था। इसका व्यापक है। सम्मेलन के मूल उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा है, "सम्मेलन का उद्देश्य किसी पंथ या समुदाय का महत्व बढ़ाना नहीं है, अपितु जगत् के समस्त साम्प्रदायिक आवरणों के ऊपर धर्मभाव की प्रतिष्ठा करना है। आज की परिस्थिति में उभयमुखी यद्ध हमें करना पड़ रहा है। अतीत का अज्ञान और संकीर्ण परंपराएं मनावता के विकास में चट्टान की तरह आड़े खड़ी हैं। और दूसरी तरफ आधुनिक शिक्षा तथा सभ्यता अनेक प्रकार के रोगों को जन्म दे रही है। मतांधता पर खड़ी हुई सम्प्रदाएं और भौतिक विज्ञान के बल पर खड़ी हुई जीवन के पुनर्निर्माण की आधारशिलाएं दोनों हमारे लिए बाधक हैं। हम दोनों पर अहिंसा की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक पुनर्निर्माण के लिए सामाजिक कुरीतियों का और आधुनिक एषणाओं का नियमन करना पड़ेगा। मानवजाति के भविष्य का उजलापन अहिंसात्मक जनतंत्रवाद की प्रतिष्ठा किये बिना कभी निखर नहीं सकता। विश्व-धर्म-सम्मेलन दिवाली के दीपकों की लौ नहीं है, जो आज जागेगी और कल बुझ जायगी। यह समाज के उत्थान का शाश्वत उपक्रम है। हिंसात्मक शक्तियों के विरुद्ध अहिंसक साधनों के विश्वास की ओर हमने अपना पूरा ध्यान केंद्रित किया है। शिक्षा और आरोग्य में अहिंसा का प्रवेश ही हमारे सबसे पहले विषय हैं।"

सम्मेलन के साथ वैसे अनेक सम्माननीय व्यक्तियों के नाम जुड़े हुए हैं, लेकिन तीन नाम विशेष रूप से उल्लेख-योग्य हैं—सर्वश्री काकासाहब कालेलकर, हरिभाऊ उपाध्याय तथा जैनेन्द्रकुमार। काका सा. प्रमुख परामर्श-दाता हैं, श्री हरिभाऊजी सम्मेलन के सभापति हैं तथा श्री जैनेंद्रकुमार विषय-निर्धारण-समिति के अध्यक्ष। ये तीनों ही व्यक्ति प्रयत्नशील हैं कि यह सम्मेलन सफल हो और इसका कुछ स्थायी परिणाम निकले। काकासाहब तथा श्री जैनेंद्रकुमार की अभिलाषा है कि यह सम्मेलन एक 'अहिंसा शोध-पीठ' को जन्म दे, जो आगे भी बराबर काम करती रहे।

हम इस सम्मेलन का हृदय से स्वागत और अभिनंदन करते हैं। आज जबकि भौतिक शक्तियां अत्यंत प्रबल हो रही हैं और लोग भौतिकता के पीछे तेजी से दौड़ रहे हैं, इस प्रकार के सम्मेलन बड़े ही आवश्यक तथा सामयिक हैं। लेकिन मुख्य बात यह है कि इन सम्मेलनों की आयोजना किस प्रकार की जाय कि उनका इष्टकारी परिणाम निकले और वे वास्तव में लोककल्याणकारी सिद्ध हों।

आज के जमाने में धर्म का और धर्म-स्थानों का रूप जितना विकृत कर दिया गया है, उतना शायद ही किसीका किया गया हो। आज आएदिन अपने-अपने धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए सिर फूटते हैं और विग्रह को बढ़ावा दिया जाता है। धर्म-धर्म के बीच आज चौड़ी खाई दिखाई देती है और वह कम होने के बजाय बढ़ती ही जा रही है। यही कारण है कि धर्म की ओर से लोगों की रुचि हट रही ह।

भारत प्राचीन काल से धर्म-परायण देश रहा है। उसके लिए यह स्थिति बड़ी ही अशुभ एवं लज्जाजनक है।

हमारी राय में धर्मों का उत्कृष्ट रूप तभी उभरेगा जबकि धर्मों के चारों ओर खड़ी दीवारें ढहा दी जायंगी और धर्मों को खुले वायुमण्डल में सांस लेने का अवसर दिया जायगा। इसके लिए धर्माचार्यों को उन सीमाओं को तोड़ना होगा, जो उनकी दृष्टि को सीमित करती हैं और दूसरों से समत्व स्थापित करने में बाधक होती हैं। सारे धर्मों के मूल तत्व एक हैं। लेकिन आज सार को छोड़कर लोगों ने असार को पकड़ रखा है और वही लड़ाई की जड़ है।

सम्मेलन में बहुत-से लोग इकट्ठ हो जायंगे, यह ठीक है; लेकिन उसका प्रयोजन तभी सिद्ध होगा, जबकि कुछ प्रतिनिधि आगे आवें और 'मानव-धर्म' के लिए अपना जीवन समर्पित करें। सबसे उत्कृष्ट धर्म वही है, जो मानव-जाति को लक्ष्य में रखता है। उसी पर आज जोर देने और उसीके लिए निष्ठापूर्वक कार्य करने की आवश्यकता है।

सम्मेलन इसमें कृतकार्य हो, ऐसी हमारी कामना है।

अभिनंदनीय कदम

गांधी-स्मारक-निधि की बहुत पहले एक योजना 'गांधी-घर' स्थापित करने की बनी थी। गांधी-घर का उद्देश्य गांधीजी के नाम पर कोई इमारत बना देने का नहीं था, बल्कि वहां उन विधायक प्रवृत्तियों को संचालित करने का था, जिनके द्वारा गांधीजी भारत में 'राम-राज्य' स्थापित करने के अभिलाषी थे। हमें हर्ष है कि हाल ही में पंजाब के असावटी स्थान पर दिल्ली से लगभग ३० मील की दूरी पर एक गांधी-घर की स्थापना की गई है। राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद ने उसका उद्घाटन करते हुए कहा, "गांधीजी कोरे सिद्धांतवादी नहीं थे। दक्षिण अफ्रीका से लौटकर, ४० वर्ष पहले, उन्होंने बिहार में भारतीय किसानों की दुर्दशा देखी थी और तभी उन्होंने कहा था कि जबतक ग्रामवासियों की स्थिति नहीं सुधरेगी तबतक भारत का कल्याण नहीं हो सकता। आज भी हम ईमानदारी के साथ यह नहीं कह सकते कि ग्रामीणों की स्थिति में कोई विशेष अंतर पड़ा है।"

आगे चलकर उन्होंने कहा, "गांधी-घरों के संगठन द्वारा ग्रामोद्योग के महान आदर्श को कार्यान्वित किया जा रहा है। लेकिन अंततोगत्वा यह ग्रामवासियों पर ही निर्भर करेगा कि वे बिना बाहरी सहायता के स्वावलंबन के आदर्श को प्राप्त करें। यह तभी संभव हो सकता है जबकि गांव के लोग पारस्परिक सहयोग की भावना से काम करें और अस्थायी संघर्षों से अपने काम में रुकावट न आने दें।"

ग्रामोद्योगों के विषय में अपनी निष्ठा व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा, "मेरा विश्वास है कि गरीबी तथा पिछड़ापन तबतक गांवों से दूर नहीं हो सकता जबतक कि छोटे-छोटे उद्योगों तथा दस्तकारियों को पूरा प्रोत्साहन न मिले और किसानों को उत्पादन तथा दस्तकारियों की वे विकसित पद्धतियां न सिखाई जायं, जो खाली समय में उनके लिए उपयोगी हैं।"

गांधी-स्मारक-निधि ने एक वर्ष में छः गांधी-घर स्थापित करने का निश्चय किया था। उनमें यह पहला था।

हम कई बार लिख चुके हैं कि 'गांधी स्मारक निधि' को उन प्रवृत्तियों को भरपूर सहायता देनी चाहिए, जो गांधीजी के सिद्धांतों एवं प्रवृत्तियों को प्रसारित करने में संलग्न हैं। इतना ही नहीं, कुछ ऐसी नई प्रवृत्तियां भी चालू करानी चाहिए, जो रचनात्मक कार्यों को अग्रसर करें। हमने एक बार यह भी सुझाव दिया था कि राजघाट की पुनीत भूमि पर गांधी-संग्रहालय के भवन-निर्माण की प्रतीक्षा न करके वे प्रवृत्तियां प्रारंभ कर देनी चाहिए, जिनका गांधीजी बराबर संचालन करते रहे थे। राजघाट पर आज भी देश-विदेश के अनेक व्यक्ति आते हैं, पर उन्हें समाधि के अतिरिक्त 'गांधीजी की आत्मा' के दर्शन नहीं होते। वस्तुतः गांधीजी की प्रवृत्तियां उनकी 'आत्मा' थी।

गांधी-घरों की स्थापना के रूप में 'निधि' ने जो कदम उठाया है, उसका हम अभिनंदन करते हैं, साथ ही यह अनुरोध भी कि अन्य गांधी-घर भी जल्दी-जल्दी खुलने चाहिए, और ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि ये केंद्र सुस्ती से नहीं, बल्कि निष्ठापूर्वक तत्परता के साथ कार्य करें।

विदेशों में गांधी-विचार-धारा के प्रति रुचि

अपने रूस तथा अन्य यूरोपीय देशों के प्रवास में हमें ऐसे अनेक व्यक्ति तथा संस्थाएं मिलीं, जो न केवल गांधीजी की ओर आर्कषित हैं, अपितु उनके जीवन तथा सिद्धांतों के

बारे में अधिक-से-अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए उत्सुक भी हैं। मास्को के 'सोवियत इन्फार्मेशन ब्यूरो' में गांधीजी के संबंध में बोलते हुए जब हमने यह सुझाव रखा कि यहांपर एक गांधी-संग्रहालय होना चाहिए तो उपस्थित लोगों ने उसका बड़ी प्रसन्नता से स्वागत किया। हमने कहा कि प्रारंभ में आप उस संग्रहालय में गांधीजी का स्वयं का तथा उनके संबंध में अन्य व्यक्तियों का साहित्य रखें, जिससे मास्को के निवासियों को अवसर हो कि वे आकर उसे पढ़ सकें, बाद में आप संग्रहालय में अन्य चीजों को रखकर उसका रूप व्यापक कर सकते हैं। हमने यह भी कहा कि आगे चलकर आप लोगों को गांधी-विचार-धारा पर अधिकारी व्यक्तियों द्वारा एक व्याख्यानमाला का भी आयोजन करना चाहिए। यह विचार भी उन्हें अच्छा लगा।

मास्को में बाल-साहित्य के सुप्रसिद्ध प्रणेता श्री कर्नें चकवस्की से भेंट हुई तो उन्होंने कहा कि गांधीजी की जीवनी तथा उनके सिद्धांतों में मेरी बड़ी रुचि है। मैं इस संबंध में कुछ पुस्तकें पढ़ना चाहता हूं।

पेरिस तथा लंदन में हमें विनोबाजी तथा उनके भूदान के विषय में लोगों में बड़ी जिज्ञासा दिखाई दी। पेरिस में ३४० पृष्ठों की एक पुस्तक फ्रेंच में दिखाई दी। नाम था 'विनोबा : एक नवीन तीर्थ-यात्रा'। लंदन म भी एक पुस्तक निकली है—'ए सेंट आन मार्च'। वहां के १३ दिन के निवास में हम बराबर वहां के सुप्रसिद्ध पत्र 'मेन्चस्टर गार्डियन', 'टाइम्स', 'आब्जर्वर' तथा 'पीस-न्यूज' में भूदान के विषय में समाचार पढ़ते रहे। लंदन में कई व्यक्ति ऐसे भी मिले, जो गांधीजी से अत्यंत प्रभावित हैं और मानते हैं कि उनके सिद्धांतों पर चलकर ही विश्व में स्थायी शांति स्थापित हो सकती है। पेरिस में कई बंधु 'गांधी-मंदिर' स्थापित करने के लिए लालायित दीख पड़े।

हमारी राय है कि 'गांधी-स्मारक-निधि', 'नवजीवन', 'सस्ता साहित्य मण्डल', 'सर्व सेवा संघ', आदि संस्थाओं को इन विदेशी व्यक्तियों एवं संस्थाओं से निकट का संपर्क रखना चाहिए। समय-समय पर उन्हें साहित्य भेजते रहने के अतिरिक्त ऐसी प्रेरणा भी देते रहना चाहिए, जिससे उनका उत्साह बराबर बढ़ता रहे।

लंदन में म्यूरियल लीस्टर आज भी किंगस्ले हाल द्वारा गांधीजी की अनेक रचनात्मक प्रवृत्तियां चला रही हैं। लेकिन हमने देखा कि उनके यहां साहित्य की बड़ी कमी है और वे चाहती हैं कि समय-समय पर उन्हें उपयोगी पुस्तकें मिलती रहें।

यदि 'गांधी स्मारक निधि', 'नवजीवन', 'सर्व सेवा संघ' तथा 'मंडल' मिलकर इस दिशामें कोई योजना बना सकें तो बड़ा अच्छा होगा। गांधीजी का काम सारे देश का काम है और सबके सहयोग से ही पार पड़ सकता है।

भारत सरकार ध्यान दे

लंदन में बार्कर स्ट्रीट पर मैडम तुसौद की एक प्रदर्शिनी हो रही है, जिसे देखने अनेक देशों के लोग आते हैं। उस प्रदर्शिनी में विभिन्न देशों के महापुरुषों की मोम की बनी मूर्तियां रखी हैं। वे मूर्तियां इतनी सजीव हैं कि बिना ध्यान से देखे यह पहचानना मुश्किल है कि वे असली हैं या नकली। उसे देखने जब हम गये तो द्वार में घुसते ही हमें एक दरबान खड़ा मिला। उससे हम पूछने ही वाले थे कि भाई, हम किधर जायं कि अचानक देखा कि वह हजरत तो मोम के हैं। इसी प्रकार अन्य कई स्थानों पर भ्रम हुआ।

निस्संदेह इस प्रदर्शिनी की कुछ मूर्तियां कमाल की हैं, विशेषकर अंग्रजों की। उनकी आकृति, उनकी पोशाक उनकी भाव-भंगिमा अचरज में डालनेवाली है।

एक ओर को अन्य देशों के महापुरुषों की भी मूर्तियां रखी गई हैं। निर्माता की अद्वितीय कला की सराहना करते हुए जब हम उस विदेशी मूर्तियों के विभाग में पहुंचे तो देखते क्या हैं कि प्रधान मंत्रियों के बीच हमारे पं. जवाहर लाल नेहरू विद्यमान हैं। उनकी मूर्ति को देखकर इतना क्षोभ हुआ कि उसका वर्णन करना असंभव है। ऐसा प्रतीत होता था, मानों वे वर्षों के रोगी हों और रोगशैया से उन्हें पकड़कर कुर्सी पर बिठा दिया हो। इतना ही नहीं, उनकी पोशाक बड़ी ही लज्जाजनक है। कमीज का कालर शेरवानी में दो अंगुल ऊपर निकला हुआ है और शेरवानी ऐसी कि किसीकी मांग कर उन्हें पहना दी गई हो। यही हाल टोपी का। नेहरूजी के व्यक्तित्व के साथ इस

(शेष पृष्ठ ४३८ पर)

'मंडल' की ओर से

'मंडल' की पुस्तकों पर पुरस्कार

पाठकों को यह सूचना देते हुए हर्ष होता है कि केंद्रीय सरकार के शिक्षा-मंत्रालय द्वारा इस वर्ष 'मंडल' की चार पुस्तकों पर पांच-पांचसौ रुपये के पुरस्कार दिये गए हैं :

१. पाव भर आटा (वियोगी हरि)
२. हमारे पड़ोसी (विष्णु प्रभाकर)
३. आकाश की बातें (ओम प्रकाश)
४. काला पानी (शांडिल्य)

इस प्रकार अबतक 'समाज-विकास-माला' की दस पुस्तकें पुरस्कृत हो चुकी हैं। पहली छः पुस्तकें ये हैं :

१. गांव सुखी, हम सुखी (विनोबा)
२. गांधीजी का विद्यार्थी-जीवन (संग्राहक-अशोक)
३. गौतम बुद्ध (भरतसिंह उपाध्याय)
४. बाजीप्रभु देशपांडे (विष्णु प्रभाकर)
५. शहद की खेती (रावत)
६. राजा भोज (देवराज 'दिनेश')

वैसे यह माला मुख्यतः नवसाक्षरों को ध्यान में रखकर प्रारंभ की गई है, लेकिन वह सभी पाठकों के लिए उपयोगी बन पड़ी है। अबतक उसमें ७२ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आगे की १६ प्रेस में हैं।

नये प्रकाशन

'संस्कृत-साहित्य-सौरभ' में दो नई पुस्तकें निकली हैं—कुन्दमाला और यशस्तिलक। इस प्रकार इस माला में ३० पुस्तक हो गई।

'जापान की सैर' से हमारे यात्रा-साहित्य में अच्छी वृद्धि हुई है। **'दुनिया की सैर'** भी शीघ्र ही पाठकों के हाथों में पहुंचेगी। उसके लेखक हैं केंद्रीय शिक्षा-मंत्रालय के उप-शिक्षा-सलाहकार डा. परमेश्वरदीन शुक्ल। पुस्तक बड़ी ही ज्ञानवर्द्धक है।

प्राकृतिक रहन-सहन तथा प्राकृतिक चिकित्सा से संबंधित **'प्राकृतिक चिकित्सा : क्या व कैसे ?'** एक अत्यंत उपयोगी प्रकाशन शीघ्र हो पाठकों को सुलभ हो रहा है। लेखक हैं—श्री महावीरप्रसाद पोद्दार। उनकी रोचक शैली से पाठक भली-भांति परिचित हैं।

आगामी प्रकाशन

इस समय हमारी कई पुस्तकें प्रेस में हैं। उनमें—

१. **पृथ्वी बनी**, २. **जीव जन्मा**, ३. **मनुष्य आया** बड़ी ही रोचक तथा ज्ञानवर्द्धक हैं। जैसाकि नाम से स्पष्ट है, इन पुस्तकों में पृथ्वी, जीव तथा मानव के विकास की कहानी है।

'गागर में सागर'—इस माला के अंतर्गत सचित्र जातक-कथाएं बड़े ही सरल-सुबोध ढंग से दी जा रही हैं। ये कथाएं डा. वासुदेवशरण अग्रवाल के सुयोग्य पुत्र श्री पृथिवीकुमार द्वारा लिखी गई है। बाल-साहित्य में उनके द्वारा वृद्धि होगी।

इन तथा अन्य पुस्तकों के लिए 'मंडल' के संपर्क में रहें। समय-समय पर कार्ड लिखकर सूचना प्राप्त करते रहें। वैसे 'जीवन साहित्य' द्वारा भी जानकारी मिलती रहेगी।

—मंत्री

(पृष्ठ ४३७ का शेष)

प्रकार का अन्याय कैसे हुआ, हम नहीं जानते और न हम यह ही कह सकते हैं कि वह जानबूझ-कर किया गया है, लेकिन हम इतना अवश्य मानते हैं कि उनकी मूर्ति उनके प्रति तनिक भी न्याय नहीं करती।

आगे चलकर यही शिकायत हमें गांधीजी की मूर्ति के संबंध में हुई। ऐसा प्रतीत होता है, मानों कोई फकीर खड़ा हो।

अगले दिन हम लंदन से रवाना हो रहे थे। भारतीय हाई कमिश्नर से मिलने का समय नहीं था। इसलिए एक पत्र द्वारा हमने उनसे अनुरोध किया कि वह प्रदर्शिनी के अधिकारियों पर दबाव डालें कि वे उन मूर्तियों को तत्काल वहां से हटा दें।

आज हम पुनः उस अन्याय के प्रति अपना विरोध प्रकट करते हैं और भारत सरकार से अनुरोध करते हैं कि वह इस दिशा में शीघ्र ही कोई कदम उठावे। —य०

रजिस्टर्ड नं०
डी. २२८

साधना के पथ पर

हरिभाऊ उपाध्याय

सत्साहित्य प्रकाशन

आत्मकथा-साहित्य
का
अमूल्य प्रकाशन

सात्विक, सजीव और
शिक्षाप्रद

अपने जीवन के विकास तथा प्रयोगों की बड़ी ही सुन्दर झांकी इस पुस्तक में लेखक ने उपस्थित की है। शिक्षाप्रद घटनाओं के साथ-साथ इसमें आजादी का इतिहास भी आ गया है।

आकर्षक आवरण : सुंदर छपाई : पृष्ठ संख्या लगभग २५० मूल्य २॥)

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

मार्तण्ड उपाध्याय मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, दिल्ली में छपाकर प्रकाशित।

दिसंबर, १९५७ अहिंसक नवरचना का मासिक

जीवन साहित्य

अंदर पढ़िए

सम्पादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन

सस्ता साहित्य प्रकाशन

मूल्य
वार्षिक ४) एक प्रति ।=)

आवश्यक सूचना

ग्राहक संख्या १००१ से १४५९ तथा १६६५ से १६९१ तक के सदस्यों का वार्षिक शुल्क दिसंबर अंक के साथ समाप्त हो रहा है। ३१ दिसंबर तक वे अपना वार्षिक शुल्क ४) रु० कार्यालय में भेजने की कृपा करें। वी. पी. भेज देने में अकारण दस आने खर्च हो जाते हैं।

—व्यवस्थापक

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली तथा बिहार राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों, कालेजों लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

जीवन साहित्य

वर्ष १८] दिसंबर, १९५७ [अंक १२

विद्यार्थी और राजनीति

विनोबा

विद्यार्थियों के लिए एक बात बार-बार पूछी जाती है कि विद्यार्थियों को राजनीति में हिस्सा लेना चाहिए या नहीं लेना चाहिए। अब यह समझने की जरूरत है कि हम दुनिया के नागरिक बने हुए हैं, विज्ञान ने हमें जबर्दस्ती दुनिया का नागरिक बना दिया है। आज सारी दुनिया नजदीक आ गई है, इसलिए अब थोड़े दिन कुश्ती चलेगी फिर आलिंगन होगा। आज भिन्न-भिन्न देश अलग नहीं रह सकते हैं। इसलिए हमें राजनीति का विचार दूसरे ढंग से करना चाहिए। अब हमें विश्वव्यापक राजनीति का विचार करना चाहिए। हम उसे लोकनीति कहते हैं, याने ऐसी व्यापक विशाल राजनीति, जिसमें सारा विश्व एक है। हम सारे उसके नागरिक हैं, जिसमें किसीका किसीपर अनुशासन नहीं चलता है, हर मनुष्य का अपने पर अनुशासन चलता है। ऐसी राजनीति और ऐसा समाज हमें बनाना है। पर विश्वमानव बनाने की जो राजनीति होगी, उसके लिए 'राजनीति' शब्द लागू नहीं होगा। इसीलिए हम कहते हैं कि विद्यार्थियों को 'लोकनीति' में प्रवीण होना चाहिए। विद्यार्थियों को २१ साल की उम्र के नीचे वोट का अधिकार नहीं दिया जाता है, क्योंकि वह एक छोटा अधिकार है! पर चुनाव में होता यह है कि यदि हमें १०० मनुष्यों की सेवा करनी है, तो उसके लिए हम चुने जाने के लिए खड़े होते हैं और फिर उनमें से ५१ कहते हैं कि "हमें आपकी सेवा पसंद है" और ४९ कहते हैं कि "पसंद नहीं है।" तब भी हम सेवक के नाते चुने जाते हैं। अब हम अपनी सेवा उन ५१ पर तो लादनी ही है, परंतु उन ४९ पर भी लादनी है, जो हमारी सेवा नहीं चाहते हैं! यही बुनियादी तौर से गलत विचार है और जबतक हम इस विचार को नहीं छोड़ते हैं, तबतक दुनिया को मुक्ति नहीं मिलेगी। फिर मेजारिटी-माइनारिटी के झगड़े चलते ही रहेंगे। अतः फूट डालनेवाली यह जो राजनीति है, उसका भविष्य काल में कोई प्रयोजन नहीं है। अब हमें 'सर्वानुमति' से चलनेवाली नीति ही चाहिए, जिसे लोकनीति कहते हैं। वह किस तरह से ला सकेंगे, इस बारे में हम सोचें। इसका थोड़ा-सा आरंभ सिक्युरिटी कौंसिल ने 'वीटो' के रूप में किया है। क्वेकर्स में भी सर्वानुमति से प्रस्ताव पास करते हैं। ये मिसालें छोटी हों, तो भी ये लोकनीति के प्रयोग हैं। इन्हें हमें आगे ले जाना है।

फूट डालनेवाली राजनीति में विद्यार्थियों को हिस्सा लेना ही क्यों चाहिए? उन्हें तो व्यापक लोकनीति का अध्ययन करना चाहिए और उसके वास्ते आजके राजनैतिक विचारों का, सोशियलिज़्म, कम्युनिज़्म, वेलफेअरिज़्म, सर्वोदय आदि का अध्ययन करके उनके गुण-दोषों की चर्चा करनी चाहिए एवं उन्हें अपने विचार व्यापक बनाने चाहिए।

व्यापक विचार बनाने के बाद यदि वे छोटे क्षेत्र के काम में पड़ेंगे, तब तो कोई हर्ज नहीं है। लेकिन व्यापक विचार बनने के पहले ही वे यदि संकुचित क्षेत्र में पड़ेंगे,

तो उनका सारा जीवन संकुचित बनेगा। वैसे, हम कहीं काम करना शुरू करते हैं, तो छोटे क्षेत्र में ही करते हैं, देह के साथ संबंधित क्षेत्र में ही करते हैं। मां काम करेगी, तो परिवार में ही करेगी, ग्राम-सेवक ग्राम में ही काम करेगा, देशसेवक देश में करेगा। इस तरह सेवा-क्षेत्र चाहे छोटा भी हो और घर, गांव या देश के क्षेत्र में सेवा चलती हो, तो भी विश्वव्यापक दृष्टि से सेवा करनी चाहिए। विद्यार्थियों की ऐसी ही विश्व-व्यापक दृष्टि होनी चाहिए। बच्चे की सेवा करते समय मां को ऐसी संकुचित भावना नहीं रखनी चाहिए कि 'यह मेरा बच्चा है और मैं उसकी सेवा करती हूं।' बल्कि उसकी ऐसी भावना होनी चाहिए कि 'सारे विश्व का प्रतिनिधि मेरे घर में आया है।' जैसे, कौसल्या यह समझकर रामजी की सेवा करती थीं कि राम के रूप में भगवान ही मेरे घर में आया है। ऐसी भावना से मां सेवा करेगी तो उस लड़के की सेवा से माता मोक्ष पा सकती है। जितनी दृष्टि व्यापक रखोगे, उतनी सेवा की कीमत बढ़ेगी। सेवा की कीमत, उसके परिमाण पर निर्भर नहीं है।

हनुमान की मूर्त्ति छोटी हो या बड़ी, वह हनुमान ही है। सेवा छोटी है या बड़ी, इसकी कीमत नहीं है। किस भावना से, दृष्टि से वह की जा रही है, उसकी कीमत है। छोटी दृष्टि से देश की सेवा करना संकुचित विचार ही माना जायगा और बड़ी दृष्टि से घर की सेवा करना बड़ा विचार होगा। आज बड़े-बड़े देश के नेता देश की सेवा करते हैं, परंतु उनका दिमाग छोटा होता है, तो क्या परिणाम आता है? हिटलर ने जर्मनी की सेवा की। वह अपनेको देश-सेवक ही समझता था और सारे जर्मनों की चिंता करता था। परंतु वह संकुचित बुद्धि से चिंतन करता था। तो परिणाम यह आया कि सारा समाज विनाश की तरफ गया। आज हम देखते हैं कि सार्वजनिक सेवा करनेवाले बड़े-बड़े लोगों की सेवा में राग-द्वेष पैदा होते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि संकुचित होती है। तो संकुचित दृष्टि से व्यापक सेवा करने पर भी वह सेवा संकुचित हो जाती है और व्यापक दृष्टि से, निर्मल बुद्धि से, निष्कामभाव से छोटी सेवा करने पर वही बड़ी बन जाती है। यह सेवा का रहस्य है।

इसलिए विद्यार्थियों को राजनीति में पड़ना चाहिए या नहीं, इसका विचार इस बुनियादी दृष्टिकोण से करना चाहिए। आज जो राजनीति चल रही है, वह अत्यंत संकुचित है। वह समाज के टुकड़े करती है और सत्ता के जरिये सेवा लादना चाहती है। महापुरुषों ने बिल्कुल इससे उल्टी क्रिया बताई थी। उन्होंने कहा था कि हमारी आज्ञा किसी पर नहीं चलनी चाहिए, हरेक को हमारा विचार सुनने का, समझने का अधिकार है। अगर उसे विचार जंचेगा, तो उसे वह कबूल करेगा। नहीं जंचेगा तो परित्याग करेगा।

आज का पालिटिक्स तो सत्ता के जरिये समाज पर कुछ चीजें लादने की कोशिश करता है। और वेलफेअर स्टेट से तो भयानक कोई स्टेट् ही नहीं हो सकती है; दीखने में तो यह बड़ा सुंदर विचार दीखता है। कहा जाता है कि "पुरानी स्टेट् केवल पुलिस स्टेट् थी, वह केवल रक्षण की चिंता करती थी, और कुछ नहीं। सारा काम समाज ही करता था। अब वह पुरानी सरकार गई और नई सरकार आयी। जो समाज के कल्याण की चिंता करती है।" पर वेलफेअर स्टेट् की भी कल्पना नई तो नहीं है! कालिदास ने रघुवंश में एक राजा के राज्य का वर्णन किया है, जो आदर्श वेलफेअर स्टेट् का वर्णन है—'प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणात् भरणादपि!' वह राजा प्रजा का रक्षण, पालन-पोषण सभी करता था। इसलिए 'स पिता', वही एक पिता था, 'पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः।' बाकी सारे बाप केवल जन्म देनेवाले थे। हम तो कालिदास का यह श्लोक पढ़कर बिल्कुल घबड़ा गये। अगर ऐसी स्टेट् हो, तो वह बड़ी भयानक कल्पना है। जिसमें जनता के जीवन को सब तरह से कसकर बांधा जाता है, उसमें जनता को स्वतंत्र रीति से कुछ भी काम करना नहीं होता है। देश के हर काम के लिए, सरकार की तरफ से ही प्लान बनता है। समाज-सुधार, खेती-सुधार, वस्त्र, शिक्षण देना, साहित्यिकों को उत्तेजना देना, उद्योगों के बारे में पालिसी (नीति) तय करना, रक्षण आदि सब सरकार करेगी और लोग रक्ष्य बनेंगे। यह बिल्कुल जड़ दशा है, यह तो भेंड़ों की अवस्था है!

और, वोट का अधिकार दिये जाने पर भी भेंड़ तो भेंड़ ही रहे, मानव नहीं बने। पुरानी राज्य-व्यवस्था गई और नई आई। तो भी बहुत ज्यादा फर्क नहीं पड़ा।

इसीलिए हम विद्यार्थियों को किसी प्रकार की 'डिस एबिलटी' में रखना नहीं चाहते हैं, हम उन पर ऐसी कोई मर्यादा नहीं रखना चाहते कि उन्हें फलाना काम नहीं करना चाहिए। विद्यार्थियों के लिए अचिंतनीय विषय है ही नहीं। विशाल, व्यापक दृष्टि प्राप्त करने के बाद, फिर चाहे वे संकुचित क्षेत्र में काम करें, तो भी सुरक्षित हैं। इसलिए हमारी राय में विद्यार्थियों को लोकनीति का सर्वोत्तम अध्ययन करना चाहिए। विद्यार्थी और शिक्षकों का अधिकार है कि वे आज की राजनीति को तोड़ें।

(बंगलोर, १७-१०)

●

ग्रामदान-परिषद् का सर्वसम्मत वक्तव्य

२२ सितंबर को ग्रामदान-परिषद् ने सर्वसम्मति से निम्न वक्तव्य स्वीकृत किया, जिसमें भारतीय जनता के सभी वर्गों से ग्रामदान-आंदोलन का उत्साहपूर्वक समर्थन करने की अपील की गई है :

"सर्व-सेवा-संघ के आमंत्रण पर मैसूर राज्य के एकवाल स्थान में ता० २१-२२ सितंबर को ग्रामदान-परिषद् हुई। राष्ट्रपति ने अपनी उपस्थिति से परिषद् को गौरवान्वित किया। समस्त भारत के निमंत्रित व्यक्ति भी, जिनकी इस आंदोलन में गहरी दिलचस्पी रही है, इसमें उपस्थित थे। आचार्य श्री विनोबा भावे ने बताया कि उन्होंने किस प्रकार सामाजिक, आर्थिक समस्याओं, विशेषतया भूमि-संबंधी समस्याओं के समाधान के लिए अहिंसात्मक पद्धति अपनाई। इस आंदोलन का प्रारंभ भूमिदान से बढ़ते-बढ़ते आज ग्रामदान की स्थिति तक अर्थात् पूरे गांव का गांव समाज को दान देने तक आ पहुंचा है। तीन हजार से अधिक ग्राम ग्रामदान के रूप में यहां के ग्रामवासियों द्वारा ग्रामीण-समाज को अपनी इच्छा से दिये जा चुके हैं। उन्होंने भूमि पर से अपना निजी स्वामित्व विसर्जित कर दिया है। परिषद में भाग लेनेवाले व्यक्तियों ने ग्रामदान-आंदोलन का स्वागत किया और इसके बुनियादी उसूलों की बहुत तारीफ की। इन उसूलों द्वारा संबंधित गांवों के सहकारी जीवन और उसके प्रयत्नों का पूर्ण विकास होगा, इन गांवों की आर्थिक स्थिति अच्छी होगी और जनता की बहुमुखी प्रगति और विकास होगा। इसके अलावा इनसे भूमि-समस्या के हल के लिए सारे भारत में मनोवैज्ञानिक वातावरण उत्पन्न होगा और साथ-साथ सहकारी जीवन विकसित होगा। इस आंदोलन की मुख्य विशेषता है—अहिंसात्मक पद्धति और इसका ऐच्छिक स्वरूप। इस प्रकार नैतिक मार्ग व्यावहारिक और आर्थिक लाभ तथा सहकार और स्वावलंबन के आधार पर सामाजिक व्यवस्था के विकास के साथ जुड़ गया। ऐसा आंदोलन सब तरह की सहायता और प्रोत्साहन की अपेक्षा रखता है।

"इस परिषद् में उपस्थित केंद्रीय और राज्य-सरकारों के सदस्यों ने ग्रामदान-आंदोलन की प्रशंसा करते हुए तथा सहायता की इच्छा रखते हुए बतलाया कि संबद्ध सरकारों को अपनी भूमि-सुधार-संबंधी योजनाएं, यथा भूमि-संबंधी सभी मध्यवर्ती स्वार्थों का उन्मूलन, जोत की निश्चित सीमा तथा जनता की सहमति से सहकारी आंदोलन की सभी अवस्थाओं की प्रगति को आगे बढ़ाना होगा। सरकार की ये योजनाएं ग्रामदान-आंदोलन के विरोध में नहीं हैं, बल्कि ग्रामदान-आंदोलन से उनको समर्थन मिलता है।"

"यह भी बताया गया कि सरकार की विकास-खंड-योजना और ग्रामदान-आंदोलन के बीच घनिष्ठतम सहयोग इष्ट है।

"परिषद् ने अपनी दो दिनों की बैठक की समाप्ति पर विनोबाजी के 'मिशन' और उनके अहिंसात्मक तथा सहकारी उपायों से राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं के समाधान के प्रयत्नों की भूरि-भूरि प्रशंसा की और भारतीय जनता के सभी वर्गों से इस आंदोलन का उत्साहपूर्वक समर्थन करने की अपील की।"

●

चीन में वेश्यावृत्ति का अंत

सत्यदेव विद्यालंकार

१९११ की राज्यक्रांति के एक ही वर्ष में विफल हो जाने के बाद नए चीन के राष्ट्रपिता डा. सनयात सेन ने उसके कारणों पर गंभीर विचार किया और वह इस परिणाम पर पहुँचे कि राष्ट्रवासियों के पुराने सामाजिक एवं धार्मिक विचारों को बदले बिना राजनीतिक क्रांति को सफल एवं स्थायी नहीं बनाया जा सकता। उन्होंने फिर अज्ञातवास स्वीकार किया और वह राजनीतिक क्रांति के लिए अनुकूल भूमि तैयार करने में लग गये। गंभीर चिंतन और विविध प्रयत्नों के बाद उन्होंने १९१८ में महान् सांस्कृतिक क्रांति का देशव्यापी पैमाने पर श्रीगणेश किया। देश के सार्वजनिक जीवन एवं चरित्र को बदल देनेवाली इस क्रांति की स्मृति ४ मई को प्रतिवर्ष बड़े समारोह से मनाई जाती है और चतुर्मुखी क्रांति की साधना के संकल्प को उस दिन दुहराया जाता है। तबसे प्रारंभ हुआ जीवन-परिवर्तन का यह क्रम वर्ष-प्रतिवर्ष पूरे वेग के साथ चला आ रहा है। उसका लाभ सबसे अधिक महिला-समाज को मिला है।

चीन में भी नारी को भारतीय नारी के समान पद-दलित, लांछित, अपमानित एवं तिरस्कृत जीवन बिताने को बाध्य कर दिया गया था। उसकी स्वतंत्रता का अपहरण यहांतक किया गया था कि बचपन में ही उसके पैर लोहे की जूतियों में जकड़ दिये जाते थे। पैरों के विकास के इस प्रकार रुकने के साथ-साथ उसके व्यक्तित्व का विकास भी रुक जाता था और वह एकमात्र पुरुष पर निर्भर रह जाती थी। जिन पारिवारिक, वैवाहिक, सामाजिक तथा धार्मिक बंधनों में भारतीय नारी अबतक भी बुरी तरह जकड़ी हुई है, उनमें कभी चीन की नारी भी जकड़ी हुई थी। उसको भी अपना सारा जीवन माता पिता, पति व पुत्र की गुलामी में बिताना पड़ता था और उसको भी स्वतंत्रता तथा सब प्रकार के अधिकारों से सर्वथा वंचित कर दिया गया था। बाल-वृद्ध-बेजोड़ विवाहों का अभिशाप उसको भी भोगना पड़ता था। धार्मिक अनाचार, सामाजिक अत्याचार और पारिवारिक अन्याय से त्रस्त होकर वह भी खुले बाजार में अपने सतीत्व को बेचने और वेश्यावृत्ति से जीवन निर्वाह करने के लिए लाचार की जाती थी। चीन के इस अनाचारपूर्ण अनैतिक व्यापार की कहानी भी वैसी ही घृणित, जघन्य और लज्जापूर्ण थी जैसाकि भारत में आज भी विद्यमान है। जनवादी चीन की महान क्रांति का सबसे अधिक विस्मयजनक प्रयोग यही है कि उसने इस वीभत्स कहानी के कलंक को अपनी सफेद चादर पर से बिल्कुल धो डाला है और अपने यहां की नारी को सभी दृष्टियों से पुरुष की बराबरी में लाकर खड़ा कर दिया है। उसके जीवन का अस्तित्व निरर्थक एवं निष्प्रयोजन नहीं रहा, उसको पुरुष के समान समस्त अधिकार एवं अवसर प्राप्त हैं। कोई बाधा उसकी प्रगति के मार्ग में रुकावट नहीं बन सकती। पुराने सारे वैवाहिक कानून, अनाचारपूर्ण सामाजिक व्यवहार और अन्यायपूर्ण धार्मिक व्यवस्था का सर्वथा अंत हो गया है। उनका स्थान नवीन कानून, नवीन व्यवहार एवं नई व्यवस्था ने ले लिया है, नवीन चीन की नारी ने भी जीवन का नया रूप और नया दर्शन अपना लिया है।

इस विस्मयजनक चमत्कारपूर्ण परिवर्तन का कुछ परिचय शंघाई के कायाकल्प से मिल सकता है। महान क्रांति से पहले इस नगर को अंतर्राष्ट्रीय स्थिति प्राप्त थी। इसी कारण उसको महिलाओं के अनैतिक व्यापार करनेवालों का 'स्वर्ग' कहा जाता था। दूर-दूर से महिलाओं को फुसलाकर इस अनैतिक व्यापार के लिए इस नगर में लाया जाता था। उन भोली-भाली अबोध बालिकाओं की जीवन-गाथा के पीछे पत्थर हृदय को भी पसीज देनेवाली 'करुणा' विद्यमान थी, लेकिन जिस मानव के हृदय और आंखों पर पाशविकता एवं पैशाचिकता की गहरी तह जमी हुई थी वह उस 'करुणा' को न तो देख सकता था और न अनुभव कर सकता था। तब उस नगर के इस अनाचारपूर्ण व्यापार के केंद्र में लगभग ८०० परवाना प्राप्त वेश्यालय थे और यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि उनमें कितने हजार महिलाओं को

वेश्यावृत्ति का शिकार बनाया जाता होगा। अपनी उभरती युवावस्था और सौंदर्यपूर्ण आकर्षण के कारण उन्हें सोने का अंडा देनेवाली मुर्गी, कामधेनु अथवा कल्पवृक्ष समझा जाता था। जैसे-जैसे उनकी नौजवानी और आकर्षण कम होता जाता वैसे-वैसे वे आमदनी की दृष्टि से दूसरी तथा तीसरी श्रेणी में रख दी जाती। बुढ़ापे अथवा बीमारी के कारण यदि आर्थिक आमदनी की दृष्टि से निरर्थक हो जातीं तो उनको वेश्यालयों से बाहर धकेल दिया जाता। वे असहाय एवं निराश्रित होकर दर-दर मारी फिरतीं।

चीन की महान क्रांति ने अनाचारपूर्ण व्यापार करने वालों के इस 'स्वर्ग' को जड़मूल से नष्ट कर दिया है। महिला-संरक्षण एवं शिक्षण-केन्द्र ने उनके जीवन के नवनिर्माण का कार्य अपने हाथों में ले लिया, नवम्बर १९५१ में जनता की सरकार ने सभी वेश्यालयों को एकाएक बंद कर दिया। हजारों ऐसी महिलाएं भी थीं जो परवाना लिये बिना इस अनाचारपूर्ण व्यापार का शिकार बनी हुई थीं। सरकार के इस साहसपूर्ण कदम का परिणाम यह हुआ कि शंघाई की ओर बहने वाले महिलाओं के अयात के प्रवाह की दिशा एकाएक बदल गई। जो महिलाएं वेश्यावृत्ति के लिय शंघाई में लाई गई थीं अथवा स्वयं चली आयी थीं वे अपने घरों, देहातों और कारखानों में चली गईं। उनके लिए अब काम की कमी न रही और वे स्वतंत्र आजीविका द्वारा बड़े सुख के साथ जीवन-यापन करने लग गईं। जो कहीं न जा सकीं उनको केन्द्र में आश्रय दिया गया। उनकी वहां डाक्टरी परीक्षा और उपचार किया गया। उनको सुसभ्य नागरिक बनने के लिए आवश्यक शिक्षा दी गई। जिस धैर्य और विवेक से केन्द्र में काम लिया गया, उससे न केवल उन महिलाओं का उद्धार हुआ किन्तु चीन के सार्वजनिक चरित्र एवं राष्ट्रीय जीवन के निर्माण में भी बड़ी सहायता मिली। उनको शिक्षित करके दाइयों, बाल-शिक्षिकाओं तथा कातने व काढ़ने और मोजा आदि बनाने के काम-काज में लगाया गया।

यहां उनमें से कुछके उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा। चिन-मी-ली नाम की चौबीस वर्षीय महिला वेश्यालय में आय की दृष्टि से पहली श्रेणी में रखी गई थी; किंतु अब वह शंघाई के एक अस्पताल में परिचारिका का काम करती है। उसके पिता ने अफीम के नशे में अपना सब कुछ खो दिया था और घर को भी उजाड़ दिया था। पंद्रह वर्ष की आयु में खाने पीने से भी तंग आकर वह किसी कारखाने में काम की खोज में शंघाई आ गई। बदमाशों के हाथ में पड़ जाने के कारण उसको भी एक वेश्यालय में रख कर पैसा कमाने का साधन बना लिया गया। धीरे-धीरे उसने उसीमें अपने जीवन को सार्थक मान लिया और केंद्र में लाए जाने के बाद भी कई दिनों तक वह यह कहती रही कि वह लायसेंस-शुदा वेश्या है, उसने कोई कानूनी अपराध नहीं किया है और उसको अपना धंधा करने का मौका दिया जाना चाहिए परंतु शीघ्र ही उसने नया जीवन स्वीकार कर लिया और अब वह बड़े सम्मान का स्वावलंबी जीवन बिता रही है।

उन महिलाओं का जीवन कहीं अधिक नारकीय था, जो बिना लायसेंस लिये इस अनैतिक व्यापार में फंसी हुई थीं। मे-च्याओलिंग ऐसी ही अभागी महिला थी। अब वह एक कपड़ा मिल में होशियार कारीगर है। उसकी आमदनी ७० युआन मासिक है। उसकी आपबीती करुणापूर्ण कहानी पर विश्वास करना भी कठिन है। अपने घरवालों विशेषत: सास व पति के अन्यायपूर्ण व्यवहार से तंग आकर वह, सोलह वर्ष की आयु में अपने गांव से शंघाई चली आई। वह भी बदमाशों के हाथों में पड़ गई। दो ही वर्ष बाद जब उसको केन्द्र में लाया गया तब सुजाक आदि की भयानक बीमारियों का उसके चेहरे और आंखों पर भी असर पड़ चुका था। उसका उपचार किया गया और उसको बुनाई की शिक्षा दी गई।

छ: वर्ष पहले केंद्र में लाई गई चेन-सुई-व्हा आज भी उसके बुनाई-विभाग में क्लर्क का काम कर रही है। वह एक गरीब किसान के घर में पैदा हुई थी। सोलह वर्ष की आयु में उसका गरीबी के कारण एक धनी जमींदार के साथ बलात् विवाह कर दिया गया।। उसके साथ वहां गुलामों का-सा व्यवहार किया गया और उससे तंग आकर, एक स्त्री के फुसलाए जाने पर वह उसके साथ शंघाई चली

आई। वहां उसको बदमाशों के हाथ बेच दिया गया। इस छल-कपट का पता लगने पर जब उसने विरोध किया तब उसको बेंतों से पीटा गया। अंत में मामला किसी प्रकार पुलिस के पास पहुंचा तो पुलिस ने उसीको दोषी बताकर वेश्यालय में वापस जाने के लिए बाध्य किया। वह वहां भीषण बीमारियों का शिकार बन गई। तीन बार उसका गर्भपात किया गया और वह कोकीन की आदी बना दी गई। १९५१ में केंद्र में लाई जाने पर डाक्टरी परीक्षा से पता चला कि उपदंश की बीमारी शीघ्र ही उसकी मृत्यु का कारण बन जायगी। नौ वर्ष तक उसको उस नारकीय जीवन का शिकार बनाया गया था।

इस केंद्र में लगभग ४,५०० ऐसी अभागी महिलाओं को शरण दी गई, उनका उपचार किया गया, उनको विभिन्न धंधों की शिक्षा दी गई और आत्म-निर्भर बनाया गया। उनमें से दो तिहाई का विवाह कर दिया गया और वे देहातों में अपने खेतों पर अपने घरवालों के साथ बड़ा सुखी जीवन बिता रही हैं। अन्य महिलाएं भी कारखानों, अस्पतालों, जच्चाघरों, बाल-शिक्षा-केंद्रों तथा विद्यालयों में काम करती हुई सुखपूर्वक जीवनयापन कर रही हैं। शंघाई के परिवर्तन की यह कहानी चीन के सभी नगरों पर लागू है और संपूर्ण चीन में वेश्यावृत्ति को नामशेष कर दिया गया है।

हमारे देश में फैली हुई वेश्यावृत्ति का मूल कारण भी वह गरीबी, घरवालों का दुर्व्यवहार तथा सामाजिक अनाचार हैं, जिसने चीन के महिला-समाज को भी उसका शिकार बनाया हुआ था। यह कुछ कम खेद की बात नहीं है कि जिस अनाचारपूर्ण व्यापार को चीन में जनता की सरकार ने अपने अस्तित्व के तीन ही वर्ष बाद १९५१ में जड़मूल से नष्ट कर दिया उसको हमारी अपनी सरकार दस वर्षों में भी समाप्त नहीं कर सकी। उसको नगर-पालिकाओं-सरीखी स्थानीय संस्थाओं पर छोड़कर हमारी सरकार इस संबंध में अपने कर्तव्य से कुछ निश्चित हो गई दीख पड़ती है। चीन की महान क्रांति के बाद किये गए अनेक चमत्कारपूर्ण प्रयोगों में वेश्यावृत्ति के अंत करने का यह शानदार प्रयोग हमारे लिए अनुकरणीय है। इस प्रकार जनता के नैतिक जीवन का निर्माण किये बिना राष्ट्र-निर्माण के लिए सुदृढ़ नींव तैयार नहीं की जा सकती।

हार नहीं मानूंगा

सुधेश

जीवन में कण्टक, विष, ज्वाला है, लेकिन हार नहीं मानूंगा।

अब रहने दो मधु की बातें, चंदा की अलसाई रातें,
मत छेड़ो मद भीनी तानें, प्यारी लगती अब कटु घातें,
चिर एकाकी सूनेपन में कोलाहल क्रंदन होने दो,
युग-युग अलसाए कण-कण में जीवन का स्पंदन होने दो;
अभिशापों से बोझिल पग-पग हो, लेकिन भार नहीं मानूंगा।
जीवन में कण्टक, विष, ज्वाला है, लेकिन हार नहीं मानूंगा।

किश्ती डूबे उस पार लगे, तूफानों की परवाह नहीं,
तम का सागर भी लहराए, पतवारों की कुछ चाह नहीं,
अब दूर रहे जग की छाया है बहुत मुझे मेरी ज्वाला,
यह उन्मन पागलपन मेरा है चिर वरदानों की माला;
सूखे ही प्राण झरे, जग की करुणा को प्यार नहीं मानूंगा।
जीवन में कण्टक, विष, ज्वाला है लेकिन हार नहीं मानूंगा।

तरुण से

नेमिशरण मित्तल

हजारों वर्षों की दासता और दूषित शिक्षण-पद्धति ने हमारे नवयुवक का तेज हरण किया है। उसका पुरुषार्थ सो गया है। इतिहास ही उसके जीवन का चरम सत्य हो गया है, जिसे देखिए हर बात का प्रमाण पुराण और इतिहास में ढूंढ़ रहा है। हमारा कहना है कि आप स्वयं प्रमाण बन जाइए न! किंतु उसके लिए जिस पुरुषार्थ की आवश्यकता है वह जमाने की गुलामी से पदा नहीं होगा। उसके लिए भीष्म-संकल्प की राह है। और उससे भी भीष्म-संकल्प यह चाहिए कि अपने संकल्प-पथ पर अविचल डटे रहेंगे, चाहे हजार तूफान आयें, आंधी या मेंह।

सर्वोदय-विचार द्वारा लोक-क्रांति का स्वप्न मेरे जीवन का आधार बन गया है, कुछ समय से राजस्थान के नौजवानों में घूम रहा हूं, मिलता हूं और उनके सामने पूज्य बापू का यह विचार रख देता हूं कि "हमें अपने देश और संसार में साम्ययोगी समाज-रचना का काम करना है। ऐसा समाज बनाना है, जो प्रेम पर अधिष्ठित हो एवं भय-प्रलोभन से सर्वथा मुक्त हो।" तरुण प्रायः प्रश्न किया करते हैं—"क्या आप जिस प्रेमराज्य की कल्पना करते हैं वह बन सकेगा—क्या यह संभव है?" ऐसा प्रश्न सुनकर मैं कांप उठता हूं, मेरे मन में एक भीषण आशंका उठती है विश्व-संस्कृति के रक्षण और अपने तरुण के पुरुषार्थ के बारे में। नौजवान और संभावना में शंका या अविश्वास! असंभव। जो तरुण है उसके लिए कुछ भी असंभव नहीं हो सकता। नैपोलियन जब दिग्विजय करने निकला तो उसने असंभव शब्द को अपने कोष से बहिष्कृत कर दिया। नेपोलियन यानी बड़ा काम करने की साध रखनेवाला प्रत्येक व्यक्ति, जिसका हृदय बड़े काम कर जाने की आकांक्षा से भरा पूरा है, उसके लिए सर्वत्र संभावना ही है, असंभव का लोप हो जाता है। नौजवान उसे ही कहते हैं जिसके हृदय में बड़ी साधें समा जायं और जो उनकी सिद्धि के लिए कृत-संकल्प हो।

तो फिर देरी क्या है? देरी है संकल्प की। बूढ़े शिक्षण ने तरुण को बूढ़ा बना दिया है। उसे सिखा दिया गया है कि अपने कामों और विचारों का अधिष्ठान इतिहास और पुराणों में ढूंढ़ो। नौजवान का अधिष्ठान इतिहास नहीं हो सकता। उसके काम का अधिष्ठान उसके हृदय की शक्ति और उसके बाहुबल में है। आवश्यकता इस बात की है कि विचार युक्तिसंगत जंचने पर उसको व्यवहारिक स्वरूप देने का संकल्प हम करें। सर्वोदय-विचार ही मानवता को बचा सकेगा—यह विचार यदि हम समझ गये हैं तो बस हम अपनी बांहें चढ़ाकर जुट जायें ग्रामराज्य की स्थापना में। नौजवान! संभव असंभव तुम्हारी मुट्ठी में है। जो तुम करोगे संभव हो जायगा, जिसे देखकर तुम पीठ मोड़ लोगे वह असंभव रह जायगा। पूछते क्या हो, कुरुक्षेत्र अर्थात् करने का क्षेत्र धर्म-क्षेत्र है। यह सागर-सा, अंबर-सा विस्तृत और अछूता पड़ा है। उतरो इसमें, यह तुम्हारी चरण-धूलि लेने को उतावला हो रहा है। अपने पुनीत हाथों के स्पर्श से युग की काया बदल डालो। वैषम्य और वैधर्म्य का निराकरण करके साम्य और साधर्म्य की सृष्टि करने के लिये युग तुम्हारा आवाहन कर रहा है।

यह आवाहन केवल बुलावा ही नहीं है, आवाहन यानी चुनौती भी है। यदि आज का नवयुवक विषमता के निवारण के लिए कटिबद्ध न हो सका तो यह वैषम्य समाज का संहार करेगा यह निश्चित है। इसीलिए उठो! युग-धर्म को पहचानकर प्रवाह को बदल डालो।

सर्वोदय के मंत्र का वाचन कर रहा था कि अचानक प्रातः स्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रामचरित-मानस में वर्णित रामराज्य के लक्षणों का स्मरण हो आया और मैं तीव्र स्वर में उनका पाठ करने लगा—

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
रामराज काहुहिं नहिं व्यापा॥

सब नर करहिं परस्पर प्रीती।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥

राम भगति रत नर अरु नारी।
सकल परम गति के अधिकारी॥

अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा ।
सब सुन्दर सब विरुज सरीरा ॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना ।
नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ॥

जानबूझकर मैं काहुहि, सबनर, सकल, कवनिउ, सब, काउ शब्दों पर जोर दे रहा था । कैसा महान समाज था जिसमें सब लोग परम गति के अधिकारी थे, कोई भी दीन-दुखी, दरिद्र मूर्ख और लक्षणहीन नहीं था ।

इतना सुनना था कि एक नवयुवक मित्र खड़े होकर लगे पूछने—"क्यों साहब क्या ऐसा समाज कभी अस्तित्व में आया है ? क्या इतिहास में उसका कोई प्रमाण है ?' जैसा कहा जा चुका है, प्रश्न क्या है इतिहास की दुहाई है । मानों हमारा जन्म इतिहास के कारागार में केवल उसका जप करने के लिए ही हुआ हो । क्या इस प्रश्न को अपने ही पुरुषार्थ पर किया गया आक्षेप और संशय न समझा जाय ?

संकल्प द्वारा स्वर्ग जीतने की संस्कृतिवाले इस देश का यह आधुनिक तरुण श्रीहीन होकर कैसे अटपटे प्रश्न करता है । यह देखकर हृदय रो उठता है । अरे ! क्यों परेशान होते हो अतीत में भविष्य का अधिष्ठान खोजने के लिए । संक्रांति तो कब की बीत गई, यह क्रांति का युग है । यदि तुम्हें भी वही करना था जो पूर्वज कर चुके हैं तो क्या जरूरत थी तुम्हारे पैदा होने की ? आज के नौजवान का जन्म इसलिए हुआ है कि वह ऐसा सुन्दर समाज बनाये जैसा कभी न बना हो । जो नहीं हुआ वही करने के लिए मैं जन्मा हूं—यह विचार क्या हमें बदल डालने के लिए काफी नहीं होगा ? यदि ऐसा नहीं हुआ तो व्यर्थ ही मां की कोख को भारी किया, व्यर्थ ही धरती पर भार हुआ ।

भारत के नौजवान ! क्या तुम इतिहास से संचालित होओगे ? क्या इतिहास तुम्हारा निर्माण और तुम्हारे कामों का निर्णय करेगा ? निकलो इस दैन्य और बौद्धिक दिवालियेपन की स्थिति से । भविष्य कभी भी भूत की शरण ग्रहण नहीं करेगा । युग के प्रवाहमान रथ के पहिये को बांधकर रखने की कुचेष्टा मत करो, कुचल जाओगे ।

तुम ! इतिहास के निर्माता हो । विश्व-शांति और साम्ययोग का नूतन इतिहास तुम्हारे पुरुषार्थ की राह देख रहा है । सृजना के चैतन्य प्रतीक बनकर इस धरा पर, गगन पर और सागर की छाती पर मुक्त विहार करो । अपने पांवों में अतीत की जंजीरों को मत बांधो । तुम क्रांति के वाहन बनने के लिए पैदा किये गये हो, युग की कोख तुम्हें जन्म देकर कृतार्थ होना चाहती है । आइए करें उस समाज का निर्माण जिसमें—

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना ।
नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ॥

सुफेद और काले बालों का झगड़ा

विश्वकवि श्री रवींद्रनाथ ठाकुर की मूल बंगला कविता

पाका चूल मोर चेये एतो मान्य पाय,
कांचा चूल सेइ दुखे करे हाय हाय ।
पाका चूल बोले मान सब लओ, बाछा,
आमारे केवल तुमि करे दाओ कांचा ॥

हिंदी अनुवाद

"पके बाल जब मुझसे ज्यादा पाते मान,
इसी दुख से कच्चे बाल होते हैरान ।
पके बाल कहते, ले लो सब मेरा मान,
मुझे सिर्फ तुम करदो अपने आप समान ॥"

—मदनलाल जैन

संस्कार

विष्णु प्रभाकर

साड़ी का पैकेट लेकर जैसे ही कुमुद भंडार से बाहर जाने के लिए मुड़ी तो सहसा वह ठिठक गई। सामने के काउंटर पर खड़ी एक युवती को उसने देखा—भारी-भारी गोल मुख, बड़ी-बड़ी आंखें, सलौना वर्ण, मृदु मस्कान से मण्डित इस रूप को कहीं देखा है। कहां, कहां देखा है?

प्रमोद साथ था। बाहर जाकर लौटा, 'अरे जीजी तुम तो यहीं रह गईं। उधर क्या देख रही हो?'

'देख रही हूं....।'

'अच्छा!! जीजी वे तो आकाशवाणी में उपनिदेशक हैं। अभी बदलकर आये हैं।'

फिर मुस्कराकर धीरे से कहा, 'हरिजन हैं।'

'हरिजन।' कुमुद एकदम उत्फुल्ल स्वर में बोल उठी, 'अहा, तो यह जानकी है।'

इसी क्षण जानकी ने किसी कारणवश कुमुद की दिशा में देखा। पलक मारते न मारते वह कुमुद के पास आ खड़ी हुई। मुस्काते नयन सजल हो आये। कुमुद ने उसका हाथ अपने हाथ में लेकर कहा, 'सोच रही थी इस सलौने मुख को कहीं देखा है। कहो तो जानकी, कैसी हो?'

'अच्छी हूं, तुम कैसी हो?'

'मैं भी अच्छी हूं, पर तू तो बहुत अच्छी है। रंग में निखार है। शरीर में तेज है। क्या खाती है?'

जानकी हँस पड़ी; 'मैं क्या खाऊंगी। तू अपनी कह, पहचाना भी नहीं!'

'सच जानकी नहीं पहचाना। तू अब वह स्कूल की लजीली छोकरी कहां है। तेरी आंखों में न जाने क्या भरा है।'

जानकी ने मुस्कराकर हाथ को जरा-सा दबा दिया। कुमुद बोली, 'साफ क्यों नहीं कहती कि शादी हो गई है।'

जानकी अब भी नहीं बोली, बस शरारत से गरदन हिलादी। कुमुद बोली, 'तभी तो, और कहती है कि मैं क्या खाऊंगी।'

जानकी हंस पड़ी। उनके चारों ओर नर-नारियों का समूह था। अपने व्यापार में मस्त, पर फिर भी हठात् कोई उन्हें देख लेता तो बराबर देखता रहता। मृदु तरल मुस्कान और मुक्त भीगी हँसी। कौन ईर्ष्या न करेगा इन दुर्लभ गुणों से? जानकी ने पूछा, 'क्यों री तूने शादी नहीं की?'

'उहूँ'

'पढ़ती हो?'

'हां'

'कौन-सी क्लास?'

'एम० ए० करके डॉक्टरेट के लिए तैयारी कर रही हूं।'

'बाप रे! डाक्टर बनेगी, लेकिन ....'

कुछ कहते-कहते रह गई। पति चलने के लिए संकेत कर रहे थे। जानकी ने उन्हें पास बुलाकर परिचय कराया, 'यह है कुमुद, मैट्रिक तक साथ ही पढ़ी है। थी तो सहपाठिन, पर मुझे पढ़ाया करती थी। अब डाक्टर बनने के प्रयत्न में है।'

नमस्ते के आदान-प्रदान के बाद गोविंदराम ने मुस्कराकर कहा, 'तब पढ़ाती थी, अब नब्ज देखा करेगी।'

कुमुद बोली, 'हाथ की नहीं, बुद्धि की। और अकेले इसकी नहीं आपकी भी, तैयार रहिए।'

गोविंदराम कुछ कहना चाहते थे, पर ना जान क्या सोचकर चुप हो गये। इतना ही कहा, 'उसका भी स्वागत होगा।'

जाने से पूर्व कुमुद ने आग्रहपूर्वक उन्हें घर आने का निमंत्रण दिया। जानकी ने सहर्ष उसे स्वीकार भी कर लिया। हां एक शर्त लगाई, 'तुम भी मेरे घर आओगी?'

'यह भी कहने की बात थी, मैं तो बिना बुलाये आक्रमण करनेवाली थी।'

जानकी जाते-जाते हँस पड़ी, 'तू वैसी की वैसी है युद्ध-प्रिय।'

घर आकर गोविंदराम ने कहा, 'ये उच्च वर्ग के लोग बनते बहुत हैं।'

'क्यों?' जानकी ने आशंका से पूछा।

'क्यों क्या! बुद्धि की नब्ज देखने चली हैं। उहूं।

उच्चवर्ग का गुमान है।'

जानकी एकदम बोल उठी, 'नहीं,-नहीं, आप उसे नहीं जानते, यह तो उसका स्वभाव है। नहीं तो वह...,'

'बड़ी भली है। उच्च वर्गवाले...,'

'चप करिए।' जानकी को सहसा क्रोध आ गया, बोली, 'मुझे उच्च वर्ग से क्या लेना-देना है। होंगे अपने घर के, और अब कौन पूछता है उच्च और हीन को ?'

जानकी को जब-जब क्रोध आता है, गोविंदराम तब-तब मौन रहने में ही कल्याण समझते हैं। इसलिए उत्तर में एक शब्द भी नहीं कहा। जानकी ने ही कहा, 'आप चाहते हैं कि मैं उसके घर न जाऊं।'

'जाइए, पर...।'

'पर क्या...बोलिए।'

गोविंदराम ने कहां, 'बोलना क्या है। श्रीमतीजी ! अपमानित होना हो तो जाइए।'

जानकी स्तब्ध रह गई। क्या मतलब है इनका ? जन-तंत्र में आज कौन किसका अपमान कर सकेगा ? और कुमुद, वह किसीका अपमान करेगी ? उसकी प्रखरता से शायद इन्हें ईर्ष्या हो गई है। हाय रे पुरुष ! नारी की मेधा को सह नहीं सकता। यह सोचकर वह मन-ही-मन मुस्कराई। निमिषमात्र में सारा रोष घुल गया। हँसती हुई बोली, 'जान पड़ता है, मेरी सखी ने आपको चोट पहुंचाई है। कोई बात नहीं, मैं उसकी ओर से क्षमा मांगे लेती हूं, पर कहे देती हूं, अगर इस तरह नारियों से ईर्ष्या करने लगे तो आकाशवाणी में कैसे होगा . . .

इस बार गोविंदराम के भी स्तब्ध रहने की बारी थी। तीव्र उत्तर मूंह पर आते-अते रह गया। उससे तो दोष और भी प्रमाणित हो जायगा, इसीलिए मुस्कराकर कहा 'आपकी चेतावनी के लिए धन्यवाद। ध्यान रखूंगा और मुझे आशा है कि तुम्हारे रहते मुझे किसीसे ईर्ष्या करने का अवसर न आयगा।'

अनजाने ही यह मुंह से निकल गया। जानकी कृतज्ञ हो आई। बोली, 'धन्यवाद। मुझे आपपर विश्वास है।'

बात कहां से शुरू होकर कहां जाकर रुकी। अच्छा हुआ कि मानसिक दुर्घटना होते-होते रह गई। और जो कुछ कड़ुवाहट शेष थी, वह दूर कर दी स्वयं कुमुद ने। तीसरे दिन सवेरे-सवेरे आ धमकी। जानकी चाय लगा रही थी। विस्मित-सी दौड़ी आई।

'तुम !'

'हां, कुछ बदल गई हूं क्या ? कहा था न बिना बुलाये आक्रमण करूंगी। चाय-वाय है ?'

'हां, हां; आ तो सही।'

चाय देखकर मुस्करा उठी, 'तो अनुमान ठीक था। अरे जीजाजी हैं। नमस्ते।'

'नमस्ते। अच्छी हैं।'

'खूब, देख नहीं रहे ! हां, फिर शायद भूल जाऊं, आप दोनों को आज संध्या का भोजन हमारे साथ करना है। सात बजे से दस बजे तक, जब भी सुभीता हो। जानकी पांच बजे से पहले-पहले ही पहुंच जायगी। सुन लिया, अच्छा अब चाय पी जाय।' जानकी खूब हँसी और जब तक कुमुद बोलती रही तबतक कनखियों से अपने पति को देखती रही। चाय पीते-पीते कुमुद ने आकाशवाणी के कार्यक्रमों के बारे में कुछ टिप्पणियां कीं, और . . .

सहसा गोविंदराम ने कहा, "आप कुछ लिखेंगी ?"

'लिख सकूंगी यह तो नहीं जानती, पर आप देख रहे हैं, बोल अवश्य सकूंगी।'

'देख तो रहा हूं, पर उसके लिए भी परीक्षा देनी होगी। कभी आइए।'

'छह बार जा चुकी हूं, पर वे हैं कि . . .।'

कुछ कहना चाहती थी, पर उठ खड़ी हुई, 'क्या करूं अभी यूनिवर्सिटी पहुंचना है ! किसी दिन आफिस में मिलूंगी और इस बार हम दोनों साथ-साथ परीक्षा देंगी।' और फिर जिस तरह वह आई थी उसी तरह लौट गई। मानो चंचल हवा का एक तेज झोंका आया और तीव्र सुगंध छोड़कर चला गया।

कई क्षण दोनों मौन उस गंध से आक्रान्त बैठे रहे। फिर जानकी ने कहा, 'अब तो चली जाऊं ?'

गोविंदराम कहीं खोये हुए थे। प्याला ठक से रखकर बोले 'हूं. . .क्या कहा ?'

'मैं कहती हूं अब तो विश्वास हुआ कुमुद पर . . .।'

गोविंदराम मुस्करा उठे, बोले, 'बात कुमुद की नहीं है। जानकी ! पर, खैर छोड़ो इन बातों को। मैं तो इनके

पिता को जानता नहीं। परिचय करा देना।'

जानकी हंस पड़ी, 'तुमसे मिलकर वह बड़े प्रसन्न होंगे।'

'क्यों?'

'क्योंकि तुम अफसर हो।'

एकाएक गोविंदराम का मुख विवर्ण हो आया। दीर्घ निश्वास खींचकर कहा, 'यही तो मिथ्या है। प्रसन्न होने का कारण पद है, मैं नहीं।'

क्षण मात्र के लिये जानकी बिचलित हुई, 'तो न जाऊँ।'

'नहीं-नहीं, मैंने यह तो नहीं कहा।'

'तुम बड़े शक्की हो।'

'शुक्र है ईर्ष्यालु नहीं कहा। अच्छा, मैं चला। वहां पहुँचकर मुझे फोन कर देना।'

× × ×

उस दिन सहसा ऐसी झड़ी लगी कि सब कहीं जलमय हो उठा। वातावरण में न कहीं ताप था न कहीं धूल, सब कहीं स्वच्छ, सलौना छायामय। पर मार्ग पर सभ्यता की रेल-पेल के कारण कीचड़ मची थी। उसीसे बचती-बचाती जानकी ठीक समय पर कुमुद के घर पहुंच गई। कुमुद ने देखा तो दौड़कर बाहर आई, 'मैं तो डर रही थी, वर्षा रुकने का नाम ही नहीं लेती।'

'वर्षा नहीं रुकती, तो मैं क्यों रुकती?'

कुमुद खिलखिला पड़ी, 'लाडो को बोलना आ गया है।'

जानकी फिर बोली, 'अब भी न आयगा। वर्षा में तो पत्थर भी बोल उठते हैं।'

'वर्षा में या विवाह में?'

'एक ही बात है।'

'यानी विवाह जीवन की बरसात है।'

'अब छोड़ इन बातों को। तू क्या समझेगी। तू तो बस पुस्तकों में खोई रहती है। देख तो कितने बड़े-बड़े पोथे रखे हैं।'

'तेरा मन करता है पढ़ने को?'

'ना बहना, अब इस दिमागी दुनिया में कौन लौटे। दिल की दुनिया से ही छुट्टी नहीं मिलती। हां, तुम्हें याद है, वह सत्तो थी न हमारे साथ। अरी, वही जिसका बाप जूते गांठता था,। फिलोसफी में एम. ए. कर लिया उसने और एक वकील से विवाह हो गया है और अब वह डिप्टी मिनिस्टर है।'

'हाय राम! तब तो वह बुद्धू थी।'

'और क्या, सब बुद्धो कहते थे।'

'अब तो शायद मिलेगी भी नहीं।'

'किस बात पर, मिनिस्ट्री तो 'चार दिन की चांदनी फिर अंधेरी रात।' और वह शीला थी न पण्डित जगतराम की बेटी।'

'हां, हां वह मेधावी लड़की, हमेशा प्रथम आती थी।'

'अब तीन बच्चों की मां है।'

'सच! पतिदेव क्या करते हैं?'

'जी० एच० क्यू में किरानी हैं।'

'बस।'

'हां, और वह सुरैया थी न?'

'सुरैया. . . . . वह खूबसूरत लड़की।'

'हां-हां वही जिसे हम चांदनी कहते थे। बेचारी चल बसी।'

'हाय राम! इतनी जल्दी! हाय, क्या हुआ था उसे?'

'मरा बच्चा।'

एकाएक कुमुद का मन भीग गया। रुंधे कण्ठ से कहा, 'चांद का टुकड़ा थी, हमेशा मुस्कराती रहती।'

'बड़ी गरीब थी। गरीबी उसे खा गई। ठीक इलाज न हो सका। दो बच्चे छोड़े हैं।'

और देर तक दोनों सखियां सुख-दुख की इस अंतहीन चर्चा में उलझी रहीं। फिर जानकी ने कहा, "अच्छा कुमुद! तुम्हारा मन नहीं करता?'

'काहे को री?'

'रहने दे, जैसे शादी को जानती ही नहीं।'

कुमुद चिहुंक पड़ी, 'करता है, फिर?'

'फिर शादी कर ले'

'मन करे तो शादी कर लूं। ऊंहूं . . . . . .जानकी! मन जिस काम को कहे वह क्या सभी किया जाता है?'

जानकी को यह दार्शनिकता अच्छी नहीं लगी। बोली 'कुमुद! नारी को तो विवाह करना ही होता है।'

'न करे तो?'

'यह कैसे हो सकता है?'

सहसा तभी बाहर शोर उठा और दूसरे ही क्षण विभिन्न आयु के कई गोरे-सलोने बालक अंदर घुस आये। जानकी उनमें उलझी तो बस उलझकर रह गई। गोल-मटोल वीनू बड़ा चंचल था। कुमुद ने पूछा, 'यह कौन है ?'

'जीजी ?।'

'जीजी। नहीं, जीजी तो हमारे लिए खिलौने लाती हैं।'

जानकी तुरंत बोली, 'खिलौने मंगवाये हैं, आते ही होंगे। हमारे पास आओ।'

'नहीं, हम नहीं आते।'

'क्यों ?'

'पैसे दो ?'

जानकी ने बटुआ उठाया था कि मोना पास आ गई। एक क्षण देखती रही, फिर बोली, 'तुम हरिजन हो ?'

बटुआ हाथ से छूटते-छूटते रह गया। जानकी संभल गई। कुमुद ने डांटा, 'चल कलमुही।'

जानकी बोली, 'न, न, डांटो मत। हां, मोना बेटी, हम हरिजन हैं चमार।'

'नहीं,-नहीं', कुमुद ने चीखकर कहा, 'यह क्या बता रही हो ?'

'जो सच है।'

और जानकी तीव्रता से हँस पड़ी। कुमुद का रंग पांडुरंग हो आया। हँसी न जाने कहां तिरोहित हो गई। बोली, 'सच क्या है, यह कौन जानता है ?'

'अच्छा, अच्छा, फिर दर्शन बघारने लगी। अम्मा से न मिलायेगी ?'

'अरे हां, वह तो भूल ही गई', कुमुद ने कहा। अब तो वह रसोई में चली गईं। खाना उन्हें अपने हाथ से बनाना अच्छा लगता है। मैं बुलाती हूं।'

जानकी उठ खड़ी हुई। 'नहीं, नहीं, मैं वहीं चलती हूं। मुझे जाना चाहिए था।'

कुमुद ने उसके कंधे पकड़कर जोर से बिठाते हुए कहा, 'अरे, बैठ भी, मैं' . . . .

जानकी क्या इस जोर आजमाई से माननेवाली थी, 'ऊंहूं ! बैठकर क्या होगा ? रसोई में कुछ मदद करूंगी। तू तो बस मेमसाहब बन गई है . . .'

कुमुद को एकाएक हँसी आते-आते रुक गई, किंचित उद्विग्न होकर उसने कहा. . .

पर सुनने को जानकी वहां नहीं थी। वह तीव्र गति से कमरे से निकली चली गई। देखा, आंगन के उस पार जो पक्की रसोई है उसीमें कुमुद की मां बैठी कढ़ाई में कुछ तल रही है। पास दूसरी अंगीठी पर सब्जी पक रही है, जिसकी सौंधी-सौंधी सुगंध चारों ओर फैली है। सब कहीं स्वच्छता, सबकहीं सुरुचि, सुघड़ता ! क्षणमात्र में जानकी ने सबकुछ देख डाला और फिर मधुर कंठ से बोली, 'अम्माजी, नमस्ते।'

कहते-कहते वह चरण छूने के लिए झुकी। परंतु उसी क्षण जैसे भूकंप आ गया। अम्माजी एकदम उठ खड़ी हुईं। हाथ से कौंचा छूटकर कढ़ाई में जा गिरा और उठने में वह स्वयं कढ़ाई से टकरा गई, ठेस लगी, वह उलट गई और तपता हुआ घी चारों ओर बिखर गया। दूसरे ही क्षण एक चीख के साथ वह एक ओर लुढ़क गई। जानकी तब-तक शून्य में डूब चुकी थी। चीख सुनकर बाहर के लोग दौड़े आये। निमिषमात्र में एक कोहराम मच गया।

× × ×

जानकी बच्चों की तरह रो रही थी। रुकती ही नहीं थी। हतबुद्धि कुमुद ने उसे बहुत समझाया। उसकी आंखों पर अपना मुख रखकर उसे प्यार से थपकियां देती हुई बोली, 'जानकी ! मेरी अच्छी जानकी ! मेरी प्यारी बहन, अब चुप होजा होजा। देख तो . . .

उसके नेत्र बंद थे। उसका मुख जानकी के आंसुओं से जल रहा था। उसकी वेदना ने जानकी को छुआ। सुबकते-सुबकते उसने कहा, 'मैं वहां क्यों गई ? आखिर मैं वहां क्यों गई ? मैंने समझा क्यों नहीं . . . .

कुमुद ने उसके गले में बाहें डालकर उसे छाती में भर लिया, बोली, 'बस अब एक शब्द नहीं। अम्माजी को कुछ नहीं हुआ। एक पैर जल गया है। तुझ मेरी सौगंध। तू उस बात को भूल जा। तू मेरी बहन है न ?'

प्यार की इन मनुहारों से जानकी धीरे-धीरे शांत होने लगी, परंतु उसका हृदय विदीर्ण हो चुका था। वह वहां से भाग जाना चाहती थी। 'ओह, वह अपने स्वामी से क्या

(शेष पृष्ठ ४५४ पर)

अस्पृश्य यह ?

वियोगी हरि

"अछूत ! अछूत ! !"

"हैं ! अछूत यह ?"

"हां, हां यही काला-कलूटा आदमी, जो सामने खड़ा है, यही ।"

"इसे, इस गरीब आदमी को अछूत मान लेने का फैसला तुम्हें किस न्यायालय से मिला है ? तुम्हें यह निर्णय किस निर्णायक ने प्रदान किया है ?"

"आदेश ! फैसला ! निर्णय ! ! तुम्हें यह सब पूछने का अधिकार ?"

"हो सकता है कि तुमने कभी दिवा-स्वप्न में किसी न्यायाधीश, अथवा किसी निर्णायक की प्रतिच्छाया देखी हो । पर, सावधान ! वह न्यायाधीश नहीं, शैतान का कोई वंचक वकील रहा होगा; निर्णायक नहीं, अधःपतन का पांसा फेंकनेवाला कोई कुशल जुवारी होगा वह । सावधान ! वह न्यायालय नहीं, कोई माया-मंदिर होगा; वह निर्णय-निकेतन नहीं, कोई गोलमाल का अड्डा होगा ।"

"निरे निरक्षर हो, सुधारक ! धर्मशास्त्र के एक भी सूत्र पर मनन किया होता, तो ऐसी ऊटपटांग बात न बकते फिरते ।"

"सुनो, सुनो । सच तो यह है कि क्रिया के साथ ही प्रतिक्रिया की प्राण-प्रतिष्ठा हो जाया करती है । पर, तुम लोग इस महासूत्र से नितांत अनभिज्ञ हो । इस व्यावहारिक सिद्धांत पर तुमने यदि तनिक भी दिमाग खर्च किया होता, तो आज विश्व के 'स्वातंत्र्य-सदन' से तुम्हारा और तुम्हारे समाज का बहिष्कार क्यों किया जाता ? तुम्हीं बताओ मानव-समाज में आज तुम स्पृश्य हो या अस्पृश्य ? फिर समाज के चित्रपट पर केवल इसे ही क्यों काली रेखाओं से अंकित किया है तुमने ।"

"क्योंकि यह जन्म से ही अस्पृश्य है। हमारी बराबरी यह कैसे कर सकता है ? संसार में यदि कहीं स्वच्छता, उज्ज्वलता और उच्चता है, तो वह हमारे सवर्ण-समाज में ही है, अन्यत्र कहीं नहीं ।"

"इसी दंभाचार को स्वच्छता, उज्ज्वलता और उच्चता कहते हो ? अंतरात्मा के दर्पण में तनिक अपना रूप तो निहारो कितनी मलिनता भरी पड़ी है वहां ! छिद्रान्वेषण का काजल आंजते-आंजते तुम्हारे नेत्र निष्प्रभ हो चुके हैं, फिर भी तुम्हें उनके विकृत सौंदर्य पर, शायद अब भी, गर्व है !"

कमल के-जैसा प्रफुल्लित रहता था तुम्हारा मुख । सहृदयता का वह पराग ही कुछ और था । आज तुम्हारी वह स्वर्ण-कांति कहां चली गई ।

तुम्हारी कांचनवर्ण काया द्वेषाग्नि से झुलस गई है । यह झुर्रियां दूसरों पर व्यर्थ घृणा करते-करते पड़ गई हैं । विचार-संकीर्णता ने तुम्हारे शुभ्र और उन्नत अंगों को निर्बल और जर्जरित कर दिया है ।

भले ही तुम नख से शिख तक दंभ का इत्र पोते रहो, पर चिरदुर्गंध की यह विषाक्त लहर, एक-न-एक दिन, तुम्हारे अंतस्तल में व्याप्त होकर ही रहेगी । इस मूक मानवप्राणी का अभिशाप तुम्हें उच्चता के विमान से गिराकर रसातल में फेंक देगा ।"

"इस अस्पृश्य का अभिशाप ! तब तो यह विश्वामित्र और दुर्वासा से भी आगे बढ़ गया ।"

"इसमें संदेह क्या ! पर कुछ भी हो, तुम तो अपनी पुरानी ही लकीर पीटते जाना । भूलकर भी मिथ्याचारों से मुख न मोड़ना, क्योंकि इन्हीं ढोंगों की बदौलत तो तुम उच्च और लब्धप्रतिष्ठ बन बैठ हो । मूर्ख तो यही अभागा प्राणी है । इसीसे तो इसका अमल अंग अस्पृश्यता के आभूषणों से अलंकृत किया गया है । इस मूढ़ ने व्यर्थ ही कपट के साथ वैर बिसाह लिया । सदाचरण को अकारण ही इसने अपना सुहृद बनाया । पुरस्कार की उपेक्षा कर समाज-सेवा को योंही युग-युग से यह अपनाये बैठा है । शाब्दिक आस्तिक भी तो यह नहीं । और हिसाब-किताब में भी एकदम कोरा । यही कारण है कि धर्म-विधानों का यह जबानी जमा-खर्च नहीं रख सकता । और अब भी, मनुष्योचित भावनाओं का यह अपव्यय किया करता है ।

तुम्हारे श्रीपाद-पद्म-समीपेषु रहते हुए भी इस कुंदजहन ने सनातन समाजव्यापी स्वार्थवाद का अध्ययन नहीं किया। तभी तो आज तिरस्कृत और पद-दलित अवस्था में यह मारा-मारा फिर रहा है।"

"कहते चलो। सुन रहा हूं।"

"इस दुर्बुद्धि ने व्यर्थ ही पसीना बहा-बहाकर, जीवन-भर, सूखी-रूखी रोटियों से अपना पेट भरा। धर्म-धुरंधरता की कला में यदि यह पारंगत होता, तो आज यह भी तुम्हारी ही भांति, सब-कुछ करता हुआ भी "पदमपत्रमिवाम्भसा" निर्लेप रहता! निर्बल निराश्रय जो ठहरा। तुम्हारे ब्रह्मास्त्र का सामना कैसे कर सकता था? धर्मशास्त्र तुम्हारा, व्यवस्था तुम्हारी, आचार्यता तुम्हारी और वेदोक्त परमेश्वर भी तुम्हारा। इस एकाधिकार से निस्संदेह तुम मन-ही-मन फूले न समाते होगे। और चाहे जो करो, पर याद रखो ईश्वरीय विधान और न्याय-नीति के तुम्हीं एकमात्र ठकेदार नहीं हो। क्या सोच रहे हो?"

"धोखा! धोखा!!"

"कैसा?"

"अंतस्तल के स्फटिक-मंदिर में देख रहा हूं। धोखा! इन पद-दलित अछूतों को मेरा अंतरात्मा विश्वात्म किस प्रकार स्नेहपूर्वक आलिंगन दे रहा है। इतने दिनों बाद कहीं आज मेरी अंतर की आंखें खुलीं!"

"अब तो न कभी इसे अस्पृश्य कहोगे?"

"कभी नहीं, कभी नहीं।"

(पृष्ठ ४५२ का शेष)

कहेगी। कैसे विश्वास दिलायगी?'

सहसा कुमुद ने उसे खींचकर अपने सामने कर लिया। उसकी आंखों में अपनी आंखों डालकर एकटक ताकती हुई बोली, 'देख मेरी लाज तेरे हाथों में है। तू जानती है कि यह संस्कार की बात है, नहीं तो...'

जानकी ने क्षणभर कुछ नहीं कहा। उतनी देर कुमुद सजलनयन उसे देखती ही रही। तब जानकी ने सहज शांत स्वर में कहा, 'जानती हूं तू चिंता मत कर।'

'तो हँस।'

'...'

'हँस मेरी प्यारी बहिन! मेरे लिए हँस...।'

जानकी हँस पड़ी। कुमुद भी हँस पड़ी। बादल जैसे छटने लगे।

तभी कुमुद के पिता ने वहां प्रवेश किया। साथ में गोविंदराम भी थे। मुस्कराकर बोले, 'कुमुद! तुम्हारी मां ठीक है। पर आज शायद वहीं रहे। कहलवाया है कि खाना खाकर मुझसे मिलते हुए जाय।'

●

हिन्दुस्तान में कई गुण हैं, परंतु कुछ गुणों का विकास होना अभी बाकी है, जैसे, यहां जो सत्त्वगुणी लोग होते हैं, वे समाज से अलग रहना चाहते हैं और समाज में प्रत्यक्ष जो काम करता है, वह रजोगुण होता है। इसलिए सत्त्व-गुणियों को जरा हिम्मत करनी चाहिए और समाज में आना चाहिए। वे कहते हैं कि समाज में दंगे चलते हैं, कौन पड़े बीच में! परंतु इसीसे सत्त्वगुण में कायरता आ गई है। यह तमोगुण है तथा आज जो सत्त्वगुण है, वह तमोगुण और सत्त्वगुण का मिश्रण है। इस मिश्रण से तमोगुण को हमको हटाना होगा, तभी सत्त्वगुण शुद्ध होगा।

सात्त्विक लोगों को एकांत छोड़ना चाहिए और बाजार में आना चाहिए। जबतक धर्म बाजार में नहीं आयगा और मंदिर, मठ, मस्जिद में ही कैद रहेगा, तबतक धर्म की शक्ति नहीं बनेगी। इधर तो दान-धर्म चलता है, पर बाजार में धोखाधड़ी चलती है! धर्म डरपोक बनकर मंदिर में बैठा रहता है। अब उसको आक्रमण करना चाहिए याने बाजार में, व्यवहार में, राजनीति में धर्म चलना चाहिए और वैसे सेवक भी तैयार होने चाहिए।

--विनोबा

●

वयस्क शिक्षा का उद्देश्य

अवनींद्रकुमार विद्यालंकार

भारत में वयस्क शिक्षा से, साधारणतः यही मतलब समझा जाता है कि निरक्षरों को साक्षर बनाना। इसका एक कारण है। भारत में ८० प्रतिशत आज भी निरक्षर हैं। लोकतंत्र की प्रतिष्ठा उसकी दृढ़ता और उसकी व्यापकता साक्षरता पर निर्भर है। ज्ञानवान मताधिकार ही लोकतंत्र की दृढ़ स्थापना कर सकता है। इस कारण वयस्क शिक्षा का महत्त्व इस देश के लिए बहुत अधिक है। परंतु वयस्क शिक्षा का उद्देश्य, एकमात्र यही नहीं है।

अमरीका-जैसे देशों में भी जहां लगभग शत प्रतिशत लोग साक्षर हैं, वयस्क शिक्षा की आवश्यकता अनुभव की जाती है और इसका देशभर में व्यापक संगठन है। इसका उद्देश्य है स्कूल-कालेज में प्राप्त भूले ज्ञान को पुनः प्राप्त करना, स्कूल और कालेज छोड़ने के बाद प्रत्येक विषय में जो नई खोजें हुई हैं, उनसे परिचय प्राप्त करना, और दिनभर की थकान दूर करने के लिए आवश्यक उल्लास और प्रसन्नता प्राप्त करना। इसके साथ यह भी जोड़ना चाहिए कि कलाओं का ज्ञान प्राप्त करना, नये विषयों का ज्ञान प्राप्त करना और अपने शौक के विषयों को सीखना।

इससे प्रकट है कि वयस्क शिक्षा का उद्देश्य कितना व्यापक है और इसका रूप कितना विविध है। अमरीका जैसे औद्योगिक देश में वयस्क शिक्षा में खेलों का सिखाना भी सम्मिलित है। इसके विपरीत भारत में वयस्क शिक्षा का रूप एक ही है। इसका रूप एकांगी है। क्या इसकी विफलता का कारण इसका एकांगी होना नहीं है।

वयस्क पुरुष को 'अ आ इ ई' का ज्ञान देना सरल है, यह मानते हुए भी देखा गया है कि उसको वर्णमाला सिखाना सरल नहीं है। इसका कारण यह है कि वर्णमाला सीखनेवाले के मन में इसके प्रति कोई विशेष अनुराग नहीं होता। वह पढ़ने आता है, पर उसका उसमें मन नहीं होता। वह पढ़ने आता है तो बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होकर, अंतःप्रेरणा से नहीं। यही कारण है, वयस्क शिक्षा का प्रसार उस तेजी से नहीं हो रहा है, जिस गति से हम चाहते हैं। भारत में वयस्क शिक्षा का प्रोग्राम अभी तक सफल नहीं हुआ, क्योंकि उसके प्रति आम जनता में हम उत्साह आरंभ नहीं कर सके हैं। इसका कारण क्या है?

भारत के वयस्क लोगों में अनुराग और उत्साह का अभाव नहीं है। नई चीज सीखने के प्रति अभिरुचि का भी अभाव नहीं है। परंतु उसको यह मालूम होना चाहिए कि इसका उसको तुरन्त फल मिलेगा। भारत आज भी कृषि-प्रधान देश है। ७५ से ८० प्रतिशत लोग गांवों में बसे हुए हैं। ७० प्रतिशत की आजीवका का आधार खेती है। अतः यदि उसकी शिक्षा खेती की पैदावार बढ़ाने में मदद नहीं देती, यदि उसकी आय बड़ाने में वह सहायक नहीं होती, तो फिर वह दिनभर का थका-मांदा होते हुए रात्रि पाठशाला में नियमपूर्वक क्यों जाय।

छोटे बच्चों की प्राथमिक शिक्षा के लिए 'बुनियादी तालीम' की योजना बनाई गई है। इस शिक्षा-प्रणाली का मूल सिद्धांत है कि किसी उद्योग व धंधे के माध्यम से शिक्षा देना। पुस्तक की जगह धंधे के माध्यम से शिक्षा का उद्देश्य यह है कि बालक के मन पर अनावश्यक भार न पड़े और वह अपनी रुचि के धंधे के माध्यम से आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर ले। किंतु वयस्कों को शिक्षा देते हुए इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता कि वयस्क लोग जो धंधा करते हैं, उस धंधे द्वारा उनको शिक्षा देना अधिक सरल है और आसान है। यदि इस सत्य को स्वीकार किया जाता तो वयस्कों के हाथ में १ पैसे या १ आना की वर्णमाला की किताब पहले ही दिन न दी जाती।

यह ठीक है कि कुछ लोगों ने तुलसी रामायण पढ़ने की इच्छा से बुढ़ापे में भी वर्णमाला सीखने के प्रति उत्साह दिखाया है। इस वर्ग में नर-नारी दोनों हैं। किंतु इस प्रसंग में इस बात को भुला दिया गया कि रामायण पढ़ने की इच्छा को जागृत किसने किया। साक्षरता प्रसार के लिए रेडियो, मैजिक लालटेन, और सिनेमा का उपयोग करना चाहिए, यद्यपि इनका उपयोग अभी बहुत कम मात्रा में किया गया है, यह माना जाता है। परंतु साक्षरता-प्रसार

में, सामूहिक जन-जागृति में, कथावाचक और नौटंकी भी एक बड़ा भाग ले सकते हैं, इसका कभी खयाल नहीं किया गया। इस बात को भुला दिया गया कि भारतीय गांवों में यदि आज भी संस्कृति के चिन्ह विद्यमान है, यदि आज भी निरक्षर भारतीय भारत की प्राचीन कथाओं से परिचित हैं, यदि आज भी पौराणिक उपाख्यानों, व्रतों की कथाओं का और भारतीय इतिहास की मूल बातें उनको ज्ञात है, तो इसका श्रेय कथावाचकों और लीलाओं को है। रंगमंच—आभिजात्य लोगों के रंगमंच—का अभाव भले ही हो, पर गांवों में रंगमंच का अभाव नहीं है। किंतु हमने इन प्राचीन साधनों का उपयोग नहीं किया। यदि इनके जरिये साक्षरता का प्रसार किया जाता तो लोगों को उसको अपनाने में कठिनाई न होती। महाभारत और रामायण की कथा के साथ-साथ अक्षर-ज्ञान कराया जाता तो आज हम जो अवस्था पाते हैं. व्यापक रूप से निरक्षरता फैली हुई है, वह दिखाई न देती।

गांवों में जो लोग कभी रहे हैं, वे जानते हैं कि सायंकाल प्रायः वहां रामायण-पाठ होता ह। इसमें गांव वाले उत्साह से भाग लेते हैं। चौपाइयां भी सस्वर दुहराते हैं। परंतु यह कभी नहीं सोचा गया कि श्रोताओं के मन में यह बात भी पैदा की जाय कि वे अक्षर-ज्ञान प्राप्त कर, स्वयं भी इसको अपने घर में, आराम के समय पढ़ सकते हैं और इसका आनंद उठा सकते हैं। यही बात आल्हा, भक्त प्रहलाद की कथा, भक्त ध्रुव की कथा के बारे में समझनी चाहिए। विटामिनों का ज्ञान देना आवश्यक है, उपयोगी है, परंतु क्या उसके जीवन से उसका कोई ऐसा प्रत्यक्ष संबंध है, जिससे वह उसके प्रति उत्सुकता पैदा करे। कितने आहार-शास्त्री ही अपने घर में संतुलित आहार करते हैं। इस अवस्था में देहातों के लिए सर्वथा एक नया विचार प्रारंभ में ही वयस्क पुरुष को देने का कोई लाभ है? क्या इससे उसकी जिज्ञासा वृत्ति जागृत हो सकती है? उसमें कौतुकता का भाव उत्पन्न हो सकता है? जबतक मन में कौतुकता और जिज्ञासा-वृत्ति उत्पन्न न होगी, तब तक क्या देहाती समाज में शिक्षा प्राप्त करने के लिए नया उत्साह उत्पन्न हो सकता है?

बयस्क शिक्षा में मनोरंजन और खेलों का भी स्थान है, इसको अभी तक इस देश में अनुभव नहीं किया गया। खेल के बाद थके व्यक्ति को केवल नींद की ही जरूरत नहीं है, अपितु मानसिक मनोरंजन और हार्दिक उल्लास की भी आवश्यकता है। वयस्क पुरुष को भी खेलने की जरूरत है। गांवों में आज भी ऐसे खेल हैं जिनमें बड़े लोग भी भाग ले सकते हैं। खेल के साथ-साथ बच्चों के समान बड़े-बूढ़ों को भी पढ़ाना चाहिए। यह आज अनुभव करने की आवश्यकता है। पढ़नेवाले यह अनुभव करें कि उनपर ज्ञान थोपा नहीं जा रहा है, बल्कि वे स्वतः अपने आप अनायास उसे प्राप्त कर रहे हैं और यह उनके जीवन के लिए उपयोगी है।

कहते हैं कि गिनती गिनने का ज्ञान पुरुष न पहले-पहल वन में वृक्षों से प्राप्त किया। जंगल में वह राह न भटक जाय, इस विचार से वह पेड़ों पर निशान लगा देता था, सब वृक्षों पर एक ही चिन्ह लगा देने से भी आगे भटक जाने का भय था। फलतः उसने भिन्न-भिन्न निशान बनाये। इस प्रकार उसने गिनना सीखा। यदि आदि मानव गिनती का इस रीति से आविष्कार करने में समर्थ हुआ, तो क्या आज का वयस्क पुरुष गांव में उगे या उगाये जानेवाले पेड़ों के सहारे पहाड़े और साधारण गणित, घरेलू गणित का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता? किंतु शिक्षा-शास्त्रियों ने कभी इस बात की आवश्यकता अनुभव नहीं की कि छोटे बालक और बालिका के समान ही वयस्क का भी मन है और वह उसीके समान अविकसित है। यही कारण है कि १९३७ में बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों, महान नेताओं और मंत्रियों के आशीर्वाद के साथ आरंभ किया गया साक्षरता-आंदोलन भी उत्तर प्रदेश में सफल नहीं हुआ और किताब, पेंसिल, सलेट आदि मुफ्त देने पर भी उस आंदोलन में वेग और बल नहीं आया। किंतु इसकी विफलता के कारणों को कभी जानने की कोशिश नहीं की गई।

किसान स्वभाव से दूरदर्शी नहीं होता। वह स्वभाव से साहसी भी नहीं होता। नये काम करने की ओर वह जल्दी प्रवृत्त नहीं होता। यदि वह किसी कार्य से तात्कालिक लाभ होते हुए देखता है, तो उसको करने के लिए जल्दी प्रवृत्त हो जाता है। देहात के आदमी की इस मानसिक प्रवृत्ति का वयस्क शिक्षा-प्रसार के आयोजकों ने कभी

अध्ययन करने की कोशिश नहीं की है। इसका ही यह फल है कि हरेक दशक पर जनगणना के समय साक्षरता-प्रसार में हम आशातीत प्रगति नहीं पाते।

फ्रेजर कमिटी ने अपनी रिपोर्ट में इस बात पर बहुत जोर दिया था कि प्राथमिक शिक्षा देहात और शहरों के बच्चों की एक किस्म की नहीं होनी चाहिए। इस सिफारिश का उपयोग वयस्कों की शिक्षा के लिए भी करना चाहिए। शहरों का वातावरण गांव से सर्वथा भिन्न होता है। अतः वयस्कों की शिक्षा की विधि भी दोनों की अलग-अलग होनी चाहिए। यदि देहात के लोगों को यह मालूम होगा कि गौ, बकरी, भेंड़ आदि इस ढंग से पालने से दूध अधिक पैदा होगा, बछड़ा, मेमना अधिक तंदुरुस्त होगा, और अधिक दाम पर विकेगा, तो वह उस ज्ञान को पाने के लिए उत्सुक होगा। चाणक्य का कहना है कि सब क्रियाओं का मूल अर्थ है। शिक्षा-प्रसार में इस सत्य की अवहेलना करने से काम नहीं चल सकता।

गांव और देहात में भी सब लोग एक ही प्रवृत्ति के नहीं होते। सबका हित भी अलग-अलग होता है। अतः खेती करनेवाले, शाक-सब्जी बोनेवाले, पशु पालनेवाले आदि को शिक्षा देने का माध्यम, तरीका और प्रकार भी अलग होना चाहिए। यदि बुनकर बुनाई के साथ साक्षर हो सके और उसके मन में यह प्रेरणा उत्पन्न हो सके कि बुनाई के नये तरीके से कम समय में अधिक कपड़ा बुन सकता है, और यह ज्ञान थोड़ा-सा प्रयत्न कर स्वतः प्राप्त कर सकता है, तो वह खुशी-खुशी कुछ कष्ट सहकर भी उसके लिए समय देने को तैयार हो जायगा।

देखा गया है कि साक्षर होने के बाद भी कुछ समय तक लोग पहले की तरह निरक्षर हो जाते हैं। इसका कारण क्या है? साक्षरता को अपने-आपमें उद्देश्य मान लिया गया है। यह नहीं समझा जाता कि वयस्क शिक्षा का साक्षरता प्रारंभ मात्र है। इसका उद्देश्य है संपूर्ण समुत्थान के लिए आवश्यक जन-जागृति उत्पन्न करना और कर्मक्षमता बढ़ाने के लिए मानसिक क्षितिज को विस्तृत करना और ज्ञान-स्तर को ऊंचा करना। यह उद्देश्य सामने न होने के कारण अभी तक वयस्क शिक्षा के योग्य साहित्य उत्पन्न करने की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

यह ठीक है कि कथा-कहानी सबको प्रिय होती हैं। किंतु इसका लाभ सुनकर भी प्राप्त किया जा सकता है, यह न भूलना चाहिए। किंतु यदि बीज बोने, अच्छा बीज चुनकर उसका संग्रह करने, बीज की सुरक्षा कैसे की जाय, और कौन-सा बीज बोना चाहिए और यदि अपने पास न हो तो कहां-कहां से मिल सकता है, उसको किन अवस्थाओं में बोना चाहिए, आदि के विषय में छोटी और मोटे टाइप में किताब हो तो वह उस ओर आकृष्ट होगा। स्वभावतः इसका फल यह होगा कि वह साक्षर होने के बाद पुनः निरक्षर न होगा। साक्षर पुरुष पुनः निरक्षर न बन जाय, इस दिशा में अभी तक कोई काम नहीं हुआ है। अबतक जो हुआ है, उसका उद्देश्य यह नहीं रहा है कि वह जो चाहता है, वह उसको दिया जाय, बल्कि हम जो उसको देना चाहते हैं, वह देने की हमारी ओर से कोशिश की गई है। यह प्रयत्न बुरा नहीं है और इसको रोकने की भी आवश्यकता नहीं है किंतु इससे वास्तविक उद्देश्य पूरा न होगा। उसका हमारी बात जानने की ओर आकर्षण है, यह आवश्यक नहीं है। अतः उसके लिए साहित्य तो वह चाहिए जो वह चाहता है। उसके साथ हम अपनी बात भी उस तक पहुंचा सकते हैं। पर वह गौण उद्देश्य होना चाहिए।

वयस्क शिक्षा का उद्देश्य अक्षर-ज्ञान नहीं, बल्कि आम जनता का ज्ञान-स्तर ऊँचा करना होना चाहिए। जब इस उद्देश्य से वयस्क शिक्षा का आयोजन किया जायगा, तब हमारा दृष्टिकोण भी बदल जायगा, और वयस्क शिक्षा स्कूली और विश्व-विद्यालय-शिक्षा के समान आवश्यक मानी जायगी। निरक्षर ही नहीं, साक्षर और विद्वान भी अपने ज्ञान की अपूर्णता को पूरा करने के लिए इसमें भाग लेंगे। यह शिक्षा समाज के जीवन का अंग होगी और इसका कभी अंत न होगा। जीवनभर व्यक्ति को अध्ययन करने की जरूरत बनी रहती है। इस जरूरत को यदि वयस्क शिक्षा पूरी करेगी तो उसकी, उपयोगिता भी बढ़ जायगी और हमारे देश के जन-मानस का ज्ञान-स्तर भी ऊँचा होगा। इसलिए वयस्क शिक्षा के संबंध में हमें अपना दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है।

●

बालक, जिज्ञासा और नवीनता

राधाबाई भाटे

एक शनिवार की बात है। उस दिन बालवाड़ी के बालकों को प्राकृतिक सौंदर्य दिखलाने का कार्यक्रम था। प्रातःकाल का समय था। लगभग ८। बजें होंगे। सभी बालक अपना-अपना सामान संभालने और उठाने में जुटे हुए थे। कोई झंडा हाथ में ले रहा था, कोई बाल्टी, तो कोई गिलास। इस प्रकार वे एक दूसरे से हिल-मिल रहे थे। इससे उन्हें एक कतार में खड़ा रखने में कठिनाई हो रही थी।

इसी समय एक बालिका चिल्लाती और दौड़ती हुई वहां आई। आते ही वह मेरे पास खड़ी हो गई। फिर बोली—"बाईजी ! मैं भी तुम्हारे साथ चलूंगी।" मैंने उससे कहा—"क्या तुम घर पर यह कहकर आई हो कि मैं बाईजी के साथ जा रही हूं। यदि कहकर और पूछकर न आई हो, तो अब जाकर पूछ आओ।"

दूसरे बालक 'महात्मा गांधी की जय' 'माता कस्तूरबा की जय' आदि जय-जयकार करते हुए पास के जगाना नामक गांव के रास्ते पर चल पड़े। जब हम काफी दूर निकल गये, तो वह बालिका भी बिना घरवालों के पूछे ही हमारी टोली में आकर सम्मिलित हो गई। वह भी बड़े उत्साह के साथ जय-जय के नारे लगाती हुई दूसरे बालकों की पंक्ति में कदम-से-कदम मिलाकर चलने लगी।

जगाना गांव में जाकर हमने वहां के पटेल से बातचीत की। गांव के बालकों को एकत्र किया। सब बालक बड़े आनंद और उत्साह के साथ हमारे पास जमा हो गये। ग्रामवासियों को भी बुलाया गया। इसके बाद हमने अपना कार्यक्रम चालू कर दिया। सबसे पहले बालकों का परस्पर परिचय कराया गया। सब बालक मिलकर आपस में एक-दूसरे का नाम पूछने लगे। इसी समय वह बालिका एकदम बोल उठी—"बाईजी, मैंने अपने मामाजी से कहा था, कि मैं बालवाड़ीवाली बाईजी के साथ जा रही हूं। इसपर मामाजी ने कहा—'अरे-अरे, तू उस बालवाड़ी में अपनेको अभडाने (छुलाने, अपवित्र या भ्रष्ट करने) के लिए क्यों जाती है ? तो क्या बाईजी, मामाजी की यह बात सच है ? आप मुझे अभड़ाना मत !"

उस बालिका की यह बात सुनकर मैं मन-ही-मन बहुत दुखी हुई। वास्तव में बालक कितना भोला होता है ! उसका हृदय कितना सरल और स्वच्छ होता है।

हमारा कार्यक्रम समाप्त हो जाने पर नास्ते का काम आरंभ हुआ। सभी जातियों के बालक एक ही पंक्ति में पास-पास बैठ गये। नाश्ते के लिए बाल्टी में जुआर और गेहूं के फूले (धानी) रखे हुए थे। मैंने सब बालकों से शांतिपूर्वक बैठने को कहा। सब बालकों ने शांति धारण कर ली, परन्तु इसी समय वह बालिका एकाएक उठ खड़ी हुई और बोली—"बाई जी, मैं ये फूले नहीं खाऊंगी। मुझे मामा जी मारेंगे।" मैंने कहा—"ये तो सूखे अनाज के फूले हैं। तुझे मामाजी नहीं मारेंगे। आ, यहां आ। मैं तेरी ही हूं न ? यहां मेरे पास आ जा।"

सारा कार्यक्रम भली-भांति पूरा हुआ। 'वन्दे मातरम्' घोष करते हुए बालकों ने ग्रामवासियों से विदा ली। सभी बालक आनंद से गांधीजी का जब-जयकार करते हुए वापस चल पड़े। वह बालिका भी उत्साहपूर्वक जय-जय करती हुई हमारे साथ चली।

जब हम वापस अपने गांव के पास आ पहुंचे, तो वहीं उस बालिका की मां मिली। हमें देखते ही वह एकदम आगबबूला हो गई और बिजली की तरह कड़ककर बोली—"इसे (बालिका को) तुम अपने साथ क्यों ले गई ?" मैंने उस बालिका के मुंह की ओर देखा और उससे पूछना ही चाहा, कि वह स्वयं बोल उठी—"मैं खुद गई थी।" इस पर मां फिर गालियां बकने लगी। मैंने कहा—"बहन, तुम इस प्रकार क्यों गालियां दे रही हो ? यों मुंह से गाली बकना कुछ बहुत अच्छा तो है नहीं।" परंतु वह गालियां देने में इतनी मस्त हो रही थीं कि दूसरे किसी की बात सुनती ही नहीं थीं। उन्हें तो मानों गालियां देने में ही संतोष और समाधान हो रहा था। फिर वह दूसरे की बात भला क्यों सुननें लगीं ? अंत में कुछ थक जाने पर वह बोलीं, "बस, तुम्हारा काम तो दूसरों के बालकों को

(शेष पृष्ठ ४६२ पर)

एक निमाड़ी लोककथा

पारखी

शिवनारायण उपाध्याय

एक बार एक राजा के पास चार सूरदास आये, और कहने लगे कि, हे राजा तुम्हारा नाम सुनकर हम तुम्हारे आश्रय में आये हैं। आशा है, हमें राज्याश्रय अवश्य मिलेगा।

राजा ने कहा कि तुम चारों सूरदास (अंधे) हो, तुम्हें रखकर मेरा क्या काम हो सकता है। वे बोले, "हम चारों चार विद्याओं में पारंगत हैं।" एक न कहा, "राजन्, मैं जौहरी हूं, और हीरों की परख करता हूं।" दूसरे ने कहा, "मैं अश्व-विद्या-विशारद हूं,और घोड़ोंको देखकर ही उनके गुण-दोष बता सकता हूँ।" तीसरे ने कहा,"मैं हाथियों का परीक्षण करता हूं" चौथे ने कहा, "राजन्, मैं आदमी की परख करता हूँ। इससे ज्यादा कुछ नहीं जानता. यदि आप हमें रख लेंगे तो शायद हम आपके कुछ काम आ सकें।" राजा ने एक क्षण सोचा, फिर अपने प्रधान से कहा—"इन्हें रख लो और इन्हें प्रतिदिन आधा सेर आटा तोल कर दे दिया करो।"

एक दिन राजा के यहां रत्नों का एक व्यापारी आया। उसने राजा को अनेक रत्न दिखाये। राजा ने एक सुन्दर हीरे को चुन लिया। तभी उसे अपने रत्न-पारखी का खयाल आया। सोचा, क्यों नहीं उससे इसकी परख करा ली जाय। तुरंत उसे बुलाया गया। रत्न-पारखी ने हीरे को हाथ में लेकर उलटा-पलटा, और कहा, "राजन्, यह नकली हीरा है और शक्कर से बना हुआ है।" राजा को आश्चर्य हुआ। वह क्रोध से बोला,"इसका क्या प्रमाण है?" सूरदास ने कहा, "राजन् इसे पानी में रखिए। यदि यह शकर का होगा तो घुल जायगा।"वैसा ही किया गया और वह चमकदार हीरा पानी में डालत ही घुल गया। राजा अत्यंत प्रसन्न हुआ और व्यापारी को लौटाकर बोला 'सूरदास हम तुमसे बहुत खुश हैं। आज से तुम्हारा राशन आधा सेर की बजाय ९ छटांक कर दिया गया है।"

राजा के यहां एक रोज अश्वों का एक व्यापारी आया और राजा ने एक सुंदर अश्व के परीक्षण के वास्ते अश्व-पारंगत को बुलाया। सूरदास ने अश्व को देखा और देखते ही कहा, "राजन्, यह अश्व सर्वगुण-संपन्न है। किंतु इसमें एक ऐब है। यह पानी में जाकर बैठ जायगा।" राजा ने पूछा, "ऐसा क्यों होता है।" सूरदास ने कहा, "इसने छोटेपन में भैंस का दूध पिया है।" राजा ने सौदागर से पूछा, सौदागर ने मंजूर किया कि हां महाराज, यह पानी में बैठ जाता है, क्योंकि बचपन में इसकी मां मर गई थी और इसे भैंस का दूध पिलाया गया था। राजा ने प्रसन्न होकर उसका राशन भी नौ छटांक कर दिया।

एक दिन हाथियों का सौदागर आया, और हाथियों के पारखी ने कहा कि राजन् यह आपके लिए बिल्कुल उपयोगी नहीं है। यह राज्य को ध्वंस करनेवाला कुलक्षिणी है। राजा ने उसकी बात भी मान ली और उसका राशन भी नौ छटांक कर दिया।

तब राजा ने चौथे पारखी को बुलाकर कहा कि तुम भी अपनी विद्या का परिचय क्यों नहीं दे देते? जब तुम मनुष्यों के पारखी हो तो मैं अपनी ही परीक्षा चाहता हूं। अच्छा तो बताओ कि मैं पहले कौन था और अब कौन हूं?

सूरदास ने कहा, "राजन् आप पहले बनिये के लड़के थे और आज राजा हैं।" राजा इस अनपेक्षित उत्तर से तिलमिला उठे, और कहा, "जानते हो मैं राजा हूं, राजा। और तू मुझे बनिये का लड़का कहकर मेरा कितना बड़ा अपमान करता है। मैं तुझे इसका समुचित दंड दूंगा। प्रमाण दो कि तुम्हारी इस बात में कहांतक सचाई है?"

सूरदास ने कहा कि महाराज, प्रत्यक्ष को क्या प्रमाण। मुझसे पूर्व तीन सूरदासों ने अपनी परीक्षा के वल पर आपको लाखों के नुकसान से बचाया ह। लेकिन आपने प्रसन्न होकर भी उनके राशन में सिर्फ एक छटांक आटे की वृद्धि की है। यह बनिया होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह बनिये का गुण है, राजा का नहीं। इसके बाद भी यदि आपको विश्वास नहीं हो तो आप अपनी माताजी से जाकर पूछ लीजिएगा।

राजा तत्काल मातृ-मंदिर में गये और मां से पूछा कि मां मैं किसका लड़का हूं। मां ने कहा, "तुम आज कैसी बातें करते हो, तुम मेरे लड़के हो, मात्र मेरे, किंतु आज तुम्हारे मन में यह शंका क्यों हुई?" राजा ने राजसभा का पूरा वर्णन कह सुनाया।

मां बोली, "मुझे आज तुम्हें सच-सच बात बतानी ही पड़ेगी। मेरे सिर्फ लड़कियां-ही-लड़कियां होती थीं। तुम्हारा जिस दिन जन्म हुआ उस दिन भी मुझे एक लड़की हुई थी। अतएव, राज्य की रक्षा के लिए मैंने एक वणिक स्त्री से अपनी लड़की के बदले तुम्हें बदल लिया था। लेकिन यह सब तो पुरानी बातें हैं, उस दिन से तुम मेरे लड़के हो। मेरे लाल हो और इस राज्य के राजा भी।"

राजा तुरंत वापस आया और उसने चारों सूरदासों को यथोचित पुरस्कार देकर सम्मानित किया। और फिर कभी बनिये की तरह व्यवहार नहीं किया।

राजस्थानी लोक-साहित्य में 'तंबाकू'

दीनदयाल ओझा

तंबाकू मानव-जीवन के लिए अत्यधिक हानिकारक वस्तु है। यह नशेयुक्त विषैला पदार्थ शनैः-शनैः हमारे शरीर को क्षीण करके अनेक रोगों का घर बना देता है। इसी तंबाकू का धूम्रपान करनेवालों को सांस-संबंधी अनेक बीमारियां होती हैं। सर्दी, जुकाम, न्युमोनिया आदि अनेक रोग तंबाकू के अभिशाप हैं। इसके धुएं में अनेक विषैले पदार्थ होते हैं। अतः इसका धूम्रपान ही नहीं अपितु इसके विषाक्त धुएं में रहना भी हानिकारक है। आधुनिक युग में तंबाकू पर अनुसंधान करनेवाले डा. वाल्टर बी. पिरकिन्स और ह्यूज ने लिखा है कि तंबाकू सेवियों की शक्ति में १५ व २० प्रतिशत कमी हो जाती है। इन्हीं समस्त दुर्गुणों के कारण हमारे विभिन्न जातियों के धार्मिक ग्रंथों में आंज से भी सैकड़ों वर्ष पूर्व नशीले पदार्थों का सेवन धर्म-विरुद्ध माना गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तंबाकू पर प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है, कहा है और उपदेश भी दिया है। कविवर कबीर ने भी कहा है :--

"भांग, तंबाकू, सोतरा, अफयू और सराब।
कह कबीर इनको तजे, तब पावे दीदार।"

भावार्थ--कबीरदासजी कहते हैं, भांग, तमाखू, चिलम, अफीम और शराब, इनको अगर कोई तज दे तभी भगवान को प्राप्त कर सकता है।

अब हमें देखना यह है कि हमारी प्राचीन संस्कृति के रक्षक लोक-साहित्य में तंबाकू का कैसा रूप मिलता है।

लोक-साहित्य का सिंहावलोकन करने से ज्ञात होता है कि तंबाकू का सेवन हुक्का व चिलम के रूप में होता था और हुक्के की अनुपस्थिति में तो समस्त मित्र-मंडली का आनंद ही फीका लगता था। इसी भाव को व्यक्त करते हुए राजीया ने लिखा है :--

"ऐस, अमल आरांम, सुख उछाह मेळा सयण।
होका बिना हराम, रंग रो हुवै न राजीया।"

भावार्थ--आराम व अफीम आदि का नशा मित्र-मण्डली का आनंद व उत्सव है। पर हे राजीया, एक हुक्के के बिना इन सबका रंग फीका हो जाता है।

परंतु ठीक इसके विपरीत उसने हुक्के के अवगुणों की भी यहां तक निंदा की है कि इसे पीनेवाले जीते ही नरक जायंगे और वहां उनकी क्या गति होगी, इस विषय पर राजीया कहता है :--

'होका पीवण हार, जासी नरकां जीवता।
पाछै पड़सी मार, राम कचेड़ी राजीया॥"

भावार्थ--हुक्का पीनेवाले लोग जीवित ही नरक में जायंगे और परमात्मा के दरबार में उनपर मार पड़ेगी।

इसी प्रकार लोक-साहित्य में भी तंबाकू के गीतों में इसके उत्पन्न होने, तोड़ने, बाजार आने और खरीदने, हुक्का और चिलम में पीने, पत्नि के नाराज होने और पुरुष के रूठने, आदि का बड़ा सरस वर्णन मिलता है। देखिए--

"सोरठगढ़ सूं चालीरे तंबाकू, मालपुरे री हाट,
इयेरे बनमाली रे बाग में, मांजें तीखा तंबाखूरा पान।
एक पांन मनो. तोड़ दे. बनमाली रे, मांजे रुठोड़ो भँवर मनाय।
एक तोड़ती रे दोय तोड़, दोय तोड़ती चार।
तोड़ तोड़ में तो छबलो भरयो रे, मांजे नणदल भरी रे परात।
आंण उतारी चोवटे रे मांजे सौदागर फिर फिर जाय।
लेसे रे बांमण बांणियों रे, मांजे लेसेरे चारन भाट।
लेसे रे बूढ़ो डोकरो रे, मांज लेसे रे भल मोटीयार।
नहीं ले रे, बांमण बांणियों, नहीं ले रे चारन भाट।
नहीं ले रे बूढ़ो डोकरो, मांजे लेसे रे रांसीलों रो साथ।

भावार्थ--सोरठगढ़ से तंबाकू चली, और मालपुरे की हाट में बिकने के लिए आई। इस बनमाली के बगीचे में तंबाकू के तीखे-तीखे पत्ते लगे हुए हैं। हे बनमाली! तू मुझे एक तंबाकू का पत्ता तोड़ दे जिससे कि मैं अपने रुष्ट पति को प्रसन्न कर सकूं। उत्तर में वह कहता है--

तुम एक पत्ता तोड़ना चाहती हो, तो तोड़ लो। मैंने पत्तों को तोड़-तोड़कर अपनी टोकरी भर ली और ननद ने अपनी परात। इसको लेकर हमने चौराहे पर बेचने के लिए ला रखी। सौदागर चक्कर लगा रहे हैं। इस तंबाकू को या तो कोई ब्राह्मण या बनिया खरीदेगा अथवा कोई चारन या भाट। इसे या तो कोई वृद्ध खरीदेगा अथवा कोई जवान। नहीं! इसे न तो कोई ब्राह्मण या बनिया खरीदेगा और न कोई चारन या भाट ही। इसे न तो कोई वृद्ध खरीदेगा और न कोई जवान ही। इसे तो मेरे प्रिय पतिके साथी ही खरीदेंगे।

नवोढा का पति तंबाकू सेवन करता है। उसके विषाक्त धुएं से मुंह से दुर्गंध निकलती है। अधर काले पड़ जाते हैं। काली मूंछें भूरी हो जाती हैं। कलेजा जल जाता है। अतः नवोढा तंबाकू पीने से पति को मना करती हुई कहती है :—

"तंबाकू रे मत पीवोजी रे थारा कांला रे पड़सीं होठ।
कालारे पड़सी होठ, भांवर थारी भूरी रे पड़सी मूंछ।
मूंडों तो थारों बाससी रे, साहिबा जाय रे कलेजो फूंक।।"

भावार्थ—हे प्रिय! आप तंबाकू का सेवन न कीजिए। आपके लाल अधर काले पड़ जायंगे। काली मूंछ भूरी हो जायंगी, मुंह से दुर्गंध आने लगेगी और कलेजा जल जायगा।

परंतु वह इसे कब माननेवाला था। वह सदैव हुक्का पीने मित्र-मंडली में जाता है। एक दिन हुक्का तेज था। उसने छक कर पीया और वहीं नींद आ गई। आधी रात हुई, वह जगा और घर आया। घर आते ही नवोढा ने पूछा, "हे प्रिय! आधी रात हो गई, आज आप देरी से कैसे आये।"

रात गई ढोला अधरात,
मोड़ा क्यों आया रे मांजी मिरघानैणी रा साहिबा।'

भावार्थ—हे प्रिय! आधी रात व्यतीत हो गई। आज आप विलंब से कैसे पधारे?

उसने सगर्व नशे में कहा, "हे सुंदरी! आज मित्र-मंडली के साथ गया था। वहां हजारी हुक्का छककर पीया और वहीं नींद आ गई, अतः अब आया हूं।"

"गयाता गवरादे बेलीड़ों रे साथ,
हजारी हुक्को रे मांजी सुन्दर गोरी छक पीयो।"

नवोढा इसे सहन न कर सकी। उसने आवेश में आकर कहा :—

"हुकइयो रे ढोलामारू परे को पटकाय,
चिलमड़ी पटकाओ रे जेसांणेंरे चोवटे।
हुकइये रे ढोला आले भूंडी बास,
उफरांटा पोढ़ो रें मांजी मिरघानैणी रा साहिबा।
जाजम आलीजा थांरी परेकी उड़ाय,
बेलीड़ा सिधावेरे इये महाराजा री चाकरी।"

भावार्थ—हुक्के को दूर पटक दूं, चिलम को जैसलमेर के चरवाहे पर डलवा दूं। मुझे इस हुक्के से बड़ी दुर्गंध आती है। अतः आप उस ओर मुंह करके सो जाओ। आपकी जाजम दूर उड़ा दूं और आपके मित्र चाकरी के लिए रवाना हो जायं।

पति इसे कब सहन करनेवाला था। उसने मन-ही-मन कहा—औरत का यह साहस कि वह पति का अपमान करे। उसने तुरंत अश्वपर जींण (काठी) कसते हुए कहा—"मैं एक नहीं पच्चीस तेरी-जैसी नारियों से शादी कर सकता हूं बल्कि पूगलगढ़ की पद्मनी को भी ला सकता हूं।

"चड़ी रे चड़ी इये ढोलाजी नां रीस,
झरकायने किया रे इये घुड़ले ऊपर घासीया।
परनारे परनो गवरादे पांच ने पचीस,
परनले आवोरे इये पूगलगढ़ री पदमणी।"

वह प्रेम-गर्विता थी। इन धमकियों से कब मानने-वाली थी। उसने भी निधड़क होकर कहा,

"परनोरे परनो ढोला पांच नें पचीस,
म्हारी री जोड़ी री थांने कठे नहीं मिले।"

—हे प्रिय, आप चाहे पांच व पचीस स्त्रियों से शादी कर लो, पर मेरे-जैसी आपको अन्य नहीं मिल सकती।

कहने को तो उसने हँसते-हँसते यह सब कह दिया। पर जब सचमुच प्राणपति प्रस्थान ही करने लगे तब वह घबराई। रोते-रोते उसने पति को सीख दी, क्योंकि वह नारी थी और उस मध्ययुग की नारी, जो पति के लिए सर्वस्व दकर, खोकर, उसकी दासी ही बनी रह सकती थी—सलाहकार नहीं।

हँसते रे हँसते ढोला बोल्या रे ज बोल
रावेतड़ी दोनी रे मांजे गाढ़ेमारू ने सीखड़ी।"

पुनः वह सोचती है कि पति माननेवाले नहीं। उनसे यह व्यसन छूटने का नहीं। फिर उन्हें क्यों रुष्ट किया जाय। अतः वह अपने 'रीसालू' पति को प्रसन्न करने के लिए सबसे कहती है कि अगर कोई मेरे पति को प्रसन्न करदे तो मैं उनका हुक्का और चिलम 'रतन और मोती' से जड़वा दूं। "लोंग व डोडो" के अंगारों से हुक्के को भर दूं। बैठने के लिए जाजम डलवा दूं और उनके मनचाहे मित्रों को बुलवा दं। बस, केवल वह प्रसन्न होकर घर आ जायं।

"हुक्को आलीजा थारों रतन जड़ोय चिलमड़ी जड़ावो
झाझे मोतीये।
लोंगो रे डोंडो री ढोला धूणीरे घताय।
चिलमीया रे मांजे धण रे रीसालू रा मैं भरो।
जाजमड़ी रे थारीं देवां रे ढलाय।
बेलीड़ा तेड़ावो रे मांजे महाराजा रे मन सूंबा।"

यह निर्विवाद है कि वह प्रथम प्रयास में पति को तंबाकू का बुरा व्यसन न छुड़ा सकी। परंतु क्या उसका यह प्रयास निरर्थक था? क्या यह उसकी हार थी? नहीं. उसकी हार में भी जीत थी। उसे दूसरी बार अवश्य सफलता मिली होगी। आज अगर हमारे देश की नारियां इन्हीं, लोक-गीतों से कुछ शिक्षा ग्रहण कर इस प्रकार का दृढ़ निश्चय कर लें तो एक नहीं, हजारों पुरुष इस दुर्व्यसन से छुटकारा पाकर गिरते हुए स्वास्थ्य की रक्षा कर सकते हैं और इससे बचनेवाले अर्थ का सदुपयोग भी।

(पृष्ठ ४५८ का शेष)

अभड़ाना (अपवित्र करना) ही है।"

दूसरे दिन वह बालिका बिना अपनी मां और मामा से पूछे चुपके से पुनः बालवाड़ी में आई। मैंने उससे कहा–"तुम अपने घर पर पूछकर यहां आई हो या नहीं?" उसने कोई उत्तर नहीं दिया। वह चुपचाप खड़ी रही। मैंने उसको अपने पास बुलाया और संतोष तथा धीरज देते हुए कहा––"तुम अपनी मां और मामाजी से पूछकर क्यों नहीं आती हो।" वह बोली––"मामाजी कहते कि बालवाड़ी वाली बाई तो गेली (पागल) है। वह तुझे भी गेली (पागल) बना देगी। क्यों बाई जी, तुम तो अच्छे अच्छे खेल सिखाती हो––अच्छी, अच्छी कहानियां कहती हो। तुम गेली (पागल) कहां हो?"

उसकी ये सरल और निर्दोष बातें सुनकर मुझे बड़ी हँसी आई।

उस बालिका को बालवाड़ी में आने से हमेशा रोका जाता है, परंतु वह दिन में एक बार अवश्य बालवाड़ी में आ जाती है। वहां कुछ समय तक अपने मन का समाधान कर और अपनी इच्छा को तृप्तकर वह वापस चली जाती है।

बालकों के अंदर इस बात की स्वाभाविक इच्छा और उत्सुकता होती है कि वे नई-नई बातें जानें––नई-नई बातों को सीखें और समझें। उनकी इस स्वाभाविक इच्छा को दबाने से उनके अंदर अनेक शारीरिक और मानसिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। उनकी इस इच्छा को दबाने की नहीं, बल्कि उसको उपयुक्त और सही दिशा में मोड़कर उसे समुचित रूप में विकसित करने की आवश्यकता है।

संस्कृत-साहित्य में प्रकृति वर्णन

रामनारायण उपाध्याय

संस्कृत-साहित्य में प्रकृति का अत्यंत ही मनोरम वर्णन संजोया गया है। खासकर महाकवि कालिदास और माघ ने तो इतनी संदर कल्पनाएँ संजोई हैं कि पढ़कर मुग्ध रह जाना पड़ता है।

देखिए राजसी ठाठ-बाट से आनेवाली वर्षा का वर्णन करते हुए ऋतु संहार में महाकवि कालिदास ने लिखा है—

जल की फुहारों से भरे हुए, बादलों के मतवाले हाथियों पर चढ़ा हुआ, चमकती हुई बिजलियों की झंडियों को फहराता हुआ और बादलों की गरज के नगाड़े बजाता हुआ यह कवियों का प्यारा पावस राजाओं का-सा ठाठ-बाट बनाकर आ पहुंचा है।

वृक्षों से लिपटी लताओं का वर्णन करते हुए कुमार संभव में आपने लिखा है—'वे ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानों उनके बड़े-बड़े फूलों के गुच्छों के रूप में स्तन लटक रहे हों और पत्रों के रूप में सुंदर होंठ हिल रहे हों।

नदी और समुद्र के मिलन में भी उन्होंने स्त्री-पुरुष के सहज प्यार का दर्शन किया है। इस संबंध में रघुवंश में आपने लिखा है—दूसरे लोग केवल स्त्रियों का अधर-पान करते हैं, अपना अधर उन्हें नहीं पिलाते पर समुद्र इस बात में औरों से बढ़कर है, क्योंकि जब नदियां ढीठ होकर चुंबन के लिए अपना मुख उसकी ओर बढ़ाती हैं तब वह बड़ी चतुराई से अपना तरंगरूपी अधर तो उन्हें पिलाता है, और उनका अधर स्वयं पीता है।

अपने शरीर पर से जलरूपी वस्त्र के खिसक जाने के कारण खड़ी लज्जाशील नदी का वर्णन करते हुए उन्होंने मेघदूत में लिखा है :—

"हे मेघ ! जब तुम गंभीरा नदी का जल पी लोगे तो उसका जल कम हो जायगा और उसके दोनों तट नीचे तक दिखाई देने लगेंगे। उस समय जल में झुकी हुई बेंत की लताओं को देखने से ऐसा मालूम पड़ेगा मानों गंभीरा नदी अपने तट के नितंबों पर से अपने जल के वस्त्र फिसल जाने पर लज्जा से अपनी बेंत की लताओं के हाथों से अपने जल का वस्त्र थामे हुए है।"

अब एक जगह सूर्योदय के सौंदर्य का आनंद भी लीजिए। समुद्र के बीच से उदय होनेवाले सूर्योदय का वर्णन करते हुए महाकवि माघ ने लिखा है—जिस तरह घड़ा खींचते समय स्त्रियां कुछ कोलाहल करती हैं, उसी प्रकार पक्षियों के कोलाहल से पूर्ण दिशारूपी स्त्रियां, दूर तक फैली हुई किरणरूपी रस्सियों से सूर्यरूपी घड़े को बांधकर, बड़े भारी कलश के समान, समुद्र के भीतर से खींचकर ऊपर निकाल रही हैं।

संध्या को लेकर महाकवि कालिदास ने अनेको सुंदर उपमाएं संजोई हैं। सूर्य तेजी से पश्चिम में ढलता जा रहा है। इसी बीच उन्हें एक वृक्ष पर बैठा मोर दीख जाता है। उसे देखकर कुमारसंभव में वह लिखते हैं—वृक्ष की शाखा पर बैठे हुए मोर की पूंछ में बनी हुई, गोल-गोल और सोने के पानी के समान, सुनहरी चक्रिकाओं को देखने से ऐसा लगता है, मानो वह बैठा हुआ, सांझ की सब धूप पी रहा है। और उसीसे दिन ढलता जा रहा है।

आगे चलकर एक जगह और वह लिखते हैं—"संध्या के समय ऐसा प्रतीत होता था मानों सूर्य के आकाश से, धूप का पानी खींच लिया हो।" और तब सूर्य ऐसे लगता था मानों "दिन को समुद्र में डुबोकर और अपने उन घोड़ों को लिये हुए, वे अस्ताचल की ओर चले जा रहे हैं।"

सूर्य जब अस्ताचल की ओर चला, तो संध्या भी उनके पीछे-पीछे चल दी क्योंकि "उदय के समय जो सूर्य के आगे रही, वही विपत्ति के समय भला उसका साथ कैसे छोड़ दे।"

सूर्यास्त के बाद की अवस्था का वर्णन करते हुए आपने लिखा है—सूर्यास्त के बाद वह ऐसे लग रहा था, मानों सारा आकाश सोया हो।

और ऐसे में एक उदय होनेवाले चन्द्रमा का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—यह ऐसे लग रहा था मानों रात के कहने से वह चांदनी के रूप में मुस्कराता हुआ पूर्व दिशा के सब भेद खोल रहा हो।

(शेष पृष्ठ ४६६ पर)

छुआछूत की रोकथाम

भंवरमल सिंघी

हमारे देश में धर्म मनुष्य के आध्यात्मिक विचार और साधना का ही विषय न रहकर जीवन के सभी क्षेत्रों में छा गया है। खान-पान, रहन-सहन, वेष-भूषा सभी में धर्म के विधि-निषेध मानकर चला जाता है और वैसा करने पर आग्रह रखा जाता है। इस स्थिति ने जातिभेद को जन्म दिया और बढ़ाया। हिंदू धर्म में ही अनेक जातियां बन गईं और उसके कारण सभी हिंदू एक दूसरे के लिए कम-ज्यादा अंश में अछूत जैसे हो गये, पर लगभग ६ करोड़ मनुष्य तो ऐसे हैं, जिनको सारा हिंदू समाज अछूत मानता है। ये ६ करोड़ लोग धर्म से, समाज से, मंदिर से, गुरु से, राज्य से, सब तरफ से बहिष्कृत करके रखे गये। हिंदू समाज में सबसे बड़ा स्थान ब्राह्मण को दिया गया और उसके बाद क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को। इन शूद्रों का काम ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों की सेवा के लिए नीचे से नीचा काम करना है। लोग अक्सर कहते हैं कि अछूतों से जो घृणा की जाती है, उसका संबंध उनके मैले, रहने या खान-पान की गंदगी से है। पर वास्तव में, जैसा कि ठक्कर बापा ने एक बार लिखा था, "अछूतपन का संबंध मैले रहने या गंदा भोजन खाने के साथ नहीं; उसकी जड़ बहुत गहरी है। वह हिंदुओं की जात-पांत या वर्ण-व्यवस्था में है। उसे काटे बिना अछूतपन का दूर होना संभव नहीं है।"

तो छुआछूत की रोकथाम केवल देश के संविधान में समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और दूसरे क्षेत्रों में समान अधिकार दे देने से या अछूत और परिगणित जातियों को विशेष राजनीतिक, आर्थिक या शिक्षा-विषयक सुविधाएं दे देने से ही संभव नहीं है। इसमें कोई शक नहीं कि अज्ञान, गरीबी और राजनीति एवं शासन में अधिकारहीनता ने अछूत कहे जानेवाले लोगों को गिराने में योग दिया तथा उनमें घृणा, और निराशा भर दी। यह रोग समाज में इतना फैल गया कि अछूतों में भी आपस में छुआछूत और ऊंच-नीच की वृत्ति आ गई। इसका परिणाम हुआ कि सवर्ण लोग तो अछूत कहे जाने वाले लोगों पर भयानक-से-भयानक अमानुषिक अत्याचार करते ही थे, अछूत स्वयं भी इस अत्याचार को धर्म का विधान मानकर स्वीकार कर लेते थे और अपने ऊपर के वर्ग से मिली हुई घृणा को वे दूसरे लोगों में यानी आपस में ही वर्ण और वर्ग की कल्पना करके थोप दिया करते थे।

छुआछूत के रोग ने राष्ट्र के शरीर को ऐसा ग्रस्त कर लिया कि उसकी प्राणशक्ति ही कुंठित होने लगी। महात्मा गांधी ने जब स्वाधीनता-संग्राम का झंडा हाथ में लिया तो उन्होंने इस नासूर-जैसे रोग से समाज की जड़ें ही खोखली होती देखीं और उन्होंने राजनीतिक स्वतंत्रता के संग्राम के लिए भी छुआछूत हटाने को एक बुनियादी कार्य माना। बहुत-सी बातों में उन्होंने छुआछूत के निवारण को राष्ट्रीय संग्राम का प्रतीक बना दिया। उस संग्राम के आर्थिक रूप का प्रतीक था खादी और सामाजिक रूप का प्रतीक था अस्पृश्यता-निवारण। उन्होंने अछूतों के प्रति अधिक-से-अधिक उदारता और उद्धार की भावना पैदा की। उनके साथ रोटी-बेटी का संबंध चालू करने के लिए सक्रिय आंदोलन किया, धार्मिक मामलों में उनको पूरी तरह से समानता देने पर जोर दिया, उनके लिए मंदिर में जाने का जो निषेध किया जाता था, उनके खिलाफ आवाज उठाई। हरिजन नाम देकर उनका पद बहुत बढ़ा दिया। इन सबसे, इसमें कोई शक नहीं, हिंदू समाज में अस्पृश्यों के प्रति उदारता की भावना पनपी। नाना रूपों में उनके सुधार, उद्धार और उत्थान के कार्यक्रम बनने लगे और हरिजन-सेवा, राष्ट्रीय कार्य का विशेष अंग बन गई। तथा धारा-सभाओं के चुनावों में और राजनीतिक कार्यों में विशष पदों पर अस्पृश्य जातियों के लोगों को बढ़ाने और विशेष अधिकार देने का विशेष ध्यान रखा गया। गांधीजी ने तो यहांतक कहा कि स्वतंत्र भारत का पहला प्रेसीडेंट या गवर्नर-जनरल कोई अस्पृश्य भाई या बहन होना चाहिए। इन सबका उद्देश्य छः करोड़ अछूतों को गुलामी और पतितावस्था में से उठाना

तो था ही, पर इस कार्य को प्रतीक रूप में मानकर सारे देश को सामाजिक दृष्टि से स्वस्थ बनाना था, जिसके बिना स्वाधीनता-संग्राम का विजय-पथ प्राप्त करना कठिन दिखाई पड़ता था। जो लोग हजारों वर्षों से दबे हुए थे, उनको ऊंचा उठाने का गांधीजी ने सचमुच बहुत बड़ा कार्य किया। इससे अस्पृश्यों में खुद में एक नई चेतना उत्पन्न हुई। वे भी अपने अधिकार को समझने लगे। अस्पृश्यता एक बड़ा अन्याय है और अस्पृश्यों के प्रति हमें उदार होना चाहिए, यह भावना तो जगी, हम उनको सुविधाएं आदि देने की बात तो सोचने लगे, परंतु यह बात तो स्वीकार करनी पड़ेगी कि अस्पृश्यता के रोग की जड़ पर हमने प्रहार नहीं किया। वर्णाश्रम-व्यवस्था पर प्रहार नहीं किया गया। उद्धार, सेवा, और उत्थान से अछूतों का जीवन-स्तर तो बढ़ा और आगे भी बढ़ सकता है, परंतु उससे छुआछूत की रोकथाम नहीं हो सकती। यह बात स्वराज्य हो जाने के बाद आज दस वर्ष बीत जाने पर भी उतनी ही सच है। स्वराज्य की साधना एक माने में छुआछूत को मिटाने की साधना भी थी और स्वराज्य का संविधान बनाते समय हमने इस साधना को ध्यान में रखा और छुआछूत को हमेशा के लिए खतम कर देने का दृष्टिकोण रखा। संविधान ने जाति-भेद का समस्त आधार ही खत्म कर दिया और समानता प्रदान करने के साथ-साथ अछूत एवं परिगणित जातियों के लोग चूंकि आज तक बहुत पिछड़े हुए रहे, इसलिए उनकी प्रगति के लिए विशेष प्रयास करने का निर्देशन भी विधान की धातुओं में किया गया और उन निर्देशक सिद्धांतों के अनुसार काम भी हुआ। थोड़े दिनों पहले ही एक विशेष कानून बनाया गया कि तथाकथित अछूतों के प्रति कहीं भी सार्वजनिक स्थानों और कार्यों में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जायगा। परंतु चाहे संविधान बन गया, चाहे अस्पृश्यता के भेद-भाव को रोकने के लिए कानून बन गया, चाहे अस्पृश्य और परिगणित जातियों के लोगों के लिए चुनाव में विशेष रियायतें दे दी गईं और सुरक्षित स्थान भी रखे गये, उनमें विशेष तौर से शिक्षा की तरक्की हो, इसके लिए विशेष छात्रवृत्तियां दी गईं, जगह-जगह मंत्रि-मंडलों और शासन-संचालन के क्षेत्र में गठित विभिन्न कमेटियों और कमीशनों में अस्पृश्य और पिछड़ी हुई जातियों के प्रतिनिधियों को लिया गया, परंतु क्या इससे छुआछूत का कलंक समाज से मिट गया? आज भी कौन-सा दिन जाता है, जब हम छुआछत की भावना के कारण तथाकथित सवर्णों को अछूतों के प्रति घृणा प्रकट करते हुए भेदभाव कायम रखने की घटनाओं के समाचार नहीं पढ़ते? आज भी अछूत क्या सर्वत्र मंदिरों में सामान्य तौर से जा सकता है? क्या आज भी वह सवर्णों के साथ कुएं पर जाकर पानी भर सकता है? क्या नल पर भी उसके साथ ही घड़ा होकर जल ला सकता है? आज भी वह ऊंचे माने जानेवाले सवर्णों के विवाह-शादी या दूसरे सामाजिक-धार्मिक अनुष्ठानों में बराबर बैठ सकता है? हां, श्री जगजीवनराम के सम्मान में भोज दिया जा सकता हैं। वहां उनके बराबर बैठकर खान-पान भी किया जा सकता है। डाक्टर अंबेदकर से हाथ मिलाया जा सकता था। उनके साथ रहा जा सकता था, पर जो लोग ऐसा करते हैं या कर सकते हैं, वे ही सामान्य तौर से खान-पान, शिक्षा और पूजा-अर्चना में अस्पृश्यों को साथ नहीं बिठा सकते। मैंने दखा है कि जिस विद्यालय में सरकारी मंत्री होने की वजह से एक अछूत नेता को बुलाकर उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया गया और उनसे भाषण करा लिया गया, वहां शायद अछूतों के बच्चों को भरती करने की बात आये तो आज भी आपत्ति हो।

इतने वर्षों के आंदोलन के बाद भी यह स्थिति है और छुआछूत समाज में आज भी कायम है—इतनी कायम है कि उसके कारण साधारण लोगों पर ही नहीं, विनोबाजी जैसे लोगों पर भी आक्रमण हो सकता है। इसका कारण यही है कि छुआछूत की जो जड़ है, उसी वर्णभेद और जात-पांत के मूल आधार पर हमने अभी तक प्रहार नहीं किया। आज छुआछूत की रोकथाम के लिए ऊपर-ऊपर से काम करने से नहीं चलेगा। सही मानों में छुआछूत का अंत अछूतों की सेवा और उद्धार से ही नहीं होगा, परंतु छुआछूत की भावना को जड़-मूल से ही खतम करने से होगा। एक लेखक ने यह लिखकर बहुत सही स्थिति का बयान किया है कि—"बीस वर्ष चमार-उद्धार में लगेंगे, उसके बाद बीस वर्ष भंगी-उद्धार के लिए फिर बीस वर्ष पासी-

उद्धार के लिए और बीस वर्ष लोध-उद्धार के लिए चाहिए। इस प्रकार इस सिलसिले का कभी अंत ही नहीं होगा। कारण यह है कि अछूत-उद्धार की यह रीति ही गलत है। जात-पांत मिटाने से ही सच्चे अर्थों में अछूतपन मिट सकता है।" निस्संदेह यह बिल्कुल सही है कि जबतक हम वर्णाश्रम धर्म के मूलाधार को ही खतम नहीं कर देंगे, तबतक छुआछूत का कोढ़ नाना रूपों में फूट-फूटकर बहता रहेगा और राष्ट्र को निर्बल और निस्तेज बनाये रखेगा। जबतक वर्णाश्रम धर्म और उसके आधार पर बना हुआ जाति-भेद रहेगा, छुआछूत भी तब तक रहेगी। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि छुआछूत की रोकथाम के लिए हम सही मार्ग को अपनाएं, अर्थात उन आधारों को ही समाज से नष्ट करें, जिनपर यह रोग खड़ा है और नये संस्कार लेकर नई व्यवस्था लायें।

आकाशवाणी, कलकत्ता के सौजन्य से

(पृष्ठ ४६३ का शेष)

चांदनी क्यों होती है ? इस संबंध में एक संस्कृत कवि ने लिखा है——चांद जब अपनी प्रेयसी रात्रि से मिला तो उसके काले केशपाशों को अपनी किरणरूपी अँगुलियों से सहलाने लगा। ऐसे प्रेम व्यक्त करने में, रात्रि का काला वस्त्र खिसक पड़ा और इसीसे चांदनी फैल गई।

और उसके बाद की कहानी तो आप सबकी जानी पहचानी है।

"चांदनी फैलने से अंधकार मिट गया है। इसी लिए इस समय चंद्रमा ऐसे लग रहा है, मानों वह अपनी किरणरूपी अंगुलियों से रातरूपी नायिका के मुंह पर फैले हुए अंधेरेरूपी बालों को हटाकर उसका मुंह चूम रहा हो और रात भी उस चुंबन का रस लेने के लिए अपने कमलरूपी नेत्र मूंद बैठी हो।"

फूल का गीत

खलील जिब्रान

मैं वह शब्द हूं जिसे प्रकृति की आवाज न अपनी जीभ से कहा और दोहराया। मैं वह तारा हूँ, जो नीले आकाश से हरे-भरे मखमली गलीचे पर गिरा। मैं विश्व-तत्त्वों की पुत्री हूं, जिसे शीत ऋतु ने अपने गर्भ में धारण किया, जिसे वसंत ऋतु ने जन्म दिया, ग्रीष्म ऋतु ने अपनी प्यारभरी गोदी में जिसका पालन-पोषण किया और जो वसंत के बिस्तर में सो गया।

म सुबह सवेरे मंद-मंद पवनों से मिलकर प्रकाश के आगमन की शुभ घोषणा करता हूं और सायंकाल को उसे विदा करने में पक्षियों के साथ मिल जाता हूं।

हरे-भरे मैदान मेरे सुंदर रंगों से सुसज्जित हैं और वायु मेरी सुगंध से सुवासित है।

जब मैं निंदा का आलिंगन करता हूं, रात अपनी सहस्रों आंखों से मेरा पहरा देती है और जब मैं जागता हूँ, तब मैं सूर्य को घूरता हूं, जो कि दिन की एक, केवल एक आंख है।

मैं ओस-कणों की मदिरा पीता हूं, पक्षियों की संगीत-भरी चहचहाहट सुनता हूं, और लहलहाती हुई घास की तालियों पर नाचता हूं।

मैं प्रेमी का उपहार हूं,

म विवाह की पुष्पमाला हूं,

मैं सुख के क्षण की यादगार हूँ,

मैं जिंदा आदमियों की तरफ से मुरदों की अंतिम भेंट हूं।

मैं सुख का एक अंश हूं। मैं दुःख का एक अंश हूं। परंतु मैं केवल प्रकाश देखने के लिए ऊपर आकाश की ओर देखता हूं, पर अपनी परछाई को देखने के लिए कभी नीचे नहीं देखता। यह वह बुद्धिमानी है, जिसे इन्सान को सीखना चाहिए।

अनुवादक——माईदयाल जैन

मेरी विदेश-यात्रा

यशपाल जैन

१. दिल्ली से प्रस्थान

चीन जाने की इच्छा बहुत दिनों से थी, उसके लिए उत्सुक भी था, लेकिन स्वप्न में भी कल्पना न की थी कि रूस जाने तथा वहां से अन्य कई देशों में घूमने का यों आकस्मिक सुयोग जुट जायगा। मेरे एक स्नेहशील मित्र ने रूस चलने का आग्रह किया और उनके साथ के प्रलोभन ने मुझे जाने के लिए प्रेरित किया, लेकिन दुर्भाग्य से मित्र अस्वस्थ हो गये और उन्हें विवश होकर अपना कार्यक्रम स्थगित करना पड़ा पर उनका आग्रह रहा कि मैं अवश्य जाऊं। मेरे कुटुंबीजन तथा साथी भी जोर लगाते रहे। फलत: ७ अगस्त को प्रात:काल दिल्ली से रवाना हुआ। ७ बजे सफदरजंग हवाई अड्डे से जहाज छूटता था। लेकिन पासपोर्ट आदि की जांच की दृष्टि से एक घंटे पहले वहां पहुंच जाना पड़ा। विदेश-यात्रा के लिए अपने देश की सरकार का पासपोर्ट, जिस देश में जाना हो, वहां की सरकार का वीसा, स्वास्थ्य का प्रमाण-पत्र, आयकर की सफाई का सर्टीफिकेट तथा टिकट अनिवार्य होता है। इन सबकी हवाई अड्डे पर जांच होती है। इसके अतिरिक्त सामान भी देखा जाता है कि कहीं कोई चुंगी की या गैर-कानूनी चीज तो नहीं है। सरकार ने यह भी पाबंदी लगा रखी है कि काबुल के लिए ५०) तथा अन्य देशों के लिए २७०) से अधिक कोई भी व्यक्ति सामान्यतया अपने साथ नहीं ले जा सकता, इसकी भी कड़ाई से देखभाल होती है। इन सब बातों के लिए पुलिस तथा चुंगी विभागों में जाना पड़ता है, जो हवाई अड्डे पर ही हैं। सामान तुला, चीजों के मूल्य की घोषणा कराई गई, कैमरा, घड़ी, फाउंटेनफेन की सूचनाएं की गई। इन सब औपचारिक विधियों से छुट्टी पाई जबतक जहाज का समय हो गया। जहाज में बैठने की घोषणा हुई। मैंने परिवार के लोगों, मित्रों तथा साथियों से बिदा ली और जहाज की ओर चला। हवाई जहाज से पहले कई बार यात्रा कर चुका था, इसलिए मन में कोई परेशानी नहीं थी, लेकिन यह सोचकर थोड़ी घबराहट अवश्य थी कि लंबा सफर है और मैं अकेला हूं।

सात बजकर दस मिनट पर जहाज छूटा। एरियाना सर्विस का जहाज था। यह सर्विस अफगानिस्तान की है। अंदर घुसते ही देखा कि सारा यान सामान से भरा हुआ है। आदमियों के बैठने की सीटों पर लकड़ी की बड़ी-बड़ी पेटियां तथा अन्य चीजें विराजमान हैं। हम चार-पांच यात्रियों के लिए सीटें खाली थीं। बड़ा अजीब-सा लगा। मैंने स्टुअर्ड से विनोद में पूछा—"क्या भाई, यह यात्रियों को ले जानेवाला जहाज है या सामान ढोने का?" पर वह चुप रहा। शायद मेरी बात समझा नहीं या उत्तर देता भी तो क्या?

मेरे बराबर की सीट पर एक बंगाली सज्जन बैठे थे। जहाज उड़ने लगा तो हम लोग बात करने लगे। मालूम हुआ कि वह बंगला के 'लोक सेवक' पत्र के प्रतिनिधि होकर मास्को जा रहे हैं। चलो, एक साथी मिला। खुशी हुई। शेष यात्री काबुल तक जा रहे थे।

नौ बजे अमृतसर पहुंचे। वहां हम लोगों ने नाश्ता किया। मेरे सामने जब मांस आदि आया तो मैंने इन्कार कर दिया। मैंने कहा—"मैं तो शाकाहारी हूं।" इस पर वहां के एक अधिकारी मुस्कराते हुए बोले—"तभी आपके चेहरे पर सात्विकता दीख पड़ती है।" मैं कुछ कहूं कि इससे पहले बंगाली साथी तेज हो उठे—"क्यों साहब, क्या मतलब है आपका? क्या आप यह कहना चाहते हैं कि मैं मांसाहारी हूं, इसलिए मेरे चेहरे पर असात्विकता है?" अधिकारी सकपकाकर रह गये। बात सहज भाव से उनके मुंह से निकल गई थी। उसका कोई गहरा अर्थ न था, न किसी पर आक्षेप करने की उनकी मंशा थी। वह संभले तो उन्होंने सफाई में कुछ कहा, पर बंगालीभाई काफी देर तक बड़बड़ाते रहे। मुझे दुख हुआ कि अकारण उन्हें हैरानी हुई।

चालीस मिनट के बाद जहाज चला। आगे एक यात्री ने बताया कि जहाज लाहौर पर से जा रहा है। लगभग डेढ़ घंटे पाकिस्तान की सीमा में उड़ते रहे। मन में तरह-तरह की बातें उठती रहीं। जहाज आमतौर पर ८-८॥ हजार फुट की ऊंचाई पर जा रहा था। अन्य कंपनियों के जहाजों में

चालक एक कागज पर यात्रियों को सूचना देते रहते हैं कि जहाज कितनी ऊंचाई पर है, उसकी रफ्तार क्या है और उसके दायें-बायें कौन-सा नगर, पर्वत अथवा नदी इतने समय पर आवेगी। पर इस एरियाना जहाज में ऐसी कोई सुविधा नहीं थी। बार-बार स्टुअर्ड से पूछना पड़ता था। बाथ रूम बड़ा गंदा था। अमृतसर पर मैंने कह दिया था कि साफ करा दें, लेकिन फिर वही हाल। हवाई कंपनियां प्रायः सफाई का बड़ा ध्यान रखती हैं, पर जाते समय और आते समय भी इस कंपनी का अनुभव अच्छा नहीं हुआ।

आगे चलकर सुलेमान पर्वत मालाएं आइ। वहां जहाज की ऊंचाई लगभग १२–१३ हजार हो गई। नीचे पर्वत, उस पर रुई के फाये से बादल, उनके ऊपर जहाज, अबतक मैदान देखते आये थे। उस पर कहीं-कहीं हरे-भरे वृक्ष, छोटे-छोटे घर, नदियों की पतली-सी धारा आदि को देखकर ऐसा लगता था, मानों धरती पर किसीने कोई चित्र अंकित कर दिया हो। पर्वतों के आने पर दृश्य बदल गया। कोहरे तथा बादलों के मेल में से जो दृश्य बना वह बड़ा ही विचित्र था। आगे चलकर 'तख्त सुलेमान' आया। यह सुलेमान पर्वत की बहुत ही ऊंची चोटी है और जब जहाज उसे पार कर लेता है तो माना जाता है कि 'तख्त सुलेमान' जीत लिया। बात यह है कि एक तो यहां जहाज को बहुत ऊंचाई पर उड़ना होता है; दूसरे सबेरे ९-१० बजे के बाद वहां पर इतना कोहरा और बादल होते हैं कि कुछ दीखता ही नहीं। पायलट को बड़ी सावधानी से यह स्थान पार करना पड़ता है। कभी-कभी मौसम की खराबी से जहाज को वापस ले जाना पड़ता है।

पहाड़ पार करते समय ऊंचाई के कारण, यात्रियों को असुविधा न हो इसलिए जहाज या तो 'प्रेशराइज्ड' होते हैं या उनमें आक्सीजन की व्यवस्था होती है; लेकिन इस जहाज में ऐसी कोई सहूलियत नहीं थी। हां, एक व्यवस्था थी और वह थी जहाज को गर्म करने की। जब हम लोग सुलेमान पार कर रहे थे, तब जहाज का हीटर खोल दिया गया। नतीजा यह हुआ कि तेज लू-सी लगने लगी और सिर गरमी से फटने लगा, तब स्टुआर्ड से कहकर उसकी तेजी कम करवाई।

'तख्त सुलेमान' जीत लेने के बाद मौसम में परिवर्तन हो गया। धुंध और बादल बहुत-कुछ साफ हो गये और नीचे पर्वत-मालाएं स्पष्ट दीख पड़ने लगीं। पहाड़ों के बीच में यत्र-तत्र बसी हुई बस्तियां और नदियां तथा नदियों किनारे की हरियाली बड़ी सुहावनी लगती थी। शुरू में पहाड़ों पर कुछ पेड़ दिखाई दिये थे, लेकिन आगे चलकर तो ऐसा प्रतीत होता था, मानों वे मिट्टी या राख के हों। उन पर पेड़ों का नाम भी नहीं था। फिर भी उनकी अपनी शान थी, मेघ-खंडों के योग से उनकी शोभा में चार चांद लग रहे थे।

लेकिन विज्ञान ने कैसा अद्भुत करिश्मा कर दिखाया है! जब बादल होते हैं तो जहाज प्रायः उनके ऊपर चला जाता हैं। तब नीचे सफेद सागर जैसा लहराता दीखता है और ऊपर नीला निरभ्र आकाश, जिसमें सूर्य पूर्ण प्रखरता के साथ चमकता है।

बलूचिस्तान के कुछ भाग पर से उड़ते हुए हमारे जहाज ने किसी नगर पर चक्कर लगाया। पूछा तो मालम हुआ कि काबुल आ गया है और अब जहाज उतरनेवाला है। दो बजे काबुल पहुंचे। उस समय वहां के हिसाब से एक बजा था, अर्थात भारत से वहां का समय एक घंटा पीछे है।

काबुल का हवाई अड्डा कच्चा है। जब कोई जहाज उतरता है तो तूफान-सा आ जाता है। अमृतसर का अड्डा मजे का था, लेकिन यह तो बहुत ही गया-बीता था। जहाज के रुकने पर हम लोग उतरकर चुंगी के दफ्तर में पहुंच, थोड़ी देर में हमारा सामान भी आ गया। उसे खुलवाकर देखा, पर सरसरी तौर पर। पासपोर्ट तथा अफगान वीसा भी जांचा। जिन देशों में रुकना होता है, भले ही वह दो-एक दिन के लिए क्यों न हो, वहां का वीसा लेना होता है। जहां एक देश का जहाज बदलकर दूसरे देश में जहाज लेना होता है, वहां ट्रांजिट वीसा की आवश्यकता होती है। हमने दिल्ली से ही अफगानिस्तान का ट्रांजिट वीसा ले लिया था, इससे कोई कठिनाई नहीं हुई, लेकिन एक सज्जन हिम्मत करके बिना वीसा के आ गये थे। उनके साथ काफी झक-झक हुई। अंत में विवश होकर अधिकारियों को अनुमति दे देनी पड़ी, न देते तो करते भी क्या।

हमें मास्को जाने की जल्दी थी। जब पता लगाया तो

मालूम हुआ कि ९ अगस्त को, यानी तीसरे दिन-सवेरे रूस जानेवाला जहाज मिलेगा। लाचारी थी, क्या करते ? यात्रियों के ठहरने की व्यवस्था काबुल होटल में की जाती है। हवाई अड्डे की बस खड़ी थी। उसमें सामान रखा गया। तीन बजते-बजते हम लोग काबुल होटल में पहुंच गये। काबुल में ठहरना पहले तो बड़ा बुरा लगा, लेकिन बाद में यह सोचकर संतोष हुआ कि इस बहाने काबुल देखने का सहज अवसर मिल जायगा। होटल जाते-जाते शहर का काफी चक्कर लग गया। इस बीच एक सज्जन से बातचीत में यह भी पता चल गया कि वहां कौन-कौन से स्थान देखने योग्य हैं।

होटल की इमारत अच्छी-खासी है, काफी बड़ी, देखने में साफ-सुथरी। बंगाली सज्जन और मुझे एक ही कमरा दिया गया। थोड़ी देर में एक सिख भी उसीमें आ गये, बड़े खुले दिल के आदमी थे। मन में सोचा, चलो अच्छा ह, घूमने में मजा आयेगा।

२. काबुल में

होटल के कमरे में सामान रखकर नीचे भोजन करने गये तो एक मजेदार घटना हुई। मेज पर बैठने पर बैरा आया तो मैंने अपने लिए निरामिष और बंगाली भाई के लिए आमिष भोजन लाने को कहा। थोड़ी देर में खाना आया तो दोनों के लिए शाकाहारी। देखते ही बंगाली भाई न कहा—"मुझे तो मीट (मांस) चाहिए। तुमने इस ढंग से आर्डर दिया कि बैरा समझ ही नहीं पाया। आगे से तुम अपने लिए मंगाओ, मैं अपने लिए।" मैंने मजाक में कहा,—"तुम्हें तो दोहरा फायदा हो गया। शाकाहारी भोजन करोगे, मांस भी खाओगे।" असल में कठिनाई यह थी कि होटल के बैरे या तो पश्तो जानते थे, या फारसी। उनमें दो-एक टूटी-फूटी अंग्रेजी जानते थे। इसलिए उन्हें पूरी बात समझने में और समझाने में दिक्कत होती थी।

खा-पीकर हम लोगों ने थोड़ी देर विश्राम किया। अनंतर घूमने निकले। मौसम बड़ा अच्छा था। छः हजार फुट की ऊंचाई पर बसे होने पर भी सरदी अधिक न थी, बल्कि दिन में तो कुछ गरमी ही मालूम हुई। लेकिन लोगों न बताया कि असली मजा तो जाड़ों में आता है। खूब कड़ाके की ठंड पड़ती है, चारों ओर बर्फ जम जाती है। अफगानिस्तान में एक कहावत है कि वहां के निवासी सोने के बिना रह सकते हैं, बर्फ के बिना नहीं। इसका कारण संभवतः यह है कि खेती के लिए उन्हें बहुत-सा पानी बर्फ के पिघलने से प्राप्त होता है। इसलिए कुछ महीनों में अच्छी फसल के लिए उन्हें बर्फ पर निर्भर करना पड़ता है।

काबुल अफगानिस्तान की राजधानी है। काफी बड़ा नगर है, बस्ती दूर-दूर तक फैली है; लेकिन देखने में वह एक देहाती कसबे-जैसा लगता है। सूखे पहाड़ों पर से धूल उड़ती रहती है और कभी-कभी तो ऐसा तूफान आता है कि खुले रास्ते पर चलना मुश्किल हो जाता है। मकानों, बाजार की दुकानों, लोगों के रहन-सहन, कपड़े-लत्ते आदि से ऐसा नहीं लगता कि किसी राजधानी में हैं। शहर का कुछ भाग पुराना है, कुछ नया बसा है। नई बस्ती को 'शोरेनो' यानी नया शहर कहते हैं। उस हिस्से में पुरानी बस्ती की अपेक्षा हरियाली अधिक है। मकान भी बड़े और सुंदर हैं। पुरानी बस्ती बड़ी घिरी-सी है। लेकिन नगर का तेजी से विकास हो रहा है। नई सड़कें बन रही हैं, पुरानी चौड़ी की जा रही हैं, नये घर खड़े किये जा रहे हैं, बिजली-पानी आदि की व्यवस्था समुचित रूप से की जा रही है। लोगों ने बताया कि रूस और भारत दोनों ही प्रयत्नशील हैं कि वहां की गरीबी और गुरबत दूर हो और वहां के निवासियों के रहन-सहन का मानदंड ऊंचा हो। वहां के पर्वतों में खनिज पदार्थ पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं, फल भी खूब होते हैं, अन्य देशों का माल भी वहां काफी आता है, सूती और ऊनी वस्त्रों का अच्छा उत्पादन होता है, फिर भी वहां बेहद गरीबी है। जगह-जगह भिखारी पीछा करते हैं। पार्वत्य प्रदेशों में गरीबी के साथ-साथ गंदगी का गठबंधन प्रायः देखने में आता है। काबुल इसका अपवाद नहीं है। अधिकांश लोग बड़े ही गंदे हैं। काबुल नदी कुछ महीनों को छोड़कर शेष महीनों में सूखी पड़ी रहती है। यत्र-तत्र जो पानी बच रहता है, उसका जिस प्रकार उपयोग होता है, देखकर घिन आती है।

इतना होने पर भी लोगों का स्वास्थ्य देखकर तबीयत खुश हो जाती है। बच्चों और युवकों को अंग्रेजी कपड़े पहना दीजिये, तो यह पता चलाना कठिन हो जायगा कि वे अफगानी हैं।

काबुल की आबादी लगभग २ लाख है, जिसमें पांच हजार के गरीब हिंदू हैं। उनमें से बहुत-से वहां छोटा-बड़ा व्यापार करते हैं; लेकिन उन्हें वे सुविधाएं प्राप्त नहीं हैं, जो दूसरे लोगों को हैं। निश्चय ही यह बड़ी विषम स्थिति है कि जो पुश्तों से वहां रहते हों, उन्हें वहां के नागरिकों के अधिकार प्राप्त न हों।

हम लोग पहले तो शोरेनो में घूमने गये, बाद में कार्ता की बस्ती देखी। वह काबुल नदी के किनारे बसी है और दूसरे मार्गों की अपेक्षा अधिक साफ-सुथरी है। वहां का बाजार काफी बड़ा है।

फल वहां खूब थे और बड़े सस्ते। अंगूर दस आने सेर, किशमिश रुपये सेर। सेब, खूबानी, आड़ू आदि भी खूब मिलते हैं और वहां का सरदा तो दूर-दूर तक मशहूर है। साग-भाजी में अन्य चीजों के साथ टमाटर खूब दिखाई दिये; दूकान-दूकान पर उनके ढेर लगे थे।

शहर में घूमते समय विदेशी लोग काफी दिखाई दिये। उनमें से कुछ तो पर्यटक थे, कुछ वहीं के रहनेवाले।

हम लोगों ने होटल की 'पश्तानी तिजारती बैंक' से कुछ रुपये भुनाकर अफगानी ले लिये थे। वहां का सिक्का 'अफगानी' कहलाता है। एक रुपये में दस अफगानी मिल जाते हैं। नोट २, ५, १०, २० और ५० के होते हैं। सिक्के 'पूल' कहलाते हैं और ५० तथा २५ के आजकल मिलते हैं। ५० का सिक्का 'नीम अफगानी' कहलाता है, यानी अफगानी का आधा।

अफगानिस्तान की भाषा मुख्यतः पश्तो और फारसी है; लेकिन वहां के स्कूलों में फ्रेंच, अमरीकी तथा रूसी भाषाएं भी पढ़ाई जाती हैं। अन्य भाषाओं की अपेक्षा फ्रेंच पर अधिक जोर दिया जाता है।

शहर में पांच सिनेमाघर हैं, जिनमें अक्सर हिंदी की फिल्में दिखाई जाती हैं। कई दूकानों पर हमने हिंदी के रिकार्ड बजते सुने। अंग्रेजी का प्रचार बहुत कम है। बड़े-से-बड़े अधिकारी तथा शिक्षित लोग गलत और टूटी-फूटी अंग्रेजी बोलते हैं। उच्चारण भी शुद्ध नहीं होता। काबुल में एक विश्वविद्यालय है और चार कालेज—गजनी, हबीबिया, निजात और इस्तकलाल। एक बात बड़ी अजीब लगी। यहां अलग-अलग फैकल्टी हैं, जैसे आर्ट फैकल्टी, साइंस फैकल्टी, आदि-आदि। वे सब यूनिवर्सिटी कहलाती हैं। इस प्रकार सुनने पर ऐसा मालूम होता है, मानों वहां यूनिवर्सिटियों की भरमार है।

पर्दे की प्रथा खूब है। शहर में सभी धर्मों की स्त्रियां बुर्का ओढ़कर निकलती हैं। दूकानों पर सामान खरीदती हैं तब भी उनके मुंह ढके रहते हैं। शिक्षा बहुत कम है।

शाम तक हम लोग शहर में चक्कर लगाते रहे। ७-८ बजे के लगभग लौटे और भोजन करके फिर निकल गये। होटल से कुछ दूर पर एक बड़ी-सी इमारत देखकर हम लोग रुक गये कि कोई उधर आये और उससे पूछें कि वह क्या है। इतने में दो पुलिस अधिकारी आये। उनसे पता लगाने के लिए हम लोग आगे बढ़े। हमारा कुछ कहना था कि उन्होंने धारा-प्रवाह पश्तो में जाने क्या-क्या कहना प्रारंभ कर दिया। भाषा से हम कुछ भी नहीं समझ पाये, लेकिन उनके हाव-भाव तथा संकेतों से हमें अनुमान हुआ कि वे जानना चाहते हैं कि हम कौन हैं और इतनी रात गये, वहां क्यों हैं। उन्हें समझाने के लिए हम अंग्रेजी बोलते थे, पर वे समझते ही नहीं थे। बड़ी परेशानी हुई। हम वहां से जाना चाहें, पर उनकी बातों का सिलसिला समाप्त हो तब न! काफी देर हो गई। इतने में वहां एक सज्जन आये, जो हिंदी जानते थे। हमें यों उलझा देखकर वह हमारे पास आ गये। मालूम हुआ कि वह दिल्ली-निवासी हैं और बरसों से वहां रहते हैं। उन्होंने दुभाषिये का काम किया। पता चला कि वह बड़ी इमारत शाही महल था और वहां यों हमारा घूमना निरापद नहीं था। उन सज्जन ने पुलिस-अधिकारियों को समझा-बुझाकर शांत किया, तब छुट्टी मिली। मालूम हुआ कि आज के जमाने में भी वहां के कानून-कायदे अपने ढंग के हैं। यद्यपि पहले की अपेक्षा उनमें काफी सुधार हुआ है, फिर भी सुधार की अब भी बड़ी गुंजाइश है।

रात को मजे में सोये। अगले दिन सबेरे जल्दी उठकर एक टैक्सी ली और पगमान देखने चले। साथ में क्लेरा

मर्सर नाम की एक केनेडियन महिला भी हो गईं। पगमान काबुल से १५-१६ किलोमीटर (लगभग ११ मील) पर है और बड़ा ही सुंदर स्थान है। जिस प्रकार काश्मीर में गुलमर्ग है, उसी तरह काबुल में पगमान। पर जो बात गुलमर्ग में है, वह इसमें कहां! फिर भी पिकनिक की दृष्टि से बड़ा अच्छा स्थान है। वहां अमानुल्ला की सुंदर कोठी बनी है और उसके पास ही उसके भाई की। और भी मकान हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से आदर्श स्थान माना जाता है। पानी बड़ा ही स्वास्थ्यवर्द्धक है। इसलिए पैसेवालों ने वहां अपनी-अपनी कोठियां बना ली हैं। सबसे ऊंची जगह पर जो कोठी बनी है, वह बोलोबो कहलाती है। चिनार और चर्मास के पेड़ों की यहां बहुतायत है और उन्हींके कारण उस स्थान की शोभा है।

लौटते में हम 'तपी पगमान' गये, जहां बादशाह का बड़ा शानदार बगीचा है। उसमें फव्वारे चल रहे थे और भांति-भांति के फूल खिले थे। अफगानिस्तान के वर्तमान बादशाह जहीरशाह वहां आये हुए थे। बगीचा बड़ा सुरुचिपूर्ण था और साफ-सुथरा। वह विशेष रूप से पसंद आया।

लौटकर टैक्सीवाले का हिसाब किया तो उसने २॥ अफगानी फी मील के हिसाब से मांगा, जबकि तय २ अफगानी के हिसाब से हुआ था। खैर, उसे २॥ के हिसाब से ही दिया। लेकिन इतने से ही उसे संतोष न हुआ। बोला—"वहां रुकने का एक घंटे का और लाओ। यह पहले ही तय हो गया था कि वह रुकने का कुछ नहीं लेगा। बड़ी झुंझलाहट हुई। मैंने देने से साफ इन्कार कर दिया। इस पर उसने किया क्या कि सारे अफगानी धरती पर फेंक दिये और कमरे से बाहर जाने लगा। यह सब हुआ एरियाना के दफ्तर में। वहां के बाबू ने ही यह टैक्सी तय की थी। लेकिन ड्राइवर उसकी बात भी नहीं सुन रहा था। वह चाहता था कि अधिक-से-अधिक पैसे जेब में से निकलवाले। बंगाली भाई और केनेडियन महिला वहां से पहले ही चले गये थे। मैं भी चल दिया। ड्राइवर ने देखा कि अब अधिक मिलने वाला नहीं है तो वह अफगानी बटोर कर ले गया।

दोपहर बाद दारुल अमान गये। वहां अमानुल्ला की बहुत बड़ी कोठी है। बड़ी शानदार। अब उसमें किसी मंत्रालय का कार्यालय है। उसीके निकट संग्रहालय है। उसमें विभिन्न वस्तुओं का विशाल संग्राहलय है। भगवान बुद्ध की मूर्त्तियां, काठ और संगमरमर के द्वार, पूर्वी अफगानिस्तान के हाडा नामक स्थान पर प्राप्त स्तूप-माडल, पोशाकें, चित्रकारी, बोखारा के पर्दे, शोतोरक की मूर्त्तियां, आदि विशेष रूप से पसंद आये। सबसे बड़ी असुविधा यह थी कि सारी वस्तुओं के परिचय या तो पश्तो में लिखे थे, या फ्रेंच में। अंग्रेजी में बहुत कम थे। इसलिए आवश्यक था कि साथ में कोई मार्गदर्शक हो। मार्गदर्शक का काम जो व्यक्ति कर रहे थे, वे नये-नये आये थे और सारी चीजों से परिचित नहीं थे। फिर भी कुल मिलाकर संग्रहालय बड़ा अच्छा लगा।

चार मील पर बाबुर में बाबर की कब्र है। बड़ा सुंदर स्थान है, लेकिन समयाभाव के कारण हम लोग वहां नहीं जा सके।

शहर में तथा निकट के स्थानों में घूमते हुए मेरा ध्यान बार-बार अफगानिस्तान के प्राचीन इतिहास पर जाता था। भारत के साथ उसका बड़ा निकट का संबंध रहा है, आज भी है। ऐतिहासिक तथा भौगोलिक, दोनों दृष्टियों से इसका बड़ा महत्व है। एशिया का वह केंद्र स्थान है। इसके साथ-साथ उत्तर में रूस है; पूर्व में एक छोटा-सा भूखंड उसे चीन के साथ जोड़ देता है; भारत की ओर उसकी सीमा पर पख्तूनिस्तान है और पश्चिम में फारस। मध्य एशिया से आर्य लोग इधर ही आये थे और खैबर तथा अन्य दर्रों के मार्ग से वे अन्य स्थानों में फैले थे। कितनी उथल-पुथल हुई है इस अफगानिस्तान में। बहुत से राजवंश उठे और गिरे, बादशाह आये और गये और इस भू-खंड का भाग्य जाने किस-किस के हाथों में खेलता रहा। अब उसे विकास का अवसर मिला है। पर वह विकास तभी स्थायी होगा और उसका बल बनेगा, जबकि वहां के लोगों में चेतना उत्पन्न हो, वह चेतना, जो कि किसी भी देश की नींव को मजबूत बनाती है। अफगान लोग शरीर से बड़े ही बलिष्ठ हैं और उनकी बहादुरी अद्‌भुत है। यदि उनके जीवन का सर्वांगीण विकास हो सके तो उनके उस देश का, जिसे किसी समय में 'एरियाना'—आर्यों का दश—की संज्ञा से विभूषित किया गया था, भाग्य बदलते देर नहीं लगेगी। और बहुत सी बातें मन में उठती रहीं।

कल सबेरे काबुल से विदा हो जाना है।

(क्रमशः)

कसौटी पर

'सर्व-सेवा-संघ'-प्रकाशन, काशी की दो पुस्तकें

१. एक बनो और नेक बनो (विनोबा), पृष्ठ ३२, मूल्य दो आना।

२. गांव के लिए आरोग्य-योजना (विनोबा) पृष्ठ १६, मूल्य दो आना।

'अ. भा. सर्व-सेवा-संघ' के प्रकाशन-विभाग से अनेक उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन समय-समय पर होता रहता है। इन पुस्तकों द्वारा 'सर्वोदय', भूदान आदि की विचारधारा के प्रसार में अच्छी सहायता मिल रही है। पहली पुस्तक में, जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है, दो बातों पर जोर दिया गया है, (१) मेल-जोल अर्थात् संगठित रूप से रहो, (२) जीवन को शुद्ध बनाओ। यही दो बातें बड़े सुंदर तथा मौलिक ढंग से विनोबाजी ने समझाई हैं।

दूसरी पुस्तक में बताया है कि स्वस्थ रहने के लिए हमें किन-किन चीजों का ध्यान रखना चाहिए। भोजन, सफाई, व्यसनों का त्याग, प्राकृतिक चिकित्सा आदि को महत्व दिया गया है। वैसे इस पुस्तक की सामग्री गांवों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत की गई है, लेकिन शहर के लिए भी इसकी उपादेयता कम नहीं है।

दोनों पुस्तकें सर्व-साधारण के लिए बड़े काम की हैं।

चोर-डाकुओं के सच्चे आचार्य--रविशंकर महाराज--मूल लेखक : श्री बबलभाई मेहता, अनुवादक-निगमानंद परमहंस, प्रकाशक--बालगोविंद कुबेरदास की कंपनी, अहमदाबाद; पृष्ठ : ४३२; मूल्य : चार रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक में गुजरात के महान् साधक रविशंकर महाराज की विस्तृत जीवनी दी गई है। रविशंकर महाराज का जीवन प्रारंभ से ही सेवा-परायण रहा है। सामाजिक, राजनैतिक, विधायक, जिस किसी क्षेत्र में उनकी सेवाओं की आवश्यकता हुई है, वह सदा आगे रहे हैं। लेकिन नाम से कोसों दूर रहे हैं। पुस्तक का नाम वैसे आकर्षक है, किंतु पूरी पुस्तक का बोध उससे नहीं होता। यह ठीक है कि उन्होंने अनेक चोर-डाकुओं का हृदय-परिवर्त्तन किया, लेकिन उनका सेवा-क्षेत्र इतने तक ही सीमित नहीं रहा। उनके जीवन का बड़ा ही सुंदर चित्रण मूल लेखक ने बड़े ही सुंदर ढंग से इन शब्दों में किया है—"महाराज का जीवन बहता हुआ झरना है, जो नित्य और नियमित बहता रहता है। ऐसे कांच-से स्वच्छ एवं बहते झरने में जीव-जंतु तो कहां से पड़ें? इस कलकल बहते हुए और कार्य में निरत रहते हुए जीवन से इन्हें स्वयं तो संतोष और आनंद है ही, पर दूसरे अनेकों को ये अपने जीवन-झरने में से निर्मल एवं शीतल जल पिलाते हैं।"

इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह बड़ी सजीव शैली में लिखी गई है। इसमें भाषा का आडंबर नहीं है और न कला की छटा है। लेकिन फिर भी वह इतनी रोचक है कि इसे पढ़ने में उपन्यासका-सा रस आता है।

इस पुस्तक को जो भी पढ़ेगा, उसे अपने जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाने की प्रेरणा मिलेगी। सेवा, श्रम, त्याग, निर्भीकता तथा सहिष्णुता के एक से एक बढ़कर दृष्टांत इस पुस्तक में मिलते हैं।

हमारी अपेक्षा है कि इस पुस्तक को प्रत्येक सुशिक्षित तथा सुसंस्कृत पाठक को पढ़ना चाहिए। मूल पुस्तक गुजराती में है; अनुवाद भी अच्छा हुआ है, पर उसे थोड़ा और परिमार्जित करने की आवश्यकता कहीं-कहींपर अनुभव होती है।

हिंदी का भावी रूप--प्रकाशक : पब्लिकेशंस डिवीजन, सूचना एवं प्रसार मंत्रालय नई दिल्ली पृष्ठ ३६, मूल्य छः आने।

इस पुस्तक में हिंदी के भावी स्वरूप को लेकर आकाश-

वाणी द्वारा प्रसारित छः वार्त्ताओं का संग्रह है। वार्त्ताकार हैं—डा. धीरेंद्र वर्मा, डा. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, श्री एम. सत्यनारायण, श्री सुमित्रानंदन पंत, काका सा. कालेलकर, श्री ख्वाजा गुलामुस्सैयदैन। इन सभी वार्त्ताकारों से हिंदी के पाठक भलीभांति परिचित हैं और इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रायः सभीने बड़े परिश्रम से अपनी-अपनी वार्त्ताएं तैयार की हैं।

हिंदी के संबंध में सबसे मुख्य प्रश्न यह है कि उसका भावी स्वरूप क्या हो ? इस विषय में छहो सज्जनों ने अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं। कुल मिलाकर सबने अनेक विचारणीय बातें उपस्थित की हैं। उनसे सोचने को पर्याप्त सामग्री मिल जाती है।

पुनर्मिलन—लेखिका : विद्यावती 'कोकिल'; प्रकाशक : ज्योति प्रकाशन, २, लाउदर रोड, इलाहाबाद; पृष्ठ : १०४; मूल्य १।।।).

विद्यावती 'कोकिल' के नाम से हिंदी के पाठक भलीभांति परिचित हैं। वह कवियित्री हैं; पर उन जैसा कंठ हिंदी में बहुत कम कलाकारों को सुलभ है। वह जिस समय अपनी रचनाओं का सस्वर पाठ करती हैं, श्रोता मंत्र मुग्ध रह जाते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उनकी ४२ कविताओं का संग्रह है। अपने जीवन के ४२ वसंत उन्होंने देखे हैं और प्रत्येक वर्ष के द्वार पर खड़े होकर उनका मन एक-एक गीत गाकर घर के भीतर सोनेवालों को जगाना चाहता है कि इस नव-जन्म पर सब आकर एक स्वर से उसे बधाई दें, और नई शक्ति प्रदान करें। वैसे इस भूतल पर प्रत्येक नया वर्ष मानव-जीवन को नई प्रेरणा देता है, लेकिन यदि वह किसीके हृदय में आनंद के उस स्रोत को प्रवाहित कर दे, जो कभी समाप्त ही न हो, तो कहना ही क्या ! ऐसी दिव्य देन जीवन में कम ही पाते हैं, पर जिन्हें मिल जाती है, उन्हें और कुछ पाने को शेष नहीं रहता।

विद्यावती का झुकाव अध्यात्म की ओर रहा है और उनके इन गीतों में उसीकी मधुर झांकी पाठकों को मिलती है। पुस्तक को उन्होंने बड़े भावपूर्ण ढंग से श्री अरविंद आश्रम, पांडिचेरी की प्राण—माताजी को समर्पित किया है। जीवन की विविध अवस्थाओं से गुजरती हुई, वह जिस सत्य पर पहुंची हैं, उसका उल्लेख उन्होंने अंतिम गीत में किया है—

कब किसका ईश्वर मिल जाये
मानव अंतर कलिका ही है
जो प्रतिपल खिलने को आतुर
किन चरणों को छू जाने कब
किसका अवगुण्ठन खुल जाये
कब किसका ईश्वर मिल जाये

आगे वह कहती हैं—

सबकी अपनी दिशा भिन्न है
किसे प्रकाश कहां मिल जाये
कौन ज्ञान का पूरब पच्छिम
जिसका सूर्य जहां उग आये
कब किसका ईश्वर मिल जाये।

रचनाओं की शैली पदों की है। लय की दृष्टि से बहुत से शब्द नये रूप में घड़ दिये गए हैं। भाषा के शुद्ध रूप के समर्थकों को, हो सकता है, यह कुछ अखरे; लेकिन इसमें संदेह नहीं कि उससे शैली में प्रांजलता आई है और गीत अधिक मधुर तथा हृदयग्राही बने हैं। कुल मिलाकर यह संग्रह पाठकों को बड़ी सात्विक सामग्री प्रदान करता है।

हमारे सहयोगी

दीपावली विशेषांक

इंदौर की **'नई दुनिया'** दैनिक पत्र है। सूचनाओं के साथ-साथ उसके अंकों में प्रायः विचारपूर्ण लेख भी रहते हैं। प्रस्तुत विशेषांक में अनेक कहानियां, कविताएं, लेख आदि हैं। यद्यपि दीपावली से उनका कोई संबंध नहीं है, तथापि इस भारतीय पर्व के निमित्त उन्होंने दीपों की जो पंक्ति सजाई है, वह बड़ी सुंदर है। अंक की कई रचनाएं बड़ी उपयोगी हैं।

इंदौर के दूसरे दैनिक पत्र **'जागरण'** ने अपने विशेषांक में अपने नाम को सार्थक करने का प्रयत्न किया है। नामी-अनामी लगभग तीन दर्जन लेखकों की रचनाओं से संपादक ने इस अंक को सजाया है। सर्वश्री रामवृक्ष बेनीपुरी, देवेंद्र सत्यार्थी, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर आदि की रचनाएँ सोचने के लिए पर्याप्त सामग्री प्रदान करती हैं।

बीकानेर का **'सेनानी'** साप्ताहिक पत्र है। थोड़े-से पृष्ठों में विविध विषयों की काफी सामग्री उसमें एकत्र कर

दी गई है। जयपुर के साप्ताहिक **'आयोजना'** ने ग्रामों को लक्ष्य में रखकर अच्छी ग्रामोपयोगी सामग्री अपने इस अंक में प्रस्तुत की है।

पटना के **'नवराष्ट्र'** और **'योगी'** के विशेषांकों में आकार की दृष्टि से 'योगी', किंतु सामग्री की दृष्टि से दोनों बधाई के पात्र हैं। दोनों विशेषांकों के पीछे संपादकों के परिश्रम की छाप है। **'योगी'** की रचनाओं में विविधता अधिक है।

जयपुर की मासिक पत्रिका **'लहर'** ने एक नई सूझ दिखाई है। समूचे अंक में कविताएं दी हैं। अंत में दो लेख। कई रचनाएं पुरानी हैं, लेकिन निस्संदेह यह अंक संग्रहणीय है। एक ही स्थान पर बहुत सी उत्कृष्ट रचनाएं पाठकों को पढ़ने को मिल जाती हैं।

भारतीय विद्या भवन, बंबई की **'भारती'** का विशेषांक है छोटा-सा, लेकिन सामग्री की दृष्टि से बड़ा ही पुष्ट है। छोटी-छोटी रचनाओं के द्वारा 'गागर में सागर' भरने का प्रयास किया गया है। उसकी अनेक रचनाएं सुपाठ्य तथा ज्ञानवर्द्धक हैं।

उदयपुर के **'नवजीवन'** ने दीपावली से संबंधित अनेक रचनाएं देकर उसके महत्व पर अच्छा प्रकाश डाला है।

अन्य प्रकाशन

बुरहानपुर की 'दि बुरहानपुर ताप्ती मिल लिमिटेड' ने बड़े ही आकर्षक ढंग से **'पुष्पांजलि'** का प्रकाशन किया है। उसके अंग्रेजी तथा हिंदी, दो विभाग हैं। उसके प्रारंभिक पृष्ठों में देश के अनेक राजनेताओं के संदेश दिये गए हैं। उन्हींके साथ बाएं पृष्ठ पर एक-एक प्राचीन चित्र। शेष पृष्ठ विभिन्न विषयों की रचनाओं तथा विज्ञापनों से सुसज्जित हैं। सामग्री की दृष्टि से संग्रह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। कारण कि संपादक को अनेक प्रामाणिक लेखकों का सहयोग प्राप्त हुआ है। सारा विशेषांक आर्ट पेपर पर छापा गया है। छपाई साफ और सुंदर है।

दिल्ली के मासिक **'मानवधर्म'** के विशेषांक प्रायः अच्छे निकलते हैं। उसका 'गृहस्थ अंक' छः भागों में विभाजित है —गृहस्थाश्रम, गृह-धर्म, गृहस्थकी समस्याएं और उनका सुलझाव, गृह-जीवन का सर्वतोन्मुख विकास, गृहस्थ के संस्कार तथा उत्सव और त्योहार। सभी विभागों में अनेक रचनाएं अपने-अपने विषयों पर अच्छा प्रकाश डालती हैं और गृहस्थ-धर्म के उस स्वरूप का स्मरण दिलाती हैं, जिसे भूलकर आज हमारा देश बड़ा त्रस्त हो रहा है।

पारडी (सूरत) के **'वैदिक धर्म'** ने श्रद्धेय सातवलेकरजी के नवत्यब्द-अभिनंदन के अवसर पर विशेषांक निकालकर अत्यंत अभिनंदनीय कार्य किया है। सातवलेकरजी की सेवाओं को हमारे देश में कौन नहीं जानता। भारतीय संस्कृति तथा वाङ्मय के उन्नायकों में उनका शीर्ष-स्थान है। इस अंक के कई लेख उनके जीवन तथा सेवाओं पर प्रकाश डालते हैं।

अशोक प्रकाशन-मंदिर, दिल्ली द्वारा प्रकाशित **'संपदा'** का 'समाजवाद अंक' बड़ा ही आकर्षक तथा उपयोगी सामग्री से परिपूर्ण है और अपने पुराने विशेषांकों की शृंखला में एक मूल्यवान कड़ी है। हमारे देश के सामने आज सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह था कि हमारे समाज की बुनियाद किस आधार पर रखी जाय। इस संबंध में निश्चय किया गया है कि वह आधार 'समाजवाद' हो सकता है। प्रस्तुत विशेषांक में समाजवाद तथा उसके स्वरूप पर विभिन्न लेखों द्वारा विस्तार से विचार किया गया है। निश्चय ही इन लेखों को पढ़कर 'समाजवाद' के विचार को समझने में सहायता मिलती है। इतनी उपयोगी सामग्री एकत्र करने के लिए संपादक को बधाई।

कानपुर से प्रकाशित होनेवाली पत्रिका **'आरसी'** का 'वार्षिकांक' उपयोगी तथा वैचित्र्यपूर्ण सामग्री की दृष्टि से अपनी विशेषता रखता है कई रचनाएं बड़ी सुपाठ्य हैं।

—सव्यसाची

क्या व कैसे ?

हमारी राय

शतंजीवी हों

१४ नवंबर तथा ३ दिसंबर भारतीय इतिहास की विशेष तिथियां हैं। १४ नवंबर को नेहरूजी का जन्म हुआ था, ३ दिसंबर को राजेंद्रबाबू का। वैसे तो प्रत्येक देश के छोटे-बड़े हरेक नागरिक का जीवन महत्वपूर्ण होता है; लेकिन विशेष मूल्य होता है उन व्यक्तियों का जो अपने लिए नहीं जीते और जिनके लिए समाज तथा राष्ट्र की सेवा सर्वोपरि होती है। नेहरूजी तथा राजेंद्र बाबू ऐसे ही व्यक्तियों में से हैं। दोनों का महत्व इसलिए नहीं कि वे प्रधानमंत्री अथवा राष्ट्रपति के जिम्मेदारी-भरे पद संभाले हुए हैं, बल्कि इसलिए है कि दोनों का जीवन सदा से सेवा के लिए समर्पित रहा है और दोनों ही राष्ट्र के कल्याण के लिए आजीवन प्रयत्नशील रहे हैं, आज भी हैं, उनकी नीति तथा कार्य-प्रणाली से किसीका मतभेद हो सकता है और होता है, लेकिन जहांतक दोनों की सेवा-परायणता तथा देश-प्रेम का संबंध है, उनका जीवन समूचे राष्ट्र के लिए अगाध श्रद्धा की वस्तु है।

आज सारा विश्व बड़ी विषम परिस्थितियों से गुजर रहा है। चारों ओर ऐसे स्वार्थ और शक्तियां काम कर रही हैं, जिनका अंतिम परिणाम संगठन नहीं, विघटन ही हो सकता है और जिनसे शांति तो दूर शांति की छाया भी प्राप्त नहीं की जा सकती।

ऐसे समय में उन व्यक्तियों का हमारे बीच विद्यमान होना एक महान सौभाग्य है, जो मानवता को सुखी बनाने की उदात्त भावना से ओतप्रोत हों और जो हृदय से उसके लिए प्रयत्न भी करते हों।

नेहरूजी ने अपने 'सह-अस्तित्व', 'पंचशील' तथा शांति के प्रयत्नों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ऊंचास्थान पा लिया है; राजेंद्रबाबू ने अपने जीवन की सादगी तथा गांधीजी के प्रति अनन्य निष्ठा के द्वारा देश के सामने एक आदर्श उपस्थित किया है।

ईश्वर से प्रार्थना है कि ये दोनों ही महापुरुष शतंजीवी हों, स्वस्थ रहें और उनके द्वारा सेवा का मार्ग उत्तरोत्तर प्रशस्त होता रहे।

विश्वधर्म-सम्मेलन के प्रस्ताव

'विश्व-धर्म-सम्मेलन' का दो दिन का अधिवेशन गत मास दिल्ली में सम्पन्न हो गया। उसका उद्घाटन राष्ट्रपति डा. राजेंद्रप्रसाद ने और सभापतित्व उपराष्ट्रपति डा. राधाकृष्णन ने किया। नेहरूजी तथा मौलाना आजाद की उपस्थिति का लाभ भी सम्मेलन को मिल गया। अमरीका, रूस, इंग्लैंड, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, हंगरी, जापान, जर्मनी, कम्बोडिया, श्रीलंका, बर्मा, कोरिया, पाकिस्तान, नेपाल, ईरान, आदि ३५ देशों के प्रतिनिधियों ने उसमें भाग लिया।

सम्मेलन ने दो प्रस्ताव पास किये। 'अहिंसा शोध-पीठ' की स्थापना से संबंधित पहला प्रस्ताव इस प्रकार है :

"समस्त धर्मों की मुख्य और प्राथमिक इच्छा शांति तथा मानवता की भलाई है—जिस मानवता में निम्न-से-निम्न वर्ग तथा विस्मृत-से-विस्मृत वर्ग भी सम्मिलित हैं। इसी कारण धर्मों में सदा युद्धों और संघर्षों का विरोध किया है और उन्हें हेय दृष्टि से देखा है, तथा सहिष्णुता एवं स्वार्थ-त्याग पर बल दिया है।

"परंतु अणु-शस्त्रों के अनुसंधान तथा समस्त युद्ध की प्रणाली के बदलने के पश्चात् धर्म और अधर्म युद्ध के सदृश कोई वस्तु नहीं रही है और किसी भी पक्ष का बच पाना भी संभव नहीं रहा है। इस प्रकार के युद्ध से आज मानवता का ही विनाश होगा।

"समस्त प्रमुख धर्मों के प्रतिनिधियों का यह सम्मेलन अनुभव करता है कि अब वह समय आ गया है जबकि समस्त धर्म आपसी मतभेदों तथा पृथकत्व की भावना को छोड़ एक दूसरे पर श्रद्धा रखें तथा सहयोग के साथ इस

प्रकार के मार्गों और साधनों का अनुसंधान करें, जिनसे मनुष्य मनुष्य, जाति जाति और राष्ट्र राष्ट्र में प्रेम एवं भ्रातृ-भाव उत्पन्न हो और इस प्रकार की संस्था का निर्माण हो सके, जो मानवीय गुणों का एवं युगों के महान आध्यात्मिक आंदोलनों के आंतरिक अध्ययन द्वारा सत्य, प्रेम और अहिंसा की शक्ति की खोज करें।"

प्रस्ताव की भाषा बड़ी अटपटी है। मूल प्रस्ताव हिंदी में ही प्रस्तुत किया गया था, इसलिए आवश्यक था कि उसकी भाषा बड़ी स्पष्ट और बोधगम्य होती। जो हो, उसका भाव स्पष्ट है। इसमें एक ऐसी संस्था की स्थापना पर बल दिया गया है जो वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय धरातल पर भ्रातृ-भाव का उदय करके उसे व्यापक रूप से प्रसारित करने के लिए अनुकूल वायुमंडल पैदा करे। जहांतक संस्था की स्थापना तथा उसके उद्देश्यों का संबंध है, उसकी उपयोगिता के बारे में दो मत नहीं हो सकते। मुख्य प्रश्न यह है कि उद्देश्य की पूर्ति किसके द्वारा और किस प्रकार होगी। हमारी राय में यह कार्य उस व्यक्ति के द्वारा हो सकता है, जिसके चारों ओर किसी संकुचित धर्म अथवा विश्वास की परिधि न हो और जिसका हृदय इतना उन्मुक्त तथा स्पंदनशील हो कि वह प्रत्येक धर्म तथा विश्वास के प्रति आदर-भाव रख सके। इतना ही नहीं, बल्कि वह अपने विरोधी के प्रति भी प्रेम का व्यवहार कर सके। संक्षेप में वह व्यक्ति सबका होना चाहिए। दूसरे, उस व्यक्ति में अपनी निज की महत्त्वाकांक्षा नहीं होनी चाहिए। महत्वाकांक्षा का होना बुरा नहीं है, लेकिन जब उसके मूल में वैयक्तिक स्वार्थ आ जाता है तब उसका परिणाम हितकर नहीं होता। आज के युग में ऐसा समर्पित जीवन मुश्किल से मिलता है; किंतु यह निश्चित है कि जबतक इतने विशाल हृदय तथा व्यापक दृष्टिवाला व्यक्ति नहीं मिलेगा तबतक संस्था का प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकेगा।

सम्मेलन ने एक अन्य प्रस्ताव द्वारा 'विश्व-धर्म-परिषद' स्थापित करने का निश्चय किया है। उसके उद्देश्य होंगे विश्व के धार्मिकों में बंधु-भाव उत्पन्न करना और शांति-भावना को बल देना।

पहले प्रस्ताव के संयोजन का दायित्व सर्वश्री काका सा. कालेलकर तथा जैनेंद्रकुमारजी को सौंपा गया है, दूसरे का मुनि सुशीलकुमारजी तथा संत तुकड़ोजी पर।

हम मानते हैं कि विश्व-धर्म-सम्मेलन का किया जाना एक बड़ा ही सामयिक कदम था और इतने देशों के लोगों का इकट्ठा हो जाना इस बात का द्योतक है कि शांति के लिए भारत ही नहीं, संसार के सभी देश लालायित हैं। लेकिन मुख्य प्रश्न यह है कि शांति स्थापित कैसे हो, भ्रातृ-भाव कैसे बढ़े? हमारी निश्चित राय है कि इस दिशा में वही देश विश्व का नेतृत्व करेगा, जो कि स्वयं अपने व्यवहार तथा जीवन से उदाहरण उपस्थित करेगा, बातों से नहीं।

खाद्यान्न की समस्या

आज हमारे देश में खाद्यान्न की समस्या को लेकर बड़ी चिंता व्यक्त की जा रही है। कुछ समय पहले जब यह प्रश्न कुछ स्थानों से उठा था तब केंद्रीय मंत्री श्री अजितप्रसाद जैन ने बड़े विश्वास के साथ कहा था कि अन्न की स्थिति संतोषजनक है और किसी को हैरान होने की आवश्यकता नहीं है। आज वही अजितप्रसादजी स्वयं बहुत परेशान दिखाई देते हैं। उनका कहना है कि कई प्रदेशों में अनावृष्टि के कारण फसल खराब हो गई और अब यदि शीघ्र ही कोई मार्ग न निकाला तो आगे चलकर कुछ ही महीनों में उनका अन्न का सुरक्षित भंडार खत्म हो जायगा। उनकी बात में कितनी सचाई है, यह तो उनके वे अधिकारी लोग जानें, जो आंकड़े तैयार करते हैं, लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि इस प्रश्न को लेकर आज लोगों में बड़ा ही भय उत्पन्न हो गया है, जिसका परिणाम यह होगा कि भविष्य की सुरक्षा की दृष्टि से लोग अपने-अपने घरों में यथासंभव अनाज का संग्रह करने के लिए प्रयत्नशील होंगे और व्यापारी लोग अनाज इकट्ठा करके उससे अनुचित लाभ उठावेंगे।

अन्न की यह समस्या तबतक होगी जबतक कि हम अपने पैरों पर खड़े नहीं होंगे। मानव की परमुखापेक्षिता को प्रकृति भी कब सहन कर पाती है। वह उन्हींकी मदद करती है, जो अपनी मदद आप करते हैं। हमें स्मरण है कि जब गांधीजी जीवित थे और अन्न की कमी की बात उनके सामने आई थी तो उन्होंने स्पष्ट कहा था कि

देश के बाहर से अन्न का एक दाना भी मत मंगाओ। सप्ताह में एक दिन उपवास करो, खाने में सागभाजी अधिक खाओ, गमलों में साग-तरकारी पैदा करो और इस प्रकार अन्न की कमी की पूर्ति करो। उनके कहने का आशय यही था कि अपने पैरों पर खड़े हो। उनकी बात नहीं मानी गई, अन्न बाहर से आया। उसका नतीजा यह हुआ कि आज भी हममें वह बल नहीं आया कि ऐसी समस्या हमारे सामने आवे तो सारे देश के नागरिक वैयक्तिक स्वार्थ से ऊपर उठकर उसका हल निकाल सकें। हमारे देश में आज भी उस 'धर्म-बुद्धि' का अभाव है, जो किसी भी राष्ट्र की नींव को मजबूत बनाती है और उसे भारी-से-भारी संकट से भी सहज पार होने का बल प्रदान करती है।

अन्न की समस्या हो तो भी वह एक अस्थायी समस्या है। मुख्य बात स्वावलंबन की है, लोगों में राष्ट्रीय भावना पैदा करने की है।

सरकार को चाहिए कि वह अपने ही देश में अन्न के उत्पादन पर पूरा जोर दे। नेहरूजी ने कहा है कि अन्य देशों में सौ प्रतिशत से भी अधिक उत्पादन में उन्नति हुई है और कृषि-विशेषज्ञों का मानना है कि अपने यहां दोसौ प्रतिशत से भी अधिक कृषि के क्षेत्र में उत्पादन-वृद्धि की संभावना है। उस ओर संगठित प्रयत्न के साथ-साथ यह भी जरूरी है कि सामान्य नागरिकों के विश्वास और साहस को सुदृढ़ किया जाय।

इस संबंध में विनोबाजी ने ६ नवंबर को अपने जो उद्गार व्यक्त किये हैं, वे बड़े ही प्रेरणादायक हैं। उन्हें हम नीचे देते हैं :

"देश आज बहुत खतरे में है। वस्तुओं के भाव बढ़ रहे हैं। केंद्रीय सरकार के मंत्री श्री जैन ने कहा है : 'इस साल के अनाज से अगले साल के छह महीने मुश्किल से निभेंगे। फिर हमारा पुराना अनाज-संग्रह खाना पड़ेगा। अब जगह-जगह संग्रह भी नहीं हैं, इस वास्ते बाहर से अनाज मंगाना पड़ेगा।' तो इसके लिए भी करोड़ों रुपये लगेंगे। इसके अलावा और भी कई मुशकिलें हैं। पाकिस्तान शस्त्रास्त्र बढ़ा रहा है, तो हम सोचते हैं कि हमको भी वे बढ़ाने चाहिए। तो फिर हमारी योजना में से बहुत-सा पैसा उसमें चला जाता है। सभी कहते हैं कि अच्छे-से-अच्छे नवीनतम शस्त्रास्त्र भारत के पास होने चाहिए। इस तरह पाकिस्तान के कारण बहुत-सा खर्च मिलिटरी पर करना पड़ता है और इधर अकाल पड़ा है, इसलिए अनाज भी खरीदना है। हमारी समझ में नहीं आता कि इस हालत में आपकी योजना कैसे चलेगी? इसलिए वे भीख मांगने गये थे और वापस आ गये। कहते हैं, 'मैं भगवद्गीता का अनुयायी हूं। कर्त्तव्य करना अपना काम है। फल की अपेक्षा अपनेको नहीं करनी है। हमने कर्त्तव्य कर लिया। फल मिले या न मिले।" गीता का खयाल अभी हुआ। पहले हुआ होता तो ? अपने देश में फसल बढ़ानी चाहिए, यह क्या गीता नहीं चाहती ? पहले ही गीता का आधार लिया होता, तो भीख क्यों मांगनी पड़ती। यह है हिंदुस्तान का गुण। जिंदगी भर गीता नहीं पढ़ते, फिर मरते समय कहते हैं, गीता पढ़ो। अरे, वह जीवन का ग्रंथ है या मरने का ? जीवन में ही उसका उपयोग है। लेकिन हम मरते समय उसको पढ़ते हैं, इसलिए भीख मांगनी पड़ती है। पर इस तरह भीख मांगने से देश की प्रतिष्ठा गिरती है। अलावा इसके, लोग अनाथ होते हैं। गांधीजी ने कहा था कि अनाज कम है, तो सबको अन्नोत्पादन में हिस्सा लेना चाहिए। यह उनकी प्रतिभा ही थी। ऐसी भावना पैदा हो जाय कि देश के लिए हम कर रहे हैं, तो फिर बच्चा भी तरकारी पैदा करेगा, बीज बोयेगा और कहेगा, यह मैं देश के लिए करता हूं। ऐसी भावना होती है तब देश की ताकत बनती है। भीख मांगने से देश की ताकत नहीं बनती।"

—प०

'मंडल' की ओर से

नये प्रकाशन

इधर हाल ही में 'मंडल' से कई नवीन प्रकाशन हुए हैं। उनमें मुख्यतः 'समाज-विकास-माला' की पुस्तकें हैं। ७२ पुस्तकें पहले निकल चुकी थीं, आगे की इस प्रकार हैं।

७३. हमारा संविधान	७४. राजेंद्रबाबू का बचपन
७५. परमहंस की कहानियां	७६. सोने का कंगन
७७. झांसी की रानी	७८. हुआ सवेरा
७९. भर्तृहरि	८०. मन के जीते जीत
८१. मुरब्बी	८२. हरिद्वार
८३. सागर की सैर	८४. बीरबल की बातें
८५. आनबान के रखवारे	८६. महामना मालवीय
८७. देवताओं का प्यारा	८८. देश यों आगे बढ़ेगा

८९. हमारे मुस्लिम संत

जैसाकि नामों से स्पष्ट है, इन पुस्तकों में पर्याप्त वैचित्र्य रक्खा गया है और सामान्य पाठकों की दृष्टि से उपयोगी विषय चुने गये हैं।

नई माला

इधर एक नई माला प्रारंभ की गई है—'मनुष्य की कहानी'। इसकी तीन पुस्तकों से पाठकों को पृथिवी, जीव तथा मानव के विकास की पूर्ण जानकारी मिल जायगी। ये पुस्तकें होंगी—

१. पृथिवी बनी, २. जीव आया, ३. मनुष्य जन्मा। इनमें से पहली दो तैयार हो चुकी हैं। तीसरी प्रेस में है।

यात्रा-साहित्य

'यात्रा-साहित्य' में पाठकों को 'हिमालय की गोद में' 'लद्दाख-यात्रा की डायरी', 'जय अमरनाथ!' 'जापान की सैर' पहले ही प्राप्त हो चुकी थीं। अब केंद्रीय शिक्षा-विभाग के उपसलाहकार डा. परमेश्वर दीन शुक्ल की बड़ी ही रोचक तथा ज्ञान-वर्द्धक पुस्तक 'दुनिया की सैर: अस्सी दिन में' शीघ्र ही प्रकाशित हो रही है।

तुलसी रामकथा-माला

इस माला में पांच पुस्तकें पहले ही निकल चुकी हैं छठी 'पंचवटी में' शीघ्र ही प्रकाशित हो रही है। आगे की और कई पुस्तकें प्रेस में हैं।

सर्वोदय की बुनियाद

श्री हरिभाऊजी की नवीन पुस्तक 'सर्वोदय की बुनियाद: शांति-स्थापना' विभिन्न समस्याओं का अहिंसक रूप से मुकाबिला करने की प्रेरणा देती है। उसमें शांति-सेना की स्थापना के संबंध में विनोबाजी के भी कई प्रवचन हैं।

स्मरणांजलि

स्व. जमनालाल बजाज-विषयक संस्मरणों की यह पुस्तक बड़ी ही भावपूर्ण सामग्री प्रदान करती है और सेवा के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है।

—मंत्री

ये पुस्तकें

अवश्य पढ़िये

१. भारत-सावित्री—(वासुदेवशरण अग्रवाल) मूल्य ३॥)

महाभारत रत्नों की खान है। जैसे समुद्र में जो जितना गहरा जाता है, उसे उतने ही मूल्यवान रत्न मिलते हैं, वही बात महाभारत के साथ है। पर गहरे जाने की शक्ति सबमें नहीं होती। यह पुस्तक वह शक्ति प्रदान करती है। महाभारत की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चीजों का विद्वान लेखक ने ऐसा विश्लेषण किया है कि पढ़कर आंखें खुल जाती हैं। यह पहला भाग है, दो भाग और प्रकाशित होंगे। अपनी प्रति अभी से सुरक्षित रख लीजिये, अन्यथा बाद में निराश होने की संभावना सामने आ सकती है।

२. अठारह सौ सत्तावन

(श्रीनिवास बालाजी हर्डीकर) मूल्य २॥)

अपने देश के नव-निर्माण में हम तभी सहायता दे सकते हैं, जब हम उससे परिचित हों। इस पुस्तक में भारतीय इतिहास का वह अध्याय है, जो त्याग और बलिदानों के हृदय-स्पर्शी एवं प्रेरणादायक दृष्टान्त उपस्थित करता है। पठनीय, संग्रहणीय। अनेक ऐसे चित्रों से सुसज्जित जो पहली बार प्रकाशित हुए हैं।

३. जापान की सैर :

(रामकृष्ण बजाज) मूल्य १॥)

यात्रा करने में सबको आनंद आता है, लेकिन अवकाश तथा साधनों के अभाव में कम ही लोग बाहर जा पाते हैं। विदेशों की यात्रा तो और भी दुर्लभ है। तब घर बैठे यात्रा कीजिये। यह सचित्र पुस्तक आपको सारे जापान की सैर करा देगी। प्रेरणादायक, ज्ञानवर्द्धक, मनोरंजक।

सस्ता साहित्य मंडल

नई दिल्ली

रजिस्टर्ड नं०
२२८

हमारा नवीनतम प्रकाशन

स्वास्थ्य-संबंधी साहित्य की मूल्यवान देन

स्वस्थ रहने का मार्ग बतानेवाली उपयोगी पुस्तक। बीमार पड़ जाने की दशा में रोग-मुक्त होने का उपाय भी इसमें मिलता है। अनुभवी लेखक द्वारा लिखी यह पुस्तक प्रत्येक घर में रहनी चाहिए।

बढ़िया छपाई : मूल्यवान सामग्री : मूल्य केवल बारह आने

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

मार्तण्ड उपाध्याय मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, दिल्ली में छपाकर प्रकाशित।